हिंदी-गद्य का विकास

अर्थात्

हिन्दी-गद्य का आदि से आज तक का विवेचनात्मक इतिहास

लेखक

मोहनलाल 'जिज्ञासु', एम. ए., एल. एल. बी.

प्रोफ़ैसर—हिंदी-विभाग, जसवंत कालेज, जोधपुर।

प्रकाशक

मेहरचंद्र लक्ष्मणदास

गली नन्हेख़ाँ, कूचा चेलाँ,

दरियागंज, दिल्ली।

वि. सं. २००६ सन् १९५० मूल्य ६)

प्रकाशक
लाला ख़ज़ानचीराम जैन, मैनेजिंग प्रोप्राइटर, मेहरचंद्र लक्ष्मणदास, संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता, गली नन्हेख़ाँ, कूचा चेलाँ, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली।

मुद्रक
लाला ख़ज़ानचीराम जैन, मनोहर इलैक्ट्रिक प्रेस, गली नन्हेख़ाँ, कूचा चेलाँ, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली।

निवेदन

हिन्दी-गद्य के विकास को पूर्ण रूप से हृदयंगम करने के लिए हमारे सामने जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह यह है कि साहित्यिक उन्नति और क्रमिक विकास की दृष्टि से हिन्दी-गद्य का विभाजन किस रूप में किया जाय ? प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक गद्य के कला-रूप का विकास जिस प्रकार होता गया, उसके बीच सीधी-सीधी रेखाएँ खींचना एक दुस्तर कार्य है, लेकिन फिर भी स्थूल रूप से पाठकों की सुविधा के लिए यह कठिनाई अवश्य दूर की जा सकती है। ऐसा करते समय गद्य-साहित्य को पृथक् पृथक् अध्यायों में विभाजित कर उसके अन्तर्गत काल-विशेष की विभिन्न प्रवृत्तियों का निरूपण कर दिया गया है। वैसे तो हिन्दी-गद्य का रूप सन् १५७२ ई० अर्थात् गंग कवि की रचना 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' तक राजस्थानी और व्रजभाषा (देशी भाषाओं) में ही देखने को मिलता है, लेकिन देशी भाषाओं के पूर्व संस्कृत-गद्य से भी हमारा हिन्दी-गद्य प्रभावित हुआ है, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। इसलिए पुस्तक के आरम्भ में संस्कृत-गद्य की भी संक्षिप्त समीक्षा कर दी गई है। इस प्रकार हम साहित्य-मंदिर में वैदिक संस्कृत के बाद लौकिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत के बाद प्राकृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश, अपभ्रंश के बाद देशी भाषाओं (राजस्थानी और व्रजभाषा) के गद्य और तदनन्तर हिन्दी-गद्य के दर्शन बराबर कर सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक को मौलिक खोज का दावा नहीं। हिन्दी के विद्वान् खोजियों ने समय-समय पर जो अन्वेषण-कार्य किया है, उसे एकत्रित कर हिन्दी-विद्यार्थियों तथा पाठकों की सुविधा

के लिए क्रमबद्ध रूप में रख दिया है। हाँ, कहीं-कहीं उसने निजी प्रयत्न भी किया है। यह सब कुछ उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लाभ की दृष्टि से किया गया है। पुस्तक प्रस्तुत करने में जिन जिन ग्रंथों से सहायता मिली है, उनके नाम पीछे दिये गये हैं। लेखक उन सबके प्रति नम्रतापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता है। यदि विद्यार्थी इस से लाभ उठा सके, तो लेखक अपना श्रम सफल समझेगा। अस्तु।

जिज्ञासु

सहायक ग्रंथ

(१) संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा (बलदेव उपाध्याय)

(२) हिन्दुस्तानी (हिन्दुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका, जुलाई, १९३९)।

(३) हिन्दी-साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल)

(४) आधुनिक हिन्दी साहित्य १८५०—१९०० (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)।

(५) आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास १९००—१९२५ (डा० श्री कृष्णलाल)।

(६) हिन्दी-पुस्तक-साहित्य १८६७—१९४२ (डा० माताप्रसाद गुप्त)

(७) राष्ट्रभाषा की समस्या और हिन्दी-आन्दोलन (रविशंकर शुक्ल)

(८) विविध पत्र-पत्रिकाएँ।

विषय-सूची

: १ :

पूर्व-परिचय : संस्कृत-गद्य

हिन्दी-गद्य के प्राचीनतम स्वरूप को हृदयङ्गम करने के लिए हमें संस्कृत-गद्य का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में संस्कृत भाषा ही प्राचीनतम है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी भारतीय-शाखा में संस्कृत ही सब से प्राचीन मानी गई है। आजकल की समस्त प्रांतीय भाषायें, द्राविडी के अतिरिक्त संस्कृत से ही निकली हैं। संस्कृत-गद्य के अध्ययन से यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्य में वैदिक संस्कृत के बाद लौकिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत के बाद प्राकृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश और अपभ्रंश के बाद देशी भाषाओं में गद्य लिखने की परम्परा बराबर दिखाई देती रही है। अतएव देशी भाषाओं पर आने के पूर्व यदि हम भारत की आर्य-भाषाओं में लिखे जाने वाले गद्य से अपने आपको परिचित कर लें, तो गद्य-साहित्य के विकास को क्रमबद्ध रूप से समझने में एक विशेष सुविधा हो सकती है।

संस्कृत के आदिकाल में दो भाषाओं द्वारा गद्य लिखा जाने लगा—वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत। वैदिक संस्कृत के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसके समानान्तर साधारण लोगों में प्राकृत का भी प्रचलन था। वैदिक संस्कृत शिष्ट-समाज के व्यवहार की भाषा थी और साहित्य-सृजन इसी के द्वारा किया जाता था लेकिन जन-साधारण में प्राकृत का प्रयोग होता था। वैदिक संस्कृत में सर्वप्रथम संहिताओं की रचना हुई—ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता। इनके अनुसार ईश्वर तो आदि गुरु है और संस्कृत आदि भाषा। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ऋषियों को ईश्वरीय ज्ञान वेद के रूप में प्रदान करता है। इन आदिम ऋषियों को

उस वैदिक संस्कृत का स्वतः ज्ञान होता है और ये परम्परा से अपने बाद वालों को यह भाषा सिखाते चले आ रहे हैं। इन संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया था। ऋग्वेद के मंत्रों की रचना ६ हजार से लेकर ४ हजार ई० पू० में और अन्य वेदों की रचना ४ हजार वर्ष से लेकर ३ हजार वर्ष ई० पू० में हुई होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। प्राचीनतम गद्य के उदाहरण हमें वेदों से ही देखने को मिल जाते हैं। यजुर्वेद संहिता के गद्य-पद्य की दृष्टि से ही दो भेद किये गये हैं। जो अंश गद्य-पद्य मिश्रित है, वह कृष्ण-यजुर्वेद और जो अमिश्रित है वह शुक्ल-यजुर्वेद के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार यजुर्वेद संहिता में छंदोबद्ध मंत्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण पाया जाता है। इसमें गद्य को 'यजुः' कहा गया है। प्राचीनतम गद्य के उदाहरण इसमें हमें कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बद्ध तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता और मैत्रायणी संहिता में देखने को मिल सकते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद का छठा भाग भी गद्यात्मक है। गद्य का आविर्भाव अतः अत्यन्त प्राचीनकाल से होता चला आ रहा है, यह निर्विवाद सत्य है। अथर्व १९ कांड १ सूक्त का उदाहरण देखिये:—

'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥१॥ स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् ॥२॥ तदेकमभवत् तल्ललाममभवत्, तन्महदभवत् । तज्ज्येष्ठमभवत् तद् ब्रह्माभवत्, तत् तपोऽभवत् तत्सत्यमभवत् तेन प्राजायत ॥३॥'

संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मण ग्रंथों का समय आता है। शतपथ ब्राह्मण की रचना जो ब्राह्मण-साहित्य में सब से प्राचीन है, ढाई हजार वर्ष ई० पू० की मानी जाती है। प्रायः समस्त ब्राह्मणों की रचना गद्य में हुई है। इनमें यज्ञानुष्ठान का विस्तृत वर्णन है और साथ ही अनेक आख्यान, शब्दों की व्युत्पत्ति तथा प्राचीन राजाओं और ऋषियों की कथायें भी पाई जाती हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों

में गद्य की प्रचुरता है । सामवेद तो ऋग्वेद के मंत्रों से ही बना है, उसके ताण्ड्य ब्राह्मण में गद्य पाया जाता है। इसी प्रकार अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण की रचना भी गद्य में हुई है। कहने का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण ग्रंथों के समय गद्य की कोई कमी नहीं रही। उदाहरण के लिये ऐतरेय ब्राह्मण ३६।७ का एक गद्यांश देखिये:—

'एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण च्यवनो भार्गवः शार्यातं मानवमभिषिषेच तस्मादु शार्यातो मानवः समन्तं सर्वतः पृथिवी जयन्परीयायाश्वेन च मेध्येनेजे देवानां हापि सत्रे गृहपतिरास इति।'

ब्राह्मणों के अन्त में दार्शनिक अध्यायों के रूप में आरण्यक और उपनिषद् हैं। इनमें आध्यात्मिक बातों का गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया गया है। भारतवर्ष के प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदाय (बौद्धों और जैनों के अतिरिक्त) इन उपनिषदों में ही अपना आदि अस्तित्व स्वीकार करते हैं । वैसे तो उपनिषदों की संख्या अधिक है, लेकिन उनमें से अधिक प्रसिद्ध ये हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। इनकी रचना वैदिक-संस्कृत के अंत में हुई। आरण्यकों में गद्य की प्रचुरता है। ऋग्वेद के ऐतरेय और सांख्यायन आरण्यक इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उपनिषदों के कुछ अंश तो सर्वथा गद्य में हैं और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित हैं। छांदोग्य उपनिषद् में गद्य के अच्छे नमूने देखने को मिलते हैं। छान्दोग्य ७।२४ का एक उदाहरण देखिये—

'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति तद् भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।'

इसप्रकार वैदिक संस्कृत में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् का निर्माण हुआ। वैदिक संस्कृत की भाषा, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है बहुत सीदी-साधी है। इसमें छोटे-छोटे शब्दों का प्रयोग पाया जाता है 'ह' 'वै' 'उ' आदि अव्ययों का वाक्यालंकार के

रूप में प्रयोग किया गया है। इससे वाक्यों में एक प्रकार की सुन्दरता और रोचकता आ गई है। वाक्य-रचना सरल, संक्षिप्त और क्रिया-बहुल है। समास की विशेष कमी है और उदाहरणों का प्रयोग अधिक किया गया है। उपमा तथा रूपक का संनिवेश बहुत ही सुन्दर और सफलतापूर्वक हुआ है। इस समय के गद्य की यह प्रमुख विशेषता है।

कालान्तर में वैदिक संस्कृत का स्थान लौकिक संस्कृत ने ले लिया। लौकिक संस्कृत इस समय की बोलचाल की भाषा थी शिष्ट लोग इसका व्यवहार करने लगे और धीरे-धीरे साहित्यिक ग्रंथ भी इसी में लिखे जाने लगे, उसी प्रकार से जिस प्रकार कि आज शिष्ट जनों में खड़ी बोली का व्यवहार है तथा साहित्य में इसका प्रयोग किया जाता है। वैदिक संस्कृत में गद्य को जो गरिमा प्राप्त हुई और भाषा को जो स्वच्छंद रूप मिला, वह लौकिक संस्कृत के उदय होते ही नष्ट हो गया। लौकिक संस्कृत में गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन-शास्त्र तक ही सीमित है। पाणिनि संस्कृत-साहित्य के सब से श्रेष्ठ वैयाकरण समझे जाते हैं। उन्होंने नियम बनाकर भाषा का विशुद्ध तथा व्यवस्थित रूप हमारे सामने रखा। उनका व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण 'अष्टाध्यायी' के नाम से पुकारा जाता है। 'अष्टाध्यायी' के ऊपर कात्यायन ने 'वार्त्तिक' लिखा, जिसमें नये-नये शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई। विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने 'अष्टाध्यायी' के ऊपर 'भाष्य' लिखा जो 'महाभाष्य' कहलाता है। लौकिक संस्कृत के निर्माण का श्रेय इन्हीं तीन मुनियों को है। लेकिन आगे चलकर पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष और विज्ञान जैसे विषयों पर भी, जहां विवेचना करना नितान्त आवश्यक हो जाता है, गद्य नहीं लिखा जाता। यही दशा उस समय के शुद्ध साहित्यिक ग्रंथों की है, रामायण, महाभारत, पुराण आदि की रचना प्रधानतः पद्य में हुई है। इसलिये उनमें गद्य के उदाहरण खोजना व्यर्थ है। हाँ, महाभारत में कहीं-कहीं इसके नमूने अवश्य मिल जाते हैं। पद्य की इस

प्रभुता का कारण स्पष्ट है। काव्य-माध्यम की दृष्टि से गद्य का स्थान पद्य की अपेक्षा गौण माना गया है। पद्य-रचना गद्य की अपेक्षा शीघ्रता से याद की जा सकती है और उसका प्रभाव भी स्थायी होता है। संक्षेप में, वैदिक संस्कृत में गद्य का जो प्रसार, प्रसाद तथा सौन्दर्य दृष्टिगत होता है, वह लौकिक संस्कृत में नहीं।

लौकिक-संस्कृत काल में जो दर्शन सम्बन्धी ग्रंथ लिखे गये, उनमें जहाँ किसी सिद्धान्त का विवेचन हुआ है, वहां गद्य का प्रयोग कहीं-कहीं अवश्य हुआ है। इसे हम शास्त्रीय गद्य कह सकते हैं। इनमें अर्थ-प्रकटन की योग्यता सुचारु रूप से विद्यमान है। अर्थों की अभिव्यक्ति के चरम लक्ष्य होने के कारण इन ग्रंथकारों का ध्यान शब्द-सौंदर्य की ओर अपेक्षाकृत कम गया है। केवल चार ही ऐसे दार्शनिक गद्यकार हैं, जिनके गद्य को हम विशुद्ध साहित्यिक कह सकते हैं। प्रथम, महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य है, जिसकी शैली विलक्षण है। इसमें किसी दुरूह विषय का प्रतिपादन नहीं किया गया है। भाषा बोल-चाल की है और संलाप-शैली का अनुशीलन कर उसमें सजीवता लाने का प्रयत्न किया गया है। द्वितीय ग्रंथकार हैं शबर स्वामी जो प्रौढ़ मीमांसक हैं। इन्होंने कर्म मीमांसा के सूत्रों पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा है। भाषा सरल तथा रोचक है। तृतीय लेखक शंकराचार्य की भाषा-सुषमा तो एक निराले ढङ्ग की है। उनके वाक्य सारगर्भित, प्रौढ़ तथा प्राञ्जल हैं। माधुर्य और प्रसाद गद्य के प्रधान गुण हैं। उनके हाथों में पड़कर संस्कृत-गद्य को एक काव्यमय रूप मिला। चतुर्थ, जयन्त भट्ट ने न्याय शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ लिखे, जिनमें 'न्यायमंजरी' विशेष प्रसिद्ध है। इनका गद्य भी सुन्दर, सरस और प्राञ्जल है। न्याय सम्बंधी कठिन बातों का आपने सरलतापूर्वक एक रोचक शैली में वर्णन किया है। व्यंग उक्तियों का प्रयोग उनके गद्य की एक विशेषता है।

लौकिक संस्कृत का साहित्यिक गद्य कथानक तथा गद्य-काव्यों में भी पाया जाता है। इन गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग

चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। छोटी-छोटी कथाओं के अतिरिक्त गद्यकाव्य लेखकों में सुबंधु की 'वासवदत्ता' का सर्वप्रथम स्थान है। भाषा को खूब ही अलंकृत और चमत्कृत बनाने का प्रयत्न किया गया है। श्लेषों की तो बाढ़ सी आ गई है ! इससे आगे बाणभट्ट ने चण्डी शतक, पार्वती परिणय, मुकुट ताड़ितक, हर्षचरित और कादम्बरी नामक ग्रंथ लिखे। 'हर्षचरित' संस्कृत-साहित्य में एक प्राचीन आख्यायिका है। कादम्बरी तो समग्र संस्कृत के गद्य-साहित्य का सर्वस्व ही समझना चाहिए। भाषा-भाव, शब्द अर्थ आदि की दृष्टि से यह रचना सर्वोत्कृष्ट है। चित्रण की सजीवता तथा प्रभावशालिता उत्पन्न करने के लिये बाणभट्ट ने समासबहुला ओजोगुणमण्डिता शैली का अनुकरण किया है। कहीं-कहीं छोटे-छोटे वाक्यों का भी प्रयोग किया गया है, जिससे शैली सशक्त और प्रभावोत्पादक बन गई है। विषय के अनुसार भाषा का रूप भी बदलता चलता है। 'कादम्बरी' कथामुख का एक उदाहरण देखिये:—

'अनेन च समयेन परिणतो दिवसः। स्नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घ-विधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्त-चन्दनांगरागं रविरुदवहत्। ऊर्ध्वमुखैरर्कबिम्बविनिहितदृष्टिभिरुष्मपैस्त-पोधनैरिव परिपीयमानतेजः प्रसरो विरलातपो दिवसस्तनिमानमभजत।'

आगे चलकर दण्डी ने तीन रचनायें और लिखीं—काव्यादर्श, दश-कुमार चरित और अवन्ति सुन्दरी कथा, जिनमें 'दशकुमार चरित' विशेष प्रसिद्ध है। दण्डी की भाषा सरल, सरस और सुबोध है। वह न तो श्लेष के बोझ से दबी हुई है और न उस पर समाज का ही प्रहार हुआ है। उनका गद्य व्यवहारयोग्य, सजीव और चुस्त है।

इन गद्य-काव्यों के अतिरिक्त गद्य-पद्य मिश्रित 'चम्पू' भी लिखे गये। संस्कृत में गद्य-पद्यमयी वाणी के उदाहरण जातकमाला तथा हरिषेण की प्रशस्ति में देखने को प्राप्त होते हैं। इसमें बाण से करीब पाँच सौ वर्ष पूर्व के गद्य का परिचय मिलता है। हरिषेण की प्रयाग

प्रशस्ति का गद्य प्रौढ और अत्यन्त समासबहुल है। संस्कृत का प्रथम चम्पू 'नलचम्पू' है जो त्रिविक्रम भट्ट द्वारा लिखा गया। इसमें श्लेषों की भरमार है तथा अलंकारों का प्रयोग भी कम चमत्कारजनक नहीं है। इसके पश्चात् सोमदेव सूरि (१०वीं श०) का 'यशःतिलक', भोजराज (११वीं श०) का 'चम्पूरामायण', कविकर्णपूर (१६वीं श०) का 'आनन्द वृन्दावन', जीव स्वामी (१६वीं श०) का 'गोपाल चम्पू', शेष श्रीकृष्ण (१६वीं श०) का 'पारिजित-हरण', नीलकण्ठ दीक्षित (१६३७ ई०) का 'नीलकण्ठ चम्पू' और वेङ्कटाध्वरि (१६४० ई०) का 'विश्वगुणादर्श' नामक चम्पू लिखे गये।

नीति की दृष्टि से एक दूसरे प्रकार की गद्य-रचनाओं की सृष्टि हुई, जिसे हम कथा-साहित्य कहते हैं। पहले प्रकार के उपदेशात्मक कथा-साहित्य में पञ्चतंत्र को ले सकते हैं, क्योंकि वे भारत की नितांत प्राचीन कथायें हैं। इसमें पाँच तन्त्र अथवा भाग हैं—मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धि-विग्रह, लब्ध प्रणाश और अपरीक्षित कारक। प्रत्येक तंत्र में एक मुख्य कथा और उसकी पुष्टि के लिये गौण कथायें हैं। सदाचार और नीति का शिक्षण ही ग्रंथकार का चरम उद्देश्य है। भाषा मुहावरेदार और सरल है। वाक्य दुरूह नहीं है और भाव अच्छी तरह से समझ में आ सकते हैं। कथानक का वर्णन गद्य में और उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्य में हैं। नीति कथाओं में पञ्चतंत्र के बाद 'हितोपदेश' का नाम आता है। बंगाल नरेश धवलचंद्र के आश्रित नारायण पण्डित ने १४ वीं शताब्दी के आस-पास इसकी रचना की। मूल आधार पञ्चतंत्र ही है। भाषा सरल और सुबोध है। श्लोक उपदेशात्मक तथा कथायें शिक्षाप्रद हैं। हितोपदेश-मित्रलाभ १ का उदाहरण देखियेः—

'अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्। एको वृद्धव्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते—भो भोः पान्थाः। इदं सुवर्ण—कङ्कणं गृह्यताम्। ततो लोभाकृष्टेन केनचित्पान्थेनालोचितम् भाग्येनैतत्संभवति। किंत्वा-स्मिन्नात्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया।'

दूसरे प्रकार के मनोरंजक कथा-साहित्य के अन्तर्गत महाराज हाल के सभा कवि गुणाढ्य के द्वारा विक्रम की प्रथम शताब्दी में लिखी हुई 'बृहत्कथा' को लिया जा सकता है। मूल बृहत् कथा पैशाची भाषा में लिखी गई थी। पैशाची प्राकृत भाषाओं में अन्यतम है, जिसका स्वरूप-ज्ञान प्राकृत व्याकरणों में मिलता है। बृहत्कथा के नष्ट हो जाने से उसके उदाहरणों का पता नहीं चलता। इसीप्रकार मनोरंजन के उद्देश्य को लेकर कुछ कहानियों की अवतारणा हुई, जैसे वैतालपञ्चविंशति, शुक-सप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशिका आदि आदि। इसमें भी गद्य के उदाहरण देखने को मिलते हैं।

वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत-गद्य के इस संक्षिप्त अध्ययन के उपरान्त हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वैदिक-गद्य प्रधानतः एक धर्म-प्रधान गद्य है और लौकिक-गद्य लोकवृत्त-प्रधान। वैदिक संस्कृत में पद्य की अपेक्षा गद्य की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिये ही यह उक्ति प्रसिद्ध है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् गद्य ही कवियों की कसौटी है, लेकिन लौकिक-संस्कृत के समय में आकर पद्य की प्रभुता के बढ़ जाने से गद्य का शनैः शनैः ह्रास होने लग गया। गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन-शास्त्र तक ही सीमित रह गया, फिर यह गद्य इतना दुरूह, प्रसादहीन और दुर्बोध था कि हम इसे परिष्कृत गद्य की श्रेणी में नहीं रख सकते। इनसे उतर कर जब कथानक तथा गद्य-काव्यों पर दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि लेखकों ने गद्य का प्रसार एक निश्चित सीमा के भीतर ही किया। उस सीमा के बाहर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी। इसलिये लौकिक संस्कृत-गद्य कई बातों में हीन तथा न्यून है। भाषा की दृष्टि से पाणिनि तथा उनके अनुयायियों के प्रभुत्व के कारण एक कृत्रिम रूप हमारे सामने आता है वैदिक संस्कृत का गद्य भाषा-व्याकरण के नियमों से जकड़ा हुआ नहीं था, वह स्वतंत्र रूप से अपनी छटा दिखाता हुआ चलता है, लेकिन लौकिक संस्कृत का सीमित गद्य नियमों से बद्ध होकर अपना दुरूह रूप लेकर हमारे सामने आता है,

जिसके परिणाम-स्वरूप गद्य की प्रभुता को एक भारी धक्का लगा।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिक संस्कृत-काल के समय से ही प्राकृत जन-साधारण की भाषा थी। वैदिक भाषाओं के मध्यकाल में प्राकृत भाषाओं का पर्याप्त विकास हुआ। भरत मुनि ने कुल सात प्रकार की प्राकृतों का उल्लेख किया है—मागधी, आवन्ती, प्राची, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, बाल्हीका और दाक्षिणात्या। प्राकृत, शौर सेनी, मागधी और पैशाची प्राकृत-साहित्य की सर्वाधिक प्राचीन भाषायें हैं। जिस भाषा में इन सभी का मेल है, उसे 'पाली' कहते हैं। अतः इसके द्वारा अशोक के शिलालेखों, बौद्धों की हीनयान शाखा के ग्रंथ त्रिपिटक, महावंश जातकों आदि, प्राचीन जैन सूत्रों और प्राचीन नाटकों की रचना हुई है। इस प्रकार प्राचीन प्राकृत भी पाली हुई, जिसका कि प्रयोग साधारण लोग वैदिक संस्कृत-काल में करते थे। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों का प्रचार इसी भाषा के द्वारा किया है। जनता के कानों तक अपने उपदेशों को पहुँचाने के लिये संस्कृत का आश्रय छोड़कर पाली को अपनाने का मुख्य कारण यही था, कि जनता उनके उपदेशों को अच्छी तरह समझ सके। पाली में हमें अनेक गद्य-रचनायें देखने को मिलती हैं, जिनमें त्रिपिटिकों का पाली गद्य तो बड़ा ही सरल और सुबोध है। पाली-गद्य के दो रूप हैं। प्रथम, वह जो जातकों में पाया जाता है। यह सीधा-सादा है और कथा-वर्णन के लिए सर्वथा उपयुक्त है। द्वितीय, वह प्रौढ़ गद्य है, जो शास्त्रीय ग्रंथों में देखा जा सकता है। जातकों की भाषा में बोलचाल के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है। सरल गद्य और प्रौढ़ गद्य दोनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं:—

(१) 'अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो ससयोनियं निब्बत्तित्वा अरञ्जे वसति। तस्स पन अरञ्जस्स एक तो पब्बत-पादो, एक तो नदी एक तो पच्चन्तगामको। अपरे पिस्स तयो सहाया अहे सुं—मक्कटो, सिगालो उद्दोति।'

(२) 'बुद्धानं विज्जनं सोता वधानेन समन्मागतानं सन्दस्सेन्तो नवङ्ग-जिनसासन-रतनं, उपदिसन्तो धम्ममग्गं, धारेन्तो धम्मपज्जोतं, उस्सापेन्तो धम्मयूपं यजन्तो धम्मयागं, पग्गण्हन्तो धम्मद्धजं उस्सापेन्तो धम्मकेतुं, धमेन्तो धम्मसंखं, आहनन्तो धम्मभेरिं, नदन्तो सीहनादं, सागल नगरं अनुप्पतो होति।'

बौद्ध धर्म की प्रायः सभी पुस्तकें पाली में लिखी गई हैं। इस प्राचीन प्राकृत पाली के अनन्तर अन्य प्राकृतों का विकास हुआ। ऊपर जिन सर्वाधिक प्राचीन प्राकृतों के नाम दिये गये हैं, उनका मूल स्रोत पाली है। यथार्थ में स्थान भेद के कारण इनके विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। यही कारण है कि अशोक के शिला लेखों में भाषा के दो भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। पाली के अतिरिक्त शौरसेनी में भी बहुत-सा गद्य देखने को मिलता है। अशोक ने अपना मुख्य आधार इसी भाषा को माना था। मगध निवासियों की भाषा मागधी थी, जिस भाषा में शौरसेनी और मागधी दोनों की विशेषतायें देखने को मिलीं, उसका नाम अर्धमागधी पड़ गया। इनमें पद्य-रचना अधिक हुई, गद्य तो बहुत थोड़ा लिखा गया। शौरसेनी का गद्य दुरूह है, उसमें सरल गद्य की रचना नहीं हो सकी। आगे चलकर मध्य प्राकृत के अन्तर्गत अन्य प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ। प्राकृत के व्याकरण ग्रंथों के अनुसार ये प्राकृतें गढ़ी गई हैं, स्वतन्त्र रूप से इनका विकास नहीं हो पाया। संस्कृत भाषा का अत्यधिक प्रसार हो जाने से लोग-बाग उसका ठीक-ठीक उच्चारण करने में असमर्थ थे, इसलिये उसके विकृत रूप में ही उसका उच्चारण होता था। व्याकरण बन जाने के पश्चात् इनमें साहित्य का निर्माण हुआ। इनमें काव्य-ग्रंथ ही अधिक लिखे गये हैं। गद्य केवल नाम-मात्र का है और वह भी अस्पष्ट। 'प्राकृत-पैंगलम्' के भाष्यकार वंशीधर ने 'पिङ्गल-प्रकाश' लिखा है, जिसमें गद्य के उदाहरण देखने को अवश्य मिल जाते हैं, पर परिष्कृत न होने के कारण वह महत्त्व का नहीं है। देखिये:—

'प्रथमो भाषातरण्डः प्रथम आद्यः भाषा अवहट् भाषा यया भाषया अयं ग्रन्थो रचितः सा अवहट् भाषा तस्या इत्यर्थः ।'........

प्राकृतों के बाद उत्तर-काल में अपभ्रंशों का उद्भव हुआ। यथार्थ में उत्तर प्राकृत को ही अपभ्रंश भाषा समझना चाहिए। दण्डी के समय से ही लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया था। प्राकृतों की तरह स्थान-भेद की दृष्टि से इनके भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं। वैयाकरणों ने अपभ्रंश के दो भेद कर दिये हैं नागर और ब्राचड़। नागर का सम्बन्ध गुजराती, राजस्थानी, ब्रजभाषा से और ब्राचड़ का संबंध सिन्धी से है। अपभ्रंश भाषा सर्वप्रथम आभीरी भाषा के नाम से पुकारी जाती थी और भारत के पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत में बोली जाती थी। आभीरों के हाथ में राज्य-सत्ता आने पर इसमें काव्य लिखे जाने लगे। फिर धीरे-धीरे यह जन-साधारण की भाषा हो गई। आभीरों द्वारा प्रोत्साहन मिलने पर इसका प्रचार दूर-दूर तक होने लगा। फिर इसमें नीति-सम्बन्धी तथा धार्मिक भावनाओं को लेकर काव्य-रचनाएं लिखी जाने लगीं। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' में अपभ्रंश के विषय में लिखा है—'वस्तुतः अपभ्रंश किसी एक देश की भाषा नहीं, किन्तु मागधी आदि भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषाओं के बिगड़े हुए रूप वाली मिश्रित भाषा का नाम है। उसका प्रायः भारत के दूर-दूर के विद्वान् प्रयोग करते थे। राजपूताना, मालवा, काठियावाड़ और कच्छ आदि के चारणों तथा भाटों के डिङ्गल भाषा के गीत इसी भाषा के पिछले विकृत रूप हैं। पुरानी हिन्दी भी अधिकांश में इसी से निकली है। इस भाषा का साहित्य बहुत विस्तृत मिलता है, जो बहुधा कविता-बद्ध है।'

अपभ्रंश भाषा में जैसा कि ओझा जी ने लिखा है, अधिक साहित्य लिखा गया है, पर उसमें गद्य बहुत ही कम देखने को मिलता है। जो कुछ है वह पद्य ही पद्य है। हाँ, कुछ जैनों के ग्रंथ अवश्य मिलते हैं, जिनमें से केवल 'भविसयत्तकहा' अर्थात् भविष्यदत्त कथा अवश्य प्रका-

प्रकाश में लाये गये हैं, लेकिन खेद का विषय है कि अभी तक हमारे गद्य-साहित्य का बहुत बड़ा भाग अन्धकार में पड़ा हुआ है। गद्य में जो कुछ साहित्य लिखा गया, उसका प्रचार न होने के कारण वह समय और परिस्थितियों के साथ-साथ अन्धकार में विलीन होता चला गया। यदि खोज की जाय तो अब भी बहुत से अप्राप्य ग्रंथों का पता लगाया जा सकता है। राजस्थान, मध्यप्रान्त, मध्यभारत, बिहार, पञ्जाब आदि प्रांतों में जब तक इन प्राचीन ग्रंथों की खोज नहीं की जाती, तब तक हिन्दी-गद्य का सच्चा और सम्पूर्ण इतिहास लिखने में हम कदापि सफल नहीं हो सकते हैं। फिर भी जो कुछ हिन्दी का प्राचीन गद्य-साहित्य हमें सुलभ है, उससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह गद्य-साहित्य, जैसा कि हम समझ बैठे हैं, कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

अतः प्राचीनकाल में (सन् ६४५-१३४५ ई०) साहित्यिक क्रिया-शीलता का केन्द्र राजस्थान ही था। साहित्य में राजस्थानी भाषा की प्रधानता थी। यद्यपि अपभ्रंश पूर्ण रूप से अलग नहीं हो पाई थी तथापि अपभ्रंश मिश्रित साहित्यिक राजस्थानी ही बाद में जाकर डिंगल के नाम से पुकारी जाने लगी। डिंगल भाषा वीर-रस के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई, इसलिये राज-दरबारों में इसका खूब प्रचार हुआ। ब्रज-भाषा और गुजराती इसी राजस्थानी भाषा में मिली हुई थी, उनका इस समय कोई पृथक् स्वरूप लक्षित नहीं होता। इससे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इस समय राजस्थानी ही एक विस्तृत साहित्यिक भाषा थी। राजस्थानी-गद्य को सुविधापूर्वक समझने के लिए हम उसे चार भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

(१) डिंगल-गद्य—राजस्थान का प्राचीन गद्य अधिकांश में डिंगल भाषा में ही लिखा गया। यह डिंगल राजस्थान की बोल-चाल की भाषा राजस्थानी का साहित्यिक रूप है और पिंगल (ब्रजभाषा) की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। इसकी उत्पत्ति के विषय में जैसा कि कहा जा चुका है नागर एवं आवन्ती अपभ्रंश से हुई है। जब साहित्य में ब्रज-भाषा

का आविर्भाव हुआ और उसमें भी रचनायें होने लगीं तो राजस्थानी और व्रज में भेद बतलाने के उद्देश्य से व्रज को पिंगल और उसके नाम-साम्य पर राजस्थानी को डिंगल कहने लगे। अतः डिंगल से अभिप्राय उस समय की साहित्यिक राजस्थानी से है। वैसे तो डिंगल गद्य के लिखने वाले ब्राह्मण, राजपूत, भाट, मोतीसर, ढाढ़ी आदि कई जातियों के लोग हैं, लेकिन इसके विकास, पोषण और उन्नयन में चारण-भाटों का विशेष हाथ है। इसी लिये इस समय के डिंगल साहित्य को विद्वानों ने 'चारण साहित्य' के नाम से सम्बोधित किया है। ये लोग अपने नरेशों के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों से करते थे और अपनी वीरोल्लास भरी रचनाओं द्वारा योद्धाओं को उत्साहित करते रहते थे। अपनी रचनाओं में ओज-गुण लाने के लिए ये लोग संयुक्त अथवा द्वित्त अक्षरों से बने हुए शब्दों का प्रयोग करते थे। थोड़े समय बाद शब्दों की इसप्रकार की बनावट के लिए जान-बूझकर प्रयत्न किया गया। मुख्यतः ये रचनायें मौखिक ही रहती थीं। डिंगल-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होगा कि आगे चलकर धर्म, नीति, इतिहास, छंद-शास्त्र, शालिहोत्र, वृष्टि-विज्ञान आदि विषयों के ग्रंथ एक बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं, जिनकी रचना गद्य-पद्य दोनों में हुई है। इनके अतिरिक्त ख्यात-वचनिकाओं तथा वंशावलियों में भी गद्य के अंश देखे जा सकते हैं।

(२) पिंगल-गद्यः—शुद्ध व्रज-भाषा अथवा राजस्थानी मिश्रित व्रज-भाषा के लिए राजस्थान में पिंगल नाम लिया जाता है। राजस्थान में पिंगल ग्रंथों की भी एक बहुत बड़ी संख्या उपलब्ध होती है, जिनमें से अधिकांश पद्य में लिखे गये हैं। गद्य के उदाहरण बहुत कम देखने को मिलते हैं, अतः जब तक पिंगल साहित्य की समस्त सामग्री एकत्रित नहीं की जाती, तब तक गद्य के उदाहरण देखने को नहीं मिल सकते।

(३) लोक-प्रिय गद्य-रचनायें—डिंगल साहित्य ही के समान सजीव और सरस राजस्थान का लोक-साहित्य भी हजारों वर्षों से लोगों

के कंठों में निवास कर रहा है। यह कंठस्थ गद्य कहानियों के रूप में विद्यमान है, जो त्यौहारों, उत्सवों तथा धार्मिक अनुष्ठानों के समय प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार की रचनाओं का सृजन करने वाले ढाढ़ी, ढोली आदि निम्न वर्ग की जातियों के लोग होते थे। ये लोग घर-घर गाते-बजाते हुए जनता का मनोरंजन करते थे और इसी के द्वारा अपनी जीविका-उपार्जन का प्रश्न भी हल करते थे। इस प्रकार की रचनाओं में सामान्य बोल-चाल की ही भाषा देखने को मिलती है। वीर-रसात्मक रचनाओं की भांति ये लोक-प्रिय रचनायें भी मौखिक रूप में ही रहती थीं, इसलिये शनैः शनैः इनका रूप परिवर्तित होता चला गया। राजस्थानी में ऐसी कहानियों को 'वार्ता' कहते हैं। इनमें धार्मिक, नैतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक आदि अनेक विषयों का उद्‌घाटन चलती हुई भाषा में बड़ी रोचकता-पूर्वक किया गया है। आज भी ये कहानियाँ हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। इस मौखिक-गद्य का यद्यपि वर्तमान समय में हिंदी के शिष्ट-जनों के बीच कोई महत्त्व नहीं रह गया है, पर यदि इसे लिपिबद्ध कर दिया जाय तो आज के साहित्यिकों की भ्रांति दूर हो सकती है कि यह गद्य गँवारू और हीन नहीं वरन् बड़े काम का है और उसको समझना हिंदी-गद्य के इतिहास को समझना है। इन कहानियों (वार्ताओं) के अतिरिक्त दंतकथाओं, कहावतों तथा मुहावरों, पहेलियों आदि का प्रचार भी होता रहा।

(४) जैन-धर्म संबंधी गद्य—राजस्थान के साहित्य-सृजन में जैन धर्मावलम्बी जैन-साधुओं का भी बहुत योग रहा, यह हमें मानना पड़ेगा। उनके द्वारा लिखे हुए ग्रंथ आज भी अनेक उपाश्रयों तथा पुस्तकालयों में पड़े हैं। ये सब ग्रंथ हमें लिखित रूप में देखने को मिलते हैं। इन ग्रंथों में धर्म-शास्त्र, वैद्यक, काम-शास्त्र आदि अनेक विषयों का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त प्राकृत, संस्कृत. डिंगल-ग्रंथों के अनुवाद और उनकी टीकायें भी देखने को मिलती हैं। इन ग्रंथों की भाषा राजस्थानी मिश्रित हिंदी है, जिस पर

गुजराती का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सन् १२७३ ई० के राजस्थानी गद्य का उदाहरण देखिये:—

'.........अढार पापस्थान त्रिविधिहि मनि-वचनि-काइ करणि-करावणि अनुमति परिहरहु। अतीतु निंदउ, वर्तमानु संवरहु, अनागत पारखखउ। पञ्चपरमेष्ठि नमस्कारु जिनशासनि-सारु चतुर्दश-पूर्व-समुद्धारु सम्पादित-सकल कल्याण संभारु विहित दुरितापसरु क्षुद्रोपद्रवपर्वतवज्र-प्रहारु लीलादलित संसारु सु तुम्हि अनुसरहु।'

सन् १३०२ ई० के गद्य का एक और नमूना देखिये:—

'माहरउ नमस्कारु आचार्य हुऊ। किसा जि आचार्य? पञ्चविधु आचारु जिप रिषालइ ति आचार्य भणि य इ। तीह आचार्य माहरउ माहरउ नमस्कारु हुउ। ईणि संसारि दधि चंदन दूर्वादिक मंगलीक भणियइ। तीह मंगलीक सर्व ही मांहि प्रथमु मंगलु एहु। ईणि कारणि शुभ-कार्य आदि पहिलउँ सुमरेवउँ जिव ति कार्य एह-तणइ प्रभावइ वृद्धि-मन्ता हुयइ।'

प्राचीन-काल में हिंदी-गद्य के उदाहरण नहीं मिलने का प्रधान कारण यही है कि इस समय की अभी तक पर्याप्त खोज नहीं हो पाई है। उपर्युक्त साहित्यिक-रचनाओं के अतिरिक्त राजस्थान के अनेक शिलालेखों से इस समय की भाषा का परिचय मिलता है। इन शिला-लेखों की भाषा बोलचाल की ही है। हिंदी के कुछ विद्वान्, स्वर्गीय मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या के द्वारा प्रकाशित करवाये पट्टे-परवानों को, जो पृथ्वीराज चौहान के समय के कहे जाते हैं, हिंदी-गद्य के सर्व-प्रथम उदाहरण मानते हैं, लेकिन खोज से पता चला है कि उनकी भाषा इस समय की नहीं, वरन् बहुत बाद की है। कुछ भी हो, इस काल के अध्ययन से इतना तो हम अवश्य कह सकते हैं कि पद्य-साहित्य की भांति, गद्य-साहित्य भी इस काल से आरम्भ हो गया था। हिन्दी के प्राचीनतम गद्य के उदाहरण यथार्थ में इसी काल के राजस्थानी गद्य के ही हैं।

: ३ :
माध्यमिक काल (पूर्वार्द्ध)
(सन् १३४५-१६४५ ई०)

(अ) ब्रजभाषा-गद्यः—अब तक साहित्यिक क्रिया-शीलता का केन्द्र राजस्थान था, लेकिन इस काल में आकर वह राजस्थान से हट कर ब्रजमंडल और काशी जा पहुँचा । इसके साथ-साथ राजस्थानी भाषा की प्रधानता भी जाती रही—उसका स्थान ब्रजभाषा ने ले लिया। अवधी भी कुछ आगे अवश्य आई, लेकिन ब्रजभाषा की धूमधाम में वह आगे नहीं बढ़ सकी। ब्रजभाषा के इस साहित्यिक विस्तार प्राप्त करने का प्रमुख कारण उस समय की धार्मिक भावना है। देश में मुसलमानी राज्य स्थापित हो गया था और जनता इस स्थिति से उदास हो गई थी। सब ने मिल कर एक स्वर से उस ईश्वर को याद किया। ईश्वर के राम-कृष्ण रूपों को लेकर भक्तिमार्ग सम्बन्धी रचनाएँ होने लगीं । इन दोनों रूपों में से जनता का ध्यान कृष्ण-रूप पर अधिक आकर्षित हुआ । भगवान् कृष्ण ब्रज के निवासी थे और ब्रज ब्रजभाषा का केन्द्र था ही, अतः ब्रजभाषा का विस्तार होना स्वाभाविक ही था। इस समय पूर्वी राजपूताने की भाषा अपने स्वरूप को कुछ-कुछ परिवर्तित करती हुई भक्ति की धारा में जा मिली। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' की रचना अवधी से मिलती-जुलती भाषा में की। अवधी ब्रजभाषा से बहुत प्रभावित हुई, लेकिन गोस्वामी जी के अनन्तर किसी अन्य कवि ने इसमें काव्य-रचना नहीं की। इसलिए अवधी का प्रचार अधिक न हो सका और ब्रजभाषा ने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। जब एक बार ब्रजभाषा काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई तो फिर धीरे-धीरे उसका विस्तार होने लगा और कालान्तर में केवल एक-मात्र इसी भाषा का प्राधान्य रह गया।

मुसलमान साम्राज्य की स्थापना के बाद बोल-चाल की भाषा 'खड़ी बोली' तथा साहित्यिक ब्रजभाषा की क्या अवस्था हुई, इस पर

भी यहाँ थोड़ा विचार कर लेना निरर्थक न होगा। जिस समय मुसलमान भारत में आये, उस समय वे अपनी भाषा का प्रयोग यहाँ नहीं कर सकते थे। इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम यहाँ की बोल-चाल की भाषा को अपनाया। जो मुसलमान साहित्य-सृजन की ओर प्रवृत्त हुए, उनके सामने ब्रज और अवधी का क्षेत्र खुला पड़ा था। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से मुसलमान कवियों ने भी ब्रज और अवधी में रचनाएँ लिखनी आरम्भ कीं। ऐसे कवियों में कुतुबन, मलिक मुहम्मद जायसी, उसमान, शेखनबी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद, फ़ाज़िलशाह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार मलूकदास, रहीम, रसखान ने अपनी रचनाओं द्वारा मनोरंजक चित्र उपस्थित किये हैं। इस प्रकार हम देखेंगे कि एक ओर साहित्य में ब्रजभाषा का आधिक्य बढ़ने लगा, और दूसरी ओर मुसलमानों के प्रभाव से शिष्ट-वर्ग के बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली हो गई। कतिपय राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उत्तर-भारत के लोगों को दक्षिण में जाना पड़ा, इसलिए वहाँ भी खड़ी बोली का प्रचार होने लगा। इस प्रकार खड़ी बोली भारतवर्ष के प्रायः सभी स्थानों में फैलने लगी। पहले तो इन मुसलमान लेखकों की भाषा शुद्ध होती थी, लेकिन बाद में वे अरबी फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग करने लगे। भाव-व्यञ्जना पर भी फ़ारसी-शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा। धीरे-धीरे खड़ी बोली में उर्दू शब्दों का प्रयोग इन कवियों के लिए अभीष्ट हुआ। यदि वे इससे बचने का प्रयत्न करते तो उन्हें अपनी भाषा में कृत्रिमता और अस्वाभाविकता दिखाई देने लगती थी। उदाहरण के लिए यहाँ सादी और शाह वली-उल्लाह की कविताओं के दो नमूने क्रमशः दिये जाते हैं:—

(१) 'हम ना तुमको दिल दिया तुम दिल लिया औ दुख दिया।
तुम यह किया हम वह किया यह भी जगत की रीति है।'

(२) 'दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जो कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ।'

इस प्रकार हम देखेंगे कि भारत में सामान्य बोलचाल की भाषा खड़ी बोली होने पर भी हिन्दू-लेखकों ने अपना ध्यान उस ओर आकर्षित नहीं किया। वे राम-कृष्ण के रूपों को लेकर ब्रज और अवधी भाषा में ही गुनगुनाते रहे। सौभाग्य से एक दो लेखक खड़ी बोली के इस काल के अन्त में चलकर अवश्य हुए, लेकिन उनकी रचनायें, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

पूर्व-माध्यमिक काल के समय ब्रजभाषा में केवल पद्य-रचना ही नहीं हुई, वरन् उसमें कुछ गद्य भी देखने को मिलता है, यद्यपि यह गद्य केवल नाम मात्र का है। आरम्भ से ही चारण-भाट आदि कवियों की भाषा का झुकाव ब्रजभाषा की ओर था, कुछ समय बाद इस काल में आकर इस भाषा में ग्रंथ लिखे जाने लगे। हिन्दी की प्राचीन पुस्तकों की खोज से पता चलता है कि हठयोग और ब्रह्मज्ञान आदि से सम्बन्ध रखने वाले अनेकानेक गोरख पंथी ग्रंथों में, जिनका निर्माण-काल सन् १३५० ई० के आस-पास बतलाया जाता है, गद्य के उदाहरण देखने को मिलते हैं। बहुत-सी पुस्तकें गोरखनाथजी के शिष्यों के द्वारा लिखी हुई हैं जैसे 'गोरख-गणेश-गोष्ठी', 'महादेव-गोरख-संवाद', 'गोरखनाथ जी की सत्रह कला' आदि। इनकी भाषा ब्रज है। इन पुस्तकों की वाक्य-रचना पर ध्यान देने से विदित होता है मानो वे किसी संस्कृत-पुस्तकों के अनुवाद हों। ये ही ब्रजभाषा-गद्य के सर्वप्रथम नमूने हैं। उदाहरण के लिये यहाँ ये दो नमूने देखिये:—

(१) 'श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्दस्वरूप है सरीर जिन्हिको, जिन्हिके नित्य गाये तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे ये मछंदरनाथ? आत्मजोति निश्चल है, अंतकरन जिनके अरु मूल द्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं।...स्वामी तुम्ह तौ सतगुर अम्ह तौ सिष, सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस।'

(२) 'सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ, अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि कौ दै चुकौ, अरु सहस्र जग्य करि चुकौ, अरु देवता सर्व पूजि चुकौ, अरु पितरनि कौ सन्तुष्ट करि चुकौ, स्वर्गलोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य कौ मन छनमात्र ब्रह्म कै विचार बैठो।'

भक्तिकाल के अन्तर्गत कृष्णभक्ति-शाखा के सुप्रसिद्ध कवि, महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने आगे चलकर 'श्रृङ्गार-रस-मंडन' नामक ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखा, जिसकी भाषा विशुद्ध ब्रज है। इससे हमें सन् १५१५-१५८५ ई० तक के ब्रजभाषा-गद्य का परिचय प्राप्त होता है। भाषा इस प्रकार है:—

'प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबिकै इनके मन्द हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ताकरि निकुञ्ज विषै श्रृङ्गार-रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।'

इस गद्य की भाषा अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। इन ग्रंथों की रचना के उपरान्त एक लम्बे समय तक ब्रजभाषा-गद्य की कोई पुस्तक दृष्टिगोचर नहीं होती। सन् १५६८-१५९३ ई० के आस-पास तीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथ देखने को मिलते हैं—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'बनयात्रा'। इनमें से प्रथम दो तो बहुत प्रसिद्ध हैं। ये तीनों ग्रंथ गोसाईं विट्ठलनाथजी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथजी के द्वारा लिखे कहे जाते हैं। इनमें वैष्णव भक्तों की कथायें जनता में भक्ति के प्रचार की दृष्टि से लिखी गई हैं। ये तीनों ग्रंथ ब्रजभाषा-गद्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। इनके लिखने का उद्देश्य साहित्यिक न होने के कारण भाषा बोल-चाल की है। अतः वह सरल, सुबोध और स्वाभाविक है। उसका रूप विशुद्ध, व्यवस्थित और परिष्कृत है। कहीं-कहीं अत्यन्त प्रचलित उर्दू, अरबी, फारसी आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का यह उदाहरण देखिये:—

'बहुर एक दिन दूध को कटोरा श्री ठाकुरजी के आगे भरि राख्यौ हुतो ता समय श्री गुसाईंजी अम्मा के घर पधारे मंदिर को टेरा सरकाय के दर्शन करन लागे तब श्री गुसाईंजी देखें तो ठाकुरजी दूध पीते हैं तब श्री गुसाईंजी देखि के पाछें फिर आये तब अम्मा ने कही जो बाबा पाछे क्यों फिर आये तब श्री गुसाईंजी ने कह्यौ जो श्री ठाकुरजी दूध पीवत हैं तब अम्मा ने कही जो श्री ठाकुरजी तो लरिका हैं तुम कहा जानत नाहीं तब श्री गुसाईंजी दर्शन करिकें पाछें फिरे...'

इसी प्रकार 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' का यह गद्य-नमूना देखिये:—

'सो ब्राह्मण गंगाजी के तीर पर एक झोंपड़ी बनाय के श्री ठाकुरजी पधराय के दोनों स्त्री-पुरुष सेवा करते सो वे ब्राह्मण भिक्षा करि लावते और एक दिन को सीधो होय तो दूसरे दिन के लिये कोई देवे आवे वाके पास लेते नहीं। और जब श्री ठाकुरजी को राज भोग सरे पीछे जितने वैष्णव आये होंय सब की पातर करते और भगवत्सेवा और भगवद्दर्शन बिना विनको चित्त दूसरे ठिकाने जातो न हतो।'

हिन्दी के विद्वानों को इस समय की एक पुस्तक 'ज्ञानमंजरी' हाथ लगी है। पुस्तक का लिपि-काल बाद का अवश्य है, लेकिन उसकी भाषा से उसका लेखक कोई वैष्णव मत का अनुयायी ज्ञात पड़ता है। इस पुस्तक की गद्य-शैली की रचना भी अन्य वैष्णव-ग्रंथों के आधार पर हुई है। पुस्तक का आरम्भ 'श्रीमते रामानुजाय नमः' से हुआ है। इसकी भाषा इस प्रकार है:—

'अरु स्वरूप ज्ञान हैं सों काहू कौ विरोधी नाहीं काहे तें की जा स्वरूप ज्ञान कौ कोउ अधिकरण नाहीं त्रिया ज्ञान को अधिकरण अंतःकरण है स्वरूप ज्ञान अधिष्ठान सब कौ है।'

इसी के समकालीन एक सेवक कवि हुए हैं, जिन्होंने 'वाग्विलास' नामक पुस्तक की रचना की है। यह एक नायिका-भेद ग्रंथ है, जिसमें विषय की स्पष्टता के लिए गद्य का प्रयोग किया गया है। यह गद्य

बहुत अशक्त है, कहीं-कहीं शिथिलता भी देखने को मिलती है। विषय-प्रतिपादन में भी लेखक असफल है। सरदार, नारायण आदि अन्य कवियों ने भी 'सेवक' की भाषा का प्रयोग अपनी टीकाओं में किया है। सेवक के गद्य का उदाहरण इस प्रकार है:—

'मुग्धादिक में जो लाज है, सो धर्म सहित ज्ञान को घर है। परकीया में जो लाज है। सो अधर्मजुक्त अज्ञान को घर है। कुल छूटिबे की संका है धर्म युक्ति नहीं है।'

पूर्व-माध्यमिक काल में ब्रजभाषा-गद्य के लेखकों में अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंददासजी का नाम भी लिया जाता है। इनके तीन गद्य-ग्रंथों की खोज हुई है, जिनके नाम ये हैं—'हितोपदेश', 'नासिकेत-पुराण भाषा' और 'विज्ञानार्थ-प्रवेशिका।' खेद का विषय है कि अभी तक ये गद्य-ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं।

नन्ददासजी से आगे चलकर भक्त-माल के प्रसिद्ध कवि नाभादासजी का नाम आता है। इन्होंने सन् १६००ई० में 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक ब्रजभाषा-गद्य में लिखी, जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्रजी के दैनिक जीवन का वर्णन है। भाषा इस प्रकार की है:—

'तब श्री महाराज-कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठते भए।'

भक्तिकाल के प्रसिद्ध महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी का सन् १६१२ई० में लिखा हुआ एक पंचनामा भी इस काल की गद्य-रचना का एक उदाहरण है। यह ब्रजभाषा में नहीं, वरन् बोल-चाल की अवधी में लिखा हुआ है। भाषा का नमूना इस प्रकार है:—

'संवत् १६६९ समये कुआर सुदि तेरसी बार......शुभ दीने लिखितं पत्र अनन्द राम तथा कन्हई के अंसवी भाग पुर्वक आग कै आग्य दुनहु जने माँगा जे आग्य मै शे प्रमान माना दुनहु जनै विदीत तफसीलु अंशु

टोडरमलु के माह जो विभाग पढु होत रा ।'

जैन मतावलंबी कवि बनारसीदास ने भी इस काल में अनेक गद्य-रचनायें लिखी हैं । उनकी भाषा कुछ-कुछ व्यवस्थित है, जैसे—

'सम्यग् दृष्टि कहा ? सो सुनो । संसय, बिमोह, बिभ्रम-ए तीन भाव जामै नाहीं सो सम्यग्-दृष्टि । संसय, बिमोह, बिभ्रम कहा ? ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है । सो सुनो ।'

यह गद्यांश सन् १६१३ ई० का है । इसके ठीक एक वर्ष पश्चात् हिंदी के विद्वानों को एक और गद्य-पुस्तक हाथ लगी है, जिसका नाम है 'भुवनदीपिका' । इसके लेखक के नाम का अभी तक पता नहीं चल सका है । भाषा को देखने से ऐसा ज्ञान होता है कि इसका लेखक राजस्थान का रहने वाला था क्योंकि इस पर राजस्थानी भाषा का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है । देखिये:—

'जउ अस्त्री-पुत्र-तणो पृछा करइ । आठमइ-नवमइ-स्थानि एक लो सुक्र होइ तउ प्रताप स्वभाव रमतउ कहिवउ ।'

सन् १६२३ ई० के आस-पास हमें ओरछा महाराज जसवन्तसिंह के दरबारी बैकुन्ठमणि शुक्ल की दो ब्रजभाषा-गद्य की पुस्तकें देखने को मिलती हैं-'अगहन–माहात्म्य' और 'वैशाख-माहात्म्य' इन दोनों पुस्तकों पर खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है । 'वैशाख-माहात्म्य' की भाषा का यह उदाहरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है:—

'सब देवतन की कृपातें बैकुण्ठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चंद्रावती के धरम पढ़िबे के अरथ यह जयरूप ग्रंथ बैसाख महातम भाषा करत भए । एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा से उठि कै सुमेर पर्वत को गए ।'

इस काल के ब्रजभाषा-गद्य के अंतिम लेखक विष्णुपुरी हैं, जिन्होंने सन् १६३३ ई० में 'भक्ति रत्नावली' का गद्यानुवाद किया है । यह ग्रंथ काफी बड़ा है, गद्य की भाषा ब्रज है, लेकिन कहीं-कहीं खड़ी बोली का पुट भी देखने को मिलता है ।

इस काल की समस्त गद्य-रचनाओं में केवल 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में ही ब्रजभाषा का निखरा हुआ रूप देखने को मिलता है। शेष रचनाओं के द्वारा गद्य का विकास नहीं के बराबर हुआ है। इसका प्रधान कारण यही है कि स्वतंत्र रूपसे किसी ने गद्य लिखने का प्रयास नहीं किया। हम देखते हैं कि स्वयं वैष्णवों को अपने धर्म प्रचार की आवश्यकता थी, इसलिये केवल उनमें ही भाषा का चलता हुआ रूप पाया जाता है।

(आ) राजस्थानी-गद्य:—

यद्यपि ब्रजभाषा के प्रभुत्व ने राजस्थानी भाषा के महत्त्व को कम कर दिया, पर गद्य-साहित्य की दृष्टि से राजस्थानी साहित्य का ही बोल बाला रहा। यह सच है कि ब्रजभूमि के आस-पास बोली जाने वाली भाषा में हिंदी-साहित्य की सर्व प्रथम काव्य-रचना आरम्भ हुई, लेकिन हिंदी-गद्य का विकास जैसा राजस्थानी भाषा में हुआ, वैसा ब्रजभाषा में नहीं दिखाई देता। इससे स्पष्ट है कि किसी भाषा की प्रधानता होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि दूसरी भाषा में साहित्य के किसी और अंग का विकास ही नहीं हो सकता। माध्यमिक काल गद्य की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस काल में राजस्थान के प्रत्येक राज्य में इतिहास लिखने की परम्परा देखी जा सकती है। प्रत्येक बात का विस्तृत वर्णन उनमें पाया जाता है। इनमें से अधिकांश रचनायें 'ख्यातों' या 'बातों' (अर्द्धैतिहासिक और ऐतिहासिक कथाओं) के रूप में पाई जाती है। उनमें से कुछ हमें आज भी उपलब्ध हैं। लेकिन कालान्तर में इस समय का समस्त राजस्थानी-गद्य नष्ट हो चुका है, बहुत-सी रचनाओं के लेखकों का ही पता नहीं लगता। संक्षेप में, इतना तो हम राजस्थानी साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् निश्चय रूप से कह सकते हैं कि सन् १३४५-१६४५ ई० तक राजस्थानी भाषा में गद्य-रचनायें बराबर होती रहीं। यदि खोज की जाय तो हमारे प्राचीन गद्य-साहित्य के इतिहास का पता अच्छी तरह से चल सकता है। इस समय के एक-दो प्रमुख गद्य-लेखकों

का तो पता चला है, लेकिन अन्य लेखकों का नहीं। जब तक राजस्थानी गद्य-साहित्य पर स्वतंत्र रूप से अन्वेषण का कार्य्य आरम्भ नहीं किया जाता, तब तक इस दिशा में हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। इस समय के गद्य-लेखकों में अचलदासजी खीची और रावरतन महसेदासोत्तरी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों लेखकों ने वचनिकाएँ लिखी हैं। अचलदासजी खीची की वचनिका सन् १४१३ ई० के आस-पास लिखी हुई जान पड़ती है। उसके गद्य का नमूना इस प्रकार है:—

(१) 'महाराजा जी विसक्रमाजो बोलाया। विसक्रमाजी आया। हुकम थारा। विसनपुरी, रुद्रपुरी, ब्रह्मपुरी विचै अचलपुरी बसावउ।'

(२) 'विसनपुरी का विसनलोक आया। रुद्रपुरी का रुद्रलोक आया। ब्रह्मपुरी का ब्रह्मलोक आया। इन्द्रपुरी का इन्द्रलोक आया।'

राव रतन महसे दासोतरी की वचनिका का रचना-काल सन् १६०३ ई० के आस-पास जान पड़ता है। इसके गद्य का नमूना इस प्रकार है:—

'तिणि बेला दातार झूझार राजा रतन मूँछाँ करि घाति बोलै। तरुआर तोलै। आगै लड़का कुरखेत महाभारत हूआ। देव-दाणव लड़ि मूआ। च्यारि जुग कथा रही। वेद व्यास बालमीक कही। सुतीसरौ महाभारत आगम कहता उजेणि खेत। अगनि सोर गाजसी। पवन बाजसी। गजबन्ध समबन्ध गजराज गड़सी। हिंदू असुराइण लड़सी।'

इसी प्रकार की एक वचनिका सन् १४२१ ई० में लिखी गई थी, लेकिन उसके लेखक का पता अभी तक नहीं लग सका है। उसकी भाषा इस प्रकार है:—

'तीह माहि वरवाणीयइ मरहट्ठ देस। जीणइ दीस ग्राम, अत्यन्त अभिराम। भला नगर, जिहाँन मागीयइ कर। दुर्ग, जिस्याँ हुइ स्वर्ग। धान्य, न नीपजइ सामान्य। आगर, सोना-रूपा-तणा सागर। जेह देस माहि नदी बहइ, लोक सुखइँ निर्वहइ। इसिव देश, पुण्य तणउ निवेश, गरु अउ प्रदेश।'

नीचे राजस्थानी गद्य के ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं, जिनके लेखकों का पता अभी तक नहीं लग सका है, परन्तु जिनसे यह बात पूर्ण-रूप से स्पष्ट हो जाती है कि इस काल में भी ब्रजभाषा-गद्य के समानान्तर राजस्थानी-गद्य का क्रम जारी था। देखिये:—

सन् १३५४ ई० का उदाहरण—

एतकइ प्रस्तावि चोरु एकु चोरी करी तिहाँ आविउ। केडइ बाहर पुण आवी। चोरु स्मशान वन गहन माँहि पइठउ। बाहर बाहिरि वेढु करि रही। चोरि महेसरदत्तु चडतउ ऊतर तउ देखी करी बोलाविउ तउँ ज विद्या साधइ छइ स मूँह रइ आपि, एह माहरउ धनु तउँ लइ।'

सन् १३९३ ई० का उदाहरण—

'जु करइ, सुइ, दिइ, पठइ, हुइ—इत्यादि बोलिवइ उक्ति माहि क्रिया करवइ जु भूलि गउ हुइ सु कर्ता। तिहाँ प्रथमा हुइ। चन्द्र ऊगइ—ऊगइ इसी क्रिया। कउण ऊगइ? चन्द्र। जु ऊगइ सु कर्त्ता तिहाँ प्रथमा। जं दीजइ तं कर्म। तिहाँ द्वितीया।'

सन् १४०० ई० का उदाहरण—

'पछइ राजाइ कालसूरीउ खाट की बोलाविउ। तेह-हइँ कहिउँ भावइ तेतळउ द्रव्य मागि पणि जीव हिंसा पर ही मूँकि। काळ सूरिउ पछइ राजाइते अंधकूप माहि घाती अहोरात्र राखिउ।'

सन् १४४३ ई० का उदाहरण:—

'राजसिंह कुमार रत्नवती सहित नाना प्रकार भोग सुख भोगवइ छइ। घण उ काळ हूओ। एक बार पिताइँ मृगांक राजाइँ प्रतीहार हाथि लेख मोकळी नइ कहाविउँ—वच्छ अमे वृद्ध हूआ। राज्य छांडी दीक्षा लेवानी उत्कण्ठा करुँ छउँ। घणा काळ लगइ ताहरा दर्शनिनी उत्कंठा छइ। तु वहिलु आँहाँ आविजे। पछइ राजसिंह कुमार चालिउ। अनुक्रमि पुहतउ। पिता हरइँ प्रणाम की धउँ। सर्व कुटुम्ब परिवार हर्षिया।'

सन् १५४३ ई० का उदाहरण:—

'पछै जोधो जी राम कहो सु टीकाइत नीबो हुतो सु पेहली राँम

कहो हुतो। पछै राउ वीको कोडमदेसर हुँतौ सु रा .वेरसल भीमोत वीके-जीनु कहाडीया जु राउ जोधै राम कहौ छैजे विगर गढ मैं|चढीया तु आयो तो टोको तोनु हुसी । पछै राउ वीको कोडमदेसर-हुती हालिवो सु पेडै माहै आवन्त अँमल करनै सुतो । सु मोत्र डैरा आयो । पछै सातळनुँ टोको दोन्हौ । तितरै राउ वीको ही आयो । पछै गढ़ घेरीयो ।'

सन् १५६८ ई० का उदाहरण—

'जोधपुर तुरकाणी छै । चन्दसेण जी राम कहो ताहरा टीको आसकरननु दीनो । पछै कितरेहे के दिहाडै उगरसेन कहो जुमो कन्हा चाकरी कराड़ो की नहीं ।'

सन् १५६३ ई० का उदाहरण—

'राउ जोधौ गया जी जात पधारीया। आगरारी पारवती नीसरीया। तरॉं राजा करन कनवज रौ धणी राठौड़ तिणसूं जोधौजी मिलिया । तरै राजा करन पातिसाही अमराव थौं । तिण पातिसाहि जी नुँ गुदरायो राउ जोधौ मारवाडि रौ धणि छै, वडौ राजा छै, गुजारातिरे मुँहडै इणाँरौ मुलक छै ।'

सन् १६२३ ई० का उदाहरण—

'जहाँगीर पातिसा, नूरमहल इतमाददोलारी बेटी असपखाँरी बहन; तिणसूँ साहजादै थकाँ यारी हुती तै पछै पातसा हुवौ तरै उणसै माँटी मारिनै उणनूँ लै मौहलामाँ घाली । पातसाही उणनूँ सूँपी ।'

इन उपर्युक्त गद्यांशों का लिखने वाला कोई न कोई राजस्थानी गद्य लेखक अवश्य होगा, सम्भवतया उसने और भी ऐसी कितनी ही गद्य रचनायें लिखी होंगी । कितना अच्छा होता, यदि इन लेखकों के नामों का भी हमें पता लग गया होता ।

—

: ४ :

माध्यमिक काल (उत्तरार्द्ध)

(सन् १६४५—१८४५ ई०)

(अ) ब्रजभाषा गद्यः—उत्तर-माध्यमिक काल के अधिकांश भाग में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा, लेकिन कोई महत्त्वपूर्ण गद्य-रचना इस काल में नहीं लिखी गई। यह हमारे हिंदी-साहित्य के लिए एक हितकर बात हुई। कारण कि खड़ी बोली को गद्य के लिए जो क्षेत्र मिला, वह उस अवस्था में न मिल पाता। उस अवस्था में दो प्रकार के गद्यों की धारायें एक साथ प्रवाहित होतीं। काव्य-क्षेत्र की भांति सम्भव है इन दोनों धाराओं को भी अनेक विरोधों का सामना करना पड़ता। लेकिन ब्रजभाषा के गद्य का विकास न होने के कारण किसी विरोध की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। एक ओर काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का विकास होता गया, दूसरी ओर खड़ी बोली में गद्य-रचनायें सर्व-सम्मति से होने लगीं। यही कारण है कि ब्रजभाषा में कोई उल्लेखनीय गद्य-रचनाओं के दर्शन नहीं होते, हां नाम-मात्र के लिए वैसे बहुत-सी लिखी गईं। इसके अतिरिक्त इस काल में अनेक टीकाकार भी हुए, जिन्होंने अपनी टीकायें ब्रज में लिखीं, लेकिन उनकी भाषा को देखने से ज्ञात होगा कि वह बिल्कुल अव्यवस्थित है।

सन् १६५० ई० के आस-पास राजस्थान के निवासी मनोहरदास निरंजनी की गद्य-रचनाओं से इस काल का श्री गणेश होता है। मनोहरदास की गद्य-शैली पुष्ट नहीं है, उसमें बहुत कुछ कच्चापन देखने को मिलता है। साथ ही स्थान-स्थान पर राजस्थानी भाषा का पुट भी पाया जाता है। इनके अनंतर सन् १६५२ ई० में हेमराज पांडे ने कुछ गद्य-रचनायें लिखीं। इनको हिंदी के कतिपय विद्वानों ने अच्छे गद्य-लेखकों की कोटि में माना है, यद्यपि भाषा की दृष्टि से इनमें कोई नवीनता दृष्टिगत नहीं होती। इनसे आगे चलकर हमारे सामने दामोदर-

दास दादूपंथी आते हैं। ये राजस्थान के रहने वाले थे। सन् १६९८ ई० के आस-पास इन्होंने 'मारकंडेय पुराण भाषा' नामक गद्य-ग्रंथ लिखा है। यह मार्कंडेय पुराण का अनुवाद है। भाषा का स्वरूप इस प्रकार है:—

'अथ बन्दन। गुरदेवकुँ नमसकार। गोविन्द जी कूँ नमसकार। सरब परकारकै सिध, साध, रिषमुनिजन, सरब ही कूँ नमसकार। अहो तुम सब साध ऐसी बुधि देहु जा बुधि करि या ग्रन्थ की बारतिक भाखा अरथ रचना करियथै।'

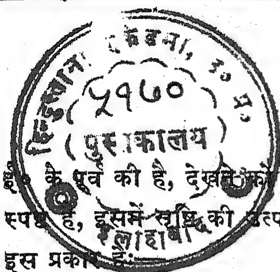
इस काल के गद्य-लेखकों में भगवान् मिश्र मैथिल का नाम भी लिया जाता है। इनका एक शिलालेख बस्तर राज्य के दँतवारा गाँव में मिला है जो सन् १७०२ ई० का लिखा हुआ है। इसकी भाषा ब्रज न होकर पूरबी है। सन् १७०७ ई० से पूर्व एक गद्य-रचना 'नासकेतोपाख्यान' का और पता लगा है, लेकिन उसके लेखक का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। इसकी भाषा कुछ-कुछ व्यवस्थित है। उदाहरण के लिए यह अंश देखिये:—

'हे ऋषीश्वरो! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूँ। काले वर्ण महा-दुख के रूप जम-किंकर देखे। सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह बड़े-बड़े ग्रध्र देखे। पंथ में पापकर्मी कौ जमदूत चलाइकै मुदगर अरु लोह के दंडकर मार देत हैं। आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरो रोम-रोम खरो होत है।'

सुरति मिश्र ने सन् १७१० ई० में संस्कृत से कथा लेकर 'बैताल-पचीसी' की रचना की, जिसको आगे चलकर लल्लूलाल ने खड़ी बोली हिन्दुस्तानी में किया। इन्होंने अनेक टीकाएँ भी लिखी हैं। 'बैताल-पचीसी' के गद्य का नमूना इस प्रकार है:—

'सीस फूल सुहाग अरु बेंदा भाग—ये दोउ आये। पाँवडे सोहे सोने के कुसुम-तिन पर पैर धरि आये हैं।'....

इसी समय की एक 'भोगल पुराण' नामक रचना, जो सन् १७०९



ई० के पूर्व की है, देखने को मिलती है। जैसा कि पुस्तक के नाम से स्पष्ट है, इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का हाल लिखा हुआ है। इसकी भाषा इस प्रकार है:—

'सुमेर परबत कै दखिणै भाग जंबू ऐसै नाम ऐक वृक्ष है। अरु ऐक लाख जोजन जंबू वृक्ष का विस्तार है। तिस वृक्ष का फल हसती समान है। से फल पड़त प्रमाँण पाँणी का प्रवाह चलत है। सो प्रवाह मानसरोवर जात है। फुन तिस फल का रस की नदी बहिती है।'

'भोगल पुराण' की एक प्रति और प्राप्त हुई है जो सन् १७१७ ई० के पूर्व की लिखी हुई है। उसकी भाषा इस प्रकार है:—

आकास ते वायु (उ) त्पन्ना। वायु ते तेज उत्पन्ना। तेज तैं ब्रह्माण्ड उत्पन्ना। ब्रह्माण्ड तैं पाणी उत्पन्ना। पाणी तैं अण्ड उत्पन्ना। अण्ड फूट कुटका भयै। ते जल मध्ये विष्णु रहै है।'

अग्र नारायणदास ने सन् १७७२ ई० में 'भक्तमाल-प्रसंग' की रचना की है, जिसमें ब्रजभाषा का कुछ व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है:—

'तब श्रीकृष्ण अधोरबंसी बजाई। ब्रज-गोपिकानि सुनी। राधिका ललिता विशाखादि गोपी आई। रासमण्डल रच्यो। राग-रंग, नृत्य-गान, आलाप, आलिंगन, सम्भासन भयो।'

इनके ठीक पन्द्रह वर्ष उपरान्त सन् १७८७ ई० में रामचरणदास ने भक्ति के उद्देश्य से राम को अपना लक्ष्य बनाकर एक रचना लिखी, जिसकी भाषा भी इसी प्रकार की है:—

'पुनि राम-नाम कैसो है? हेतु कृसानु भानु हिम कर को। जहाँ एक शब्द में दुई अर्थ होंइ, तीन चार पाँच छै सात इत्यादिक अर्थ होंइ आसय लिहे एक शब्द में, ताको श्लेषांकार कही, पुनि ध्वन्यात्मक काव्य कही। यह चौपाई में अनेक हेतु अनेक ध्वनि अनेक आसय हैं। निज मति-अनुसार एक-दुइ मैं भी कहता हौं।'

राजस्थानी लेखकों द्वारा जो ब्रजभाषा-गद्य के ग्रंथ लिखे गये, उनमें सब से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अबुलफ़ज़ल की आईने-अकबरी का

अनुवाद है। जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से लाला हीरालाल ने सन् १७९९ ई० में इसे लिखा। यह ७०० बड़े-बड़े पृष्ठों का एक बृहत् ग्रंथ है और ब्रजभाषा की सब से बड़ी रचना है। इसकी भाषा प्रौढ़ और उच्चकोटि की है। लेकिन बोल-चाल के शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्द भी आ गये हैं। अनुवादित भाषा पर राजस्थानी का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। देखिये:—

'अब शेख अबलफजल ग्रंथ को करता प्रभु को निमस्कार करिकै अकबर बादस्याह की तारीफ़ लिखने को कसत करै है अरु कहै है—या की बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातैं याके पराकरम अरु भांति-भांति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया में प्रगट भए, ताको संखेप लिखत हौं। प्रथम तो बादस्याह के नाँम-सँग्या कौं अरथ लिखियत है। बाद फारसी भाषा मैं नित रहै ताको कहते हैं।'

इसके पश्चात् सन् १८३२ ई० के आस-पास 'हितोपदेस ग्रंथ' लिखा गया। यह ग्वालियर की भाषा में लिखा गया है। भाषा का नमूना इस प्रकार है:—

'प्रथम ही श्री महादेव जू के प्रशाद तैं सकल काँम की सिध होय। कैसे हैं श्री महादेव जू। जिनके सीस चन्द्रमा........'

इस काल के ब्रजभाषा-गद्य के अंतिम लेखक एक सरदार कवि हुए, जिन्होंने सन् १८४२ के आस-पास बहुत-सी टीकायें लिखी हैं। इन टीकाओं का गद्य सर्वथा अशक्त है और भाषा अव्यवस्थित है। देखिये:—

'वन्शीवट के निकट आज मैंने नेक स्याम को मुख हेरो। नट नागर के पट पै तबते मेरो मन लटको है।'

इस 'लटको' शब्द ने सारे वाक्य का मजा गुड़-गोबर कर दिया है।

इस प्रकार की ब्रजभाषा-गद्य की कुछ पुस्तकें इधर-उधर और पाई जाती हैं, जिनसे गद्य का कोई विकास नहीं हो पाया। इनके अतिरिक्त बहुत से टीकाकार गद्य-लेखक भी हुए। 'विहारी-सतसई' पर इस

समय में बीसों टीकाएँ लिखी गईं, पर उनका गद्य व्यावहारिक नहीं है। टीकाकार के मूल पाठ का स्पष्टीकरण करना तो दूर रहा, भाषा को और अबोध तथा दुर्गम्य बना डालते थे। इस प्रकार भाषा अनगढ़ और लद्धड़ हो जाती थी। इन अनियमित टीकाओं के द्वारा शनैः-शनैः व्रजभाषा-गद्य के पतन के चिन्ह स्पष्ट रूप से दिखाई देने लग गए। चाहे तो 'श्रृङ्गार-शतक' की टीका लीजिए, चाहे जानकीप्रसाद की रामचंद्रिका की टीका—प्रायः समस्त टीकाओं में यही दोष दृष्टिगत होगा। कविप्रिया, रसिकप्रिया आदि टीकाओं की भाषा भी असंबद्ध है। खड़ी बोली जब तक साधारण बोल-चाल और व्यवहार की भाषा रही, तब तक व्रजभाषा-गद्य का कोई विकास नहीं हो सका। इसीलिए खड़ी बोली गद्य का सूत्रपात हुआ। व्रजभाषा-गद्य का यदि उत्तरोत्तर विकास होता रहता, तो सम्भव था आगे चलकर किसी आदर्श शैली का जन्म हो जाता, लेकिन इस समय में भाषा कुछ ऐसे लेखकों के हाथ में जा पड़ी कि उसका स्वरूप विकृत होकर प्रायः नष्ट-सा हो गया। 'वैष्णव वार्ताओं' से आगे बढ़कर, जैसा कि हम देख चुके हैं, अब तक इसीलिए किसी स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना नहीं हो सकी।

(आ) राजस्थानी-गद्य—

इस काल में राजस्थानी भाषा अपने प्रान्त में चुप-चाप उन्नति करती रही। उसका गद्य-साहित्य पहिले की अपेक्षा अधिक व्यापक और विस्तृत होने लगा। इस समय में ख्यातों (इतिहास और यश सम्बन्धी ग्रंथों) और बातों (कहानियों) को विशेष प्रोत्साहन मिला। राजस्थान की ये ख्यातें मध्यकालीन भारतवर्ष के इतिहास के लिखने में अमूल्य सहायता प्रदान कर सकती हैं और अनेक अन्धकाराच्छन्न बातों पर प्रकाश डाल सकती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। राजस्थान का कथा-साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। उसमें हज़ारों कहानियाँ लिखी गई हैं जो बृहत्कथा संग्रह की कहानियों से टक्कर ले सकती हैं। ये बातें (कहानियाँ) ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक, नैतिक आदि विविध विषयों पर लिखी गई हैं और कोई-

कोई तो बहुत ही सुन्दर और मार्मिक बन पड़ी हैं। सबसे अधिक बातें मारवाड़ के कविराज बांकीदास ने लिखी हैं, जिनकी संख्या २८०० के लगभग है। प्रायः सभी अमुद्रित हैं। ख्यातों में 'मुँहणोत नैणसी री ख्यात', 'जोधपुर रा राठोड़ाँ री ख्यात', 'बीकानेर रा राठोड़ाँ री ख्यात' आदि सर्व प्रसिद्ध हैं। कहने का अभिप्राय यह कि इस काल में भी राजस्थानी गद्य में 'ख्यातों' और 'बातों' के लिखने का क्रम जारी रहा और गद्य अपने विकास की ओर बढ़ता गया।

इस काल के राजस्थानी गद्य-लेखकों में मुहणोत नैणसी, खिड़ियो जग्गो, बाँकीदास आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुहणोत नैणसी इस समय के एक सुप्रसिद्ध गद्य-लेखक हैं। इन्होंने सन् १६६३ ई० के आस-पास एक बृहत ख्यात लिखा है, जिसमें उस समय तक का राजस्थान का सारा इतिहास वर्णित है। इनकी भाषा प्रौढ़ और प्रांजल है। आगे चलकर नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा इसका हिंदी-अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उदाहरण के लिए मुहणोत नैणसी री ख्यात की गद्य-शैली का यह नमूना देखिए—

'तठै पाबूजी गायाँ पाय नै छोडी छै। इतरै स्नेह दीठी। कही रै चाँदा आ खेह करी? तद चाँदै कही—राज खीची आयौ। अर पहलड़ी लड़ाई माँहै चाँदै खीची नुँ तरवार वाही हन्ती तद पाबूजी तरवार आपड़ लीवी, कही—मारो मताँ, बाँई राँड हुसी। तद चाँदै कही—राज, आप तरवार आपड़ी, बुरी कीवी। पण पाबूजी मारण दीया नहीं। तबै फौज आई। तद चाँदै कही—राज, जो मारीयो हुवै हात तौ पाप कटियौ हुत, हराँम खोर आयो। तठै पाबूजी तौ वुहा ने लड़ाई कीवी। वड़ो रीढ वाजियौ। तै सुँ पाबूजी तौ काँम आया।' खिडियो जग्गो ने राजस्थानी-गद्य में 'रावरतन महेसदासोतरी वचनिका' नामक गद्य-ग्रंथ लिखा। इसमें वाक्यों की तुक मिलाई गई है। साथ ही बीच-बीच में पद्य भी देखने को मिलता है। भाषा प्रौढ़ है, इसका रचना-काल सन् १६५८ ई० है।

सन् १७८१-१८३३ ई० तक के बीच जोधपुर महाराज मानसिंहजी के दरबारी बाँकीदास जी ने 'आसिया चारण बाँकीदास री ऐतिहासिक वाताँ' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें ऐतिहासिक कथाएँ और कहानियाँ हैं। भाषा परिष्कृत और परिमार्जित है। अब तक की पुस्तकों में इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इसी प्रकार अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की एक रचना 'जोधपुर रा राठोडाँ री ख्यात' पाई जाती है, जिसके लेखक का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है, लेकिन भाषा की दृष्टि से इस पुस्तक का भी एक विशेष स्थान है।

इस प्रकार हम देखेंगे कि इस काल के अंतिम समय तक हमें राजस्थानी-गद्य की अनेक रचनाएँ देखने को मिलती हैं। लेखकों के नामों का पता नहीं लगने के कारण कुछ गद्यांशों के उदाहरण भाषा की दृष्टि से नीचे दिये जाते हैं। देखिए—

सन् १७४३-१७८८ ई० के बीच का गद्य—

'चातक, दादर, मोर तीनूँ ही मेघरा मित्र हैं जिणाँ मै मयर अत उत्तम है। मेघ चातक रै फायदो करै, दादुर रै अत फायदो करै, मोर रै क्युँ ही फायदो करै नहीं।'

सन् १८०३ ई० का गद्य—

'जिण खिसा मै दराजी रहै सो खिसौ इतिहास कहावै। जिण खिसा मै कम दराजी सो वात कहावै। इतिहास रौ अवयव प्रसंग कहावै। जिण बात मै एक प्रसंग ही चमत्कारीक होय तिका बात दास-तान कहावै।'

इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। सन् १८४९ ई० के आस-पास तक राजस्थानी गद्य में साहित्य-निर्माण करने की परम्परा बनी रही। पर इसके बाद जब अँग्रेजी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप हमारे देश में राष्ट्रीयता की लहर उठी और हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा, तब से प्रांतीय भाषा का

मोह त्याग कर राजस्थान के लेखक-वृन्द भी हिन्दी-गद्य लेखकों से जा मिले। इसका परिणाम यह हुआ कि शुद्ध साहित्यिक राजस्थानी गद्य-रचनाओं का क्रम रुक गया। अतः सन् १८४९ ई० से राजस्थानी गद्य का इतिहास एक प्रकार से राजस्थान में हिन्दी-गद्य ही का इतिहास है। इतिहास की दृष्टि से राजस्थान एक महत्त्वपूर्ण प्रान्त है, इसलिए यहाँ के विद्वानों ने इतिहास ग्रंथ बनाना ही अधिक हितकर समझा। इनमें महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा, सर्वश्री कविराजा श्यामलदास, मुन्शी देवीप्रसाद, दीवान बहादुर हरबिलास शारदा, पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, पं० रामकर्ण आसोपा, बाबू रामनारायण दूगड़, ठाकुर भूरसिंह शेखावत, श्री सूर्य्यकरण पारीक, पुरोहित हरिनारायण, श्री नरोत्तमदास स्वामी, श्री अगरचंद नाहटा, श्री मोतीलाल मेनारिया आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

: ५ :

खड़ी बोली का प्रयोग और उसका अस्तित्व

(सन् ६४५ – १५७० ई०)

आधुनिक युग में जिस खड़ी बोली के गद्य का इतना व्यापक प्रसार दिखाई देता है, उसका इतिहास बहुत प्राचीन है। हिंदी-भाषा का प्राचीन लिखित साहित्य विश्व की समस्त भाषाओं की तरह पद्य-रचना से ही आरम्भ होता है और बहुत समय तक हमारे यहाँ इसी का प्राधान्य रहता है। लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि आधुनिक-युग की खड़ी बोली का अस्तित्व उस प्राचीन काल में था ही नहीं अथवा इसका प्रयोग साहित्य में होता ही न था। खड़ी बोली व्रजभाषा के ही समान एक अत्यन्त प्राचीन प्रादेशिक बोली है, यहाँ यह बात हमें पूर्ण रूप से समझ लेनी चाहिए। भारत के ऐतिहासिक कारणों से ही खड़ी बोली को प्रधानता मिली। मुसलमानी दरबारों से संबंध होने तथा कविता के क्षेत्र में व्रजभाषा का एकाधिपत्य होने के कारण हिन्दी साहित्यिकों में

उसका अधिक प्रचार न हो सका था, फिर भी साहित्य में इसका प्रयोग बहुत पहले से हुआ। गंग कवि (१५५६–१५७२ ई०) का 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' खड़ी बोली का सर्वप्रथम ग्रंथ माना जाता है, इसलिए प्रस्तुत अध्याय में हम सन् ६४५–१५७० ई० तक साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग और उसके अस्तित्व के विषय में विचार करेंगे और यह बताने की चेष्टा करेंगे कि इसका प्रयोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्राचीन काल से होता चला आ रहा है।

प्राचीन काल में राजस्थानी-गद्य के समान हिंदी-गद्य का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। इस काल के शिलालेखों से इस बात का पता अवश्य चलता है कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न बोलियाँ थीं। सच बात तो यह है कि इस काल के साहित्य की अभी तक पर्याप्त खोज नहीं हो पाई है। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने इस समय के पट्टे-परवाने अवश्य प्रकाशित कराये हैं जो हिंदी-गद्य के सर्वप्रथम उदाहरण माने जा सकते हैं। लेकिन विद्वानों को इन पट्टे-परवानों की प्रामाणिकता में पूरा-पूरा सन्देह है। कुछ भी हो इतना तो हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि खड़ी बोली का अस्तित्व हमें इस समय के प्राप्य ग्रंथों द्वारा मिल ही जाता है। यह दूसरी बात है कि प्रारम्भिक अवस्था में इसे कोई व्यापक स्थान नहीं मिल सका।

प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरि (सन् १०९३–११४२ ई०) ने एक बड़ा भारी व्याकरण-ग्रंथ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' के नाम से लिखा है, जिसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का रूप पाया जाता है। इसमें अपभ्रंश के जो उदाहरण दिये गए हैं, उन्हें देखने से विदित होता है कि सभी उदाहरण किसी एक अपभ्रंश के नहीं हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों की प्राकृतें थीं, उसी प्रकार उनकी पृथक्-पृथक् अपभ्रंश बोलियाँ भी थीं। इनसे हमें प्राचीनतम खड़ी बोली के स्वरूपों का परिचय प्राप्त होता है। खड़ी बोली की एक प्रमुख विशेषता उसकी आकारांत प्रवृत्ति है, जो उसे ब्रजभाषा से पृथक् करती है। हेमचंद्र के व्याकरण

में यह आकारांत प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। उदाहरण के लिए देखिए :—

'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु।'

इस पद्य में 'भल्ला', 'हुआ', 'मारिया' आदि शब्दों से खड़ी-बोली के प्राचीन रूप की झलक मिलती है। हेमचन्द्र ने कुछ उदाहरण अपने पूर्ववर्ती कवियों के भी दिये हैं। इससे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि खड़ी बोली का अस्तित्व इससे भी पूर्व पाया जाता था।

हेमचन्द्र के पश्चात् हिंदी-भाषा का सर्वप्रथम ग्रंथ 'बीसलदेवरासो' है, .. सन् ११५५ ई० में कवि नरपति नल्ह द्वारा लिखा गया था। हेमचंद्र सूरि की भाँति इसमें भी हमें खड़ी बोली की आकारांत प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यथा—

१. मोती का आषा किया।
२. चित्त फाट्या मन उचट्या।

'बीसलदेवरासो' में व्रजभाषा के रूपों के साथ ही साथ 'भराया', 'पहूँचा', 'आव्या' जैसे शब्दों के रूप मिलते हैं, जिससे इस बात का परिचय मिलता है कि कोई अपभ्रंश खड़ी बोली के रूप में अवश्य विकसित होना चाहती थी।

तेरहवीं शताब्दी में आकर अमीर खुसरो की रचनाओं में भाषा का एक ऐसा रूप देखने को मिलता है, जो खड़ी बोली से बिल्कुल मिलता-जुलता है। खुसरो के पूर्व शारंगधर ने भी 'सहसा रे कंत! मेरे कहे' लिखकर खड़ी बोली के अस्तित्व का आभास अवश्य दिया, लेकिन भाषा का जैसा पुष्ट और सुन्दर रूप खुसरो की रचनाओं में देखने को मिलता है, वैसा शारंगधर में नहीं। खुसरो की इन पहेलियों की भाषा पर विचार करने के उपरान्त यह बात हमें स्पष्ट रूप से मालूम हो सकती है—

१. 'आदि कटे तो सबको पारै।
मध्य कटे तो सबको मारै॥

अंत कटें ते सबको दीठा ।
कह खुसरो मैं आँखों दीठा ॥'

२. 'एक कहानी मैं कहूँ, तु सुन ले मेरे पूत ।
बिन परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत ।'

३. 'एक थाल मोती से भरा । सबके सिर पर औंधा धरा ।
चारों ओर वह थाली फिरे । मोती उससे एक न गिरे ॥'

खड़ी बोली का कितना निखरा हुआ रूप है। इससे सहज ही में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि खड़ी बोली के कुछ गीत, कुछ पद्य अथवा यों कहिये कि कुछ तुकबंदियाँ खुसरो के बहुत पहले से चली आ रही थीं। 'भरा', 'धरा', 'उससे', 'आदि', 'मीठा', 'उड़ गया' आदि शब्दों से खड़ी बोली का अस्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। इस प्रकार खुसरो ने हिंदी-साहित्य में प्रथम बार खड़ी बोली का आदि रूप स्थिर किया और भाषा को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया। अतः स्पष्ट है कि इस काल की बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली अवश्य रही होगी, अन्यथा इन पद्य-रचनाओं में खड़ी बोली के ये शब्द देखने को नहीं मिल सकते थे।

खड़ी बोली की यह सूक्ष्मधारा प्राचीन काल में ही प्रवाहित होती रही सो भी बात नहीं है। उसका क्रम पूर्व-माध्यमिक काल में भी बराबर देखने को मिलता है। जिन मुसलमान कवियों ने व्रज और अवधी में अपनी रचनाएँ लिखीं, वे भी खड़ी बोली के शब्दों की अवहेलना नहीं कर सके। सादी और शाह वली-उल्लाह की कविताओं के कुछ अंश पीछे दिये जा चुके हैं। ध्यान में रखना चाहिए कि इन मुसलमान कवियों ने सर्व-प्रथम भारत की बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली को ही अपनाया था। यहाँ रहने के लिए ऐसा करना उनके लिए उपयुक्त भी था। खुसरो के बाद खड़ी बोली का रूप संत कवियों में देखा जा सकता है।

संत कवियों में कबीरदासजी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी साखियों और पदों की भाषा आधुनिक खड़ी बोली के बिल्कुल

समीप जा पहुँचती है। कबीर का उद्देश्य एक-मात्र जनता को सन्देश देना था। अतः उन्होंने जन-साधारण की भाषा को ही अंगीकार किया। यह उनके लिए उचित भी था। वैसे तो उनकी रचनाओं में कई भाषाओं की खिचड़ी दृष्टिगोचर होती है, लेकिन फिर भी खड़ी बोली के शब्दों का आग्रह बराबर देखा जा सकता है। देखिए—

१. 'कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ।
जे किया कछु होत है, तौ करता औरे कोइ॥'

२. 'उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥'

३. 'घर बारी तो घर में राजी, फक्कड़ राजी बनमें।
ऐंठी धोती पात्र लपेटी, तेल चुआ जुलफन में॥'

'उठा', 'उड़ा', 'से', 'मिला', 'किया', 'करता' आदि शब्दों से खड़ी बोली का आभास मिलता है। अतः इस काल में भले ही खड़ी बोली का प्राधान्य न रहा हो, लेकिन यह बात निर्विवाद सत्य है कि साहित्य की भाषा के अतिरिक्त सामान्य बोल-चाल की एक सर्वसम्मत भाषा अनन्त काल से अवश्य चली आ रही थी। इस समय की समस्त पद्य-रचनाओं पर उसी की प्रतिछाया थी।

खड़ी बोली की यह स्निग्ध काव्य-धारा प्रवाहित होती रही। आगे चलकर रहीम, सीतल, भूषण, सूदन, तोष, ग्वाल, रघुनाथ, घासीराम, कुलपतिमिश्र आदि कवियों की रचनाओं में खड़ी बोली का यही सुन्दर रूप पाया जाता है। सीतल कवि (सन् १७७३ ई०) ने 'गुलज़ार चमन' में आदि से लगाकर अन्त तक खड़ी बोली का प्रयोग किया है। भूषण (सन् १६६४-१७१६ ई०) की 'शिवाबावनी' में खड़ी बोली का यही रूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है—

(१) अब कहाँ पानी मुकतों में पाती हैं।

(२) खुदा की कसम खाई है।

(३) अफजल खान को जिन्होंने मैदान मारा।

लेकिन गंगकवि (सन् १५५६-१५७२ ई०) के 'चंद बरनन की महिमा' नामक ग्रंथ से सर्वप्रथम खड़ी बोली गद्य का सूत्रपात होने लगता है, इसलिए इन उपरोक्त कवियों की रचनाओं का गद्य की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रह जाता। फिर भी खड़ी बोली के शब्दों की प्रवृत्ति के लिए इन उदाहरणों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खड़ी बोली के गद्य की स्निग्ध काव्य-धारा खुसरो की पहेलियों और कहावतों से मनोरंजन करती हुई अकबर के समय तक उत्तरोत्तर बहती आई। अकबर के दरबारी गंग-कवि ने उसे हिंदी-साहित्य में सर्वप्रथम पद्य से पृथक् कर गद्य का रूप दिया।

: ६ :

माध्यमिक काल :—हिन्दी खड़ी बोली गद्य
(सन् १५७०–१८०० ई०)

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है हिन्दी-गद्य का श्रीगणेश गंगकवि की 'चंद-छंद बरनन की महिमा' नामक गद्य-पुस्तक से होता है। इसका रचना-काल सन् १५७० ई० है। यह पुस्तक ब्रजमिश्रित खड़ी बोली में लिखी गई है। भाषा अपरिमार्जित और अपरिष्कृत है, लेकिन इतिहास की दृष्टि से इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी भाषा का एक उदाहरण देखिए—

'सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पात साहिजी श्री दलपतिजी अकबर साहजी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।'

इस काल की दूसरी खड़ी बोली के गद्य की पुस्तक जहाँगीर के शासन-काल में 'गोरा-बादल की बात' बतलाई जाती है। लेकिन इस पुस्तक

के लिए विद्वानों में मतभेद है। खोज से पता चला है कि जटमल की यह पुस्तक पहले पद्य में थी, आगे चलकर सन् १८२३ के आस-पास हिंदी-गद्य में उसका अनुवाद हुआ था। यह गद्य में थी अथवा किसी पद्य का अनुवाद मात्र था, इसकी तह में न जाकर हमें इसकी भाषा पर विचार कर लेना चाहिए। इसमें शब्दों के शुद्ध रूप देखने को मिलते हैं, जैसे 'नमस्कार' 'सुखी' 'आनंद' आदि। देखिए—

(१) 'गुरु व सरस्वती को नमस्कार करता हूँ।'

(२) 'उस गाँव के लोग भी ब्रहोत सुखी हैं। घर घर में आनंद होता है।'

यदि 'गोरा बादल की बात' को हम गद्य की कोटि में नहीं मानें, तो पूर्व-माध्यमिक काल में हमें केवल गंग कवि की गद्य-पुस्तक से ही सन्तोष कर लेना पड़ता है। इस प्रकार इस काल में तो खड़ी बोली के गद्य का केवल बीजारोपण हो सका और कुछ भी नहीं। यह भी हमारे लिए क्या कम हर्ष की बात है?

उत्तर-माध्यमिक काल में अलबत्ता खड़ी-बोली-गद्य की कुछ पुस्तकें अवश्य दिखाई देती हैं। सन् १७४१ ई० में रामप्रसाद 'निरंजनी' ने 'भाषा योग वासिष्ठ' नामक गद्य-ग्रंथ की रचना की। इसकी भाषा बड़ी ही साफ़-सुथरी है। इससे पता चलता है कि इस काल में आकर परिष्कृत रचनाएँ होनी लग गई थीं। 'योगवासिष्ठ' की शृङ्खलाबद्ध, साधु और व्यवस्थित भाषा का यह उदाहरण देखिए—

'हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं करता, क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होंगे, तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे, तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित, रहोगे। जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगत-ज्वर होंगे और आत्म-पद को पाकर फिर जन्म-मरण के बन्धन में

न आवोगे।'

इसके पश्चात् सन् १७६१ ई० में पंडित दौलतराम ने हरिषेणाचार्य्य कृत जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया। इसकी भाषा विशेष परिमार्जित तो नहीं है, फिर भी खड़ी बोली गद्य का स्वाभाविक विकास अवश्य देखने को मिल जाता है। 'पद्मपुराण' की भाषा का स्वरूप इस प्रकार है—

'जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करे हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।'

सन् १७७३-१७८३ ई० के बीच किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक द्वारा 'मंडोवर का वर्णन' नामक पुस्तक लिखी गई। इसकी भाषा साहित्यिक न होकर सामान्य बोल-चाल की है। एक उदाहरण से यह बात विदित हो जायगी—

'अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुवा। इस लफ़ज़ का बिगड़ कर मंडोवर हुवा है।'

'सबब', 'जगे', 'लफ़ज़' आदि शब्दों से भाषा पर उर्दू-फ़ारसी का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इसी प्रकार सन् १७९३ ई० के आस-पास एक गद्य-रचना किसी अज्ञात लेखक द्वारा और लिखी कही जाती है। इसका नाम है—'चकत्ता की पातस्याही की परम्परा' ऐसी ही एक रचना 'कुतबदी साहिजादे री बात' सन् १७६० ई० के पूर्व लिखी कही जाती है। 'चकत्ता की पातस्याही की परम्परा' की भाषा राजस्थानी-मिश्रित खड़ी बोली है। उसकी भाषा का नमूना देखिए—

'पीरोजसाह पातस्याह दिली। पातस्याही करै। तिसके ज रात्र तिखरसिंध, गलत सभा, सुलतान। तिसके दरियासाह बेटा। दुसरा

महमद साह बेटा ।'

इस काल में अधिकांश समय तक खड़ी बोली गद्य की अधिक रचनाएँ देखने को नहीं मिलतीं। सम्भव है और भी लिखी गई हों, लेकिन अन्वेषण-कार्य्य के अभाव में केवल इनी-गिनी गद्य-पुस्तकों को देखकर ही रह जाना पड़ता है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, केवल 'योगवासिष्ठ' नामक गद्य-ग्रंथ की ही भाषा परिमार्जित और साहित्यिक है। अन्य गद्य-पुस्तकों के द्वारा गद्य का कोई विकास नहीं हुआ। हाँ, इतना तो अवश्य हुआ कि इन गद्य-पुस्तकों ने आगे के लिए अच्छी-खासी भूमि तैयार कर दी और लेखकों के लिए हिंदी-गद्य का द्वार खोल दिया, यह हमें निःसंकोच रूप से स्वीकार अवश्य करना पड़ेगा। इस काल के अन्तिम भाग में जाकर खड़ी बोली की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ और उसमें अच्छी-अच्छी रचनाएँ होने लगीं। ऐसे लेखकों में मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़' (सन् १७४६-१८२४) और इंशाअल्लाखाँ के नाम चिर-स्मरणीय हैं। उनसे आगे चलकर अँग्रेजों के शासन-काल में लल्लूलाल और सदलमिश्र हुए, जिन्होंने सरकार की ओर से हिंदी के लिए काम किया। इन चारों लेखकों का हिंदी-गद्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्हीं से हिंदी-गद्य का एक नूतन युग आरम्भ होता है। इसलिए मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़' और इंशाअल्लाखाँ की गद्य-सेवाओं का उल्लेख इस स्थान पर न कर इन शेष दो लेखकों के साथ ही कर दिया गया है, यद्यपि वे इसी काल के हैं।

: ७ :

हिंदी-गद्य का निर्माण-काल : फोर्ट विलियम कॉलेज के अन्दर और बाहर

(सन् १८००-१८६५ ई०)

उत्तर-माध्यमिक काल के अंतिम भाग से लेकर आधुनिक काल के आरम्भ तक खड़ी बोली की ओर लेखकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हो जाने के बाद गवर्नर जनरल वेलज़्ली के समय तक, जैसा कि इतिहास देखने से ज्ञात होगा अँग्रेजी शासकों की नीति देश से धन बटोरने की ही रही। हमारे यहाँ के रीति-रिवाजों तथा भाषा से वे लोग सर्वथा अनभिज्ञ थे। वेलज़्ली ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों के विरोध करने पर ही फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। स्थायी-साम्राज्य की स्थापना के लिए भारतवासियों के रीति-रिवाज तथा उनकी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना वेलज़्ली की दृष्टि से अनिवार्य था। अपनी विस्तृत 'मिनिट्स' में उन्होंने लिखा है कि अकेली यूरोपीय या भारतीय शिक्षा-प्रणाली ही कम्पनी के कर्मचारियों की शिक्षा और उनका चरित्र सुधारने में समर्थ नहीं हो सकती और न वे इसके द्वारा शासन-भार ही सँभाल सकते हैं। भारत में शिक्षा मिश्रित ढङ्ग की होनी चाहिए, यही बात वेलज़्ली के मस्तिष्क में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना करते समय थी। जब ४ मई, सन् १८०० ई० में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना कलकत्ते में हो गई, तो उसमें योग्य अध्यापक रखने का प्रश्न आ उपस्थित हुआ। भारतीय भाषाओं के लिए जॉन बौर्थविक् गिलक्राइस्ट (सन् १७५९-१८४१ ई०) की नियुक्ति इस कॉलेज में हुई। गिलक्राइस्ट महोदय ने हिन्दुस्तानी भाषा का यहाँ रह कर पर्याप्त अध्ययन किया था। वे कर्मचारियों को हिन्दुस्तानी का अध्ययन कराते थे और साथ ही साथ सिविलियन विद्यार्थियों की सुविधा के लिए पाठ्य-ग्रंथों की भी रचना

करते थे। वेलज़ली उनके इस कार्य पर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उन्हें फ़ारसी और हिंदुस्तानी विभाग का अध्यक्ष बना दिया। पाठ्य पुस्तकों की व्यवस्था के लिए उनकी अध्यक्षता में बहुत से मुन्शियों की नियुक्तियाँ हुई। फलस्वरूप लल्लूलाल जो अपनी आजीविका के लिए कलकत्ते में आये हुए थे, इस पद पर रख दिये गए। लल्लूलाल के बाद सदलमिश्र भी हिंदुस्तानी विभाग में अध्यापक नियुक्त हुए। इस प्रकार सन् १८०० ई० से ही इस कॉलेज में फ़ारसी, अरबी और हिंदुस्तानी भाषाओं तथा अन्य विषयों की पढ़ाई आरम्भ हुई।

लल्लूलाल और सदलमिश्र के पूर्व उत्तर-माध्यमिक काल के अंतिम भाग के दो गद्य-लेखक साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कर चुके थे। बात वास्तव में यह है कि लल्लूलाल और सदलमिश्र अँग्रेज़ों की अध्यक्षता में कार्य्य कर रहे थे और इधर मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़' और सैयद इंशा-अल्लाखाँ स्वतन्त्र रूप से गद्य-साहित्य का सृजन कर रहे थे। यदि इन चारों लेखकों को एक साथ लेकर गद्य-साहित्य के विकास पर दृष्टि डाली जाय तो हम निःसंकोच कह सकते हैं कि आधुनिक गद्य के जन्म-दाता ये ही हैं। इसी लोभ के वशीभूत होकर इन चारों लेखकों को इस अध्याय में एक साथ ले लिया गया है।

गद्य-साहित्य के इस निर्माण काल में इन लेखकों ने गद्य-साहित्य का आरम्भ कथा-साहित्य से किया है। इसका प्रमुख कारण एक-मात्र मनोरंजन है। अतः इन लेखकों की रचनाओं में भाव-प्रकाशन की बलिष्ठता, व्यंजना-शक्ति का प्रादुर्भाव और उच्च तथा महत् विचारों का गवेषणा-पूर्ण चिन्तन दृष्टिगत नहीं होता। मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज़' (सन् १७४६-१८२४ ई०) कथा का रूप लेकर हमारे सामने आते हैं। उर्दू-फ़ारसी की अनेक पुस्तकें लिखने के अनन्तर आपने हिंदी में श्रीमद्-भागवत का स्वतन्त्र रूप से 'सुखसागर' नाम का अनुवाद प्रस्तुत किया। 'योगवासिष्ठ' का-सा गद्य एक बार पुनः हमें मुन्शीजी की इस रचना में देखने को मिलता है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने मुन्शीजी के 'सुखसागर'

पर आपत्ति उठाते हुए कहा है कि यह उनके द्वारा अनुवादित नहीं है, लेकिन 'हिंदी भाषा सार' से इसकी गद्य-शैली का अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है। मुन्शीजी एक भगवद्भक्त थे, धर्म पर उनकी अटल धारणा थी। इसीलिए उनकी भाषा इतनी शान्त, गम्भीर और संयत है। 'सुखसागर' की भाषा शिष्ट समाज के व्यवहार की खड़ी-बोली है। मुन्शीजी की भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्द नहीं पाये जाते। जैसा विषय है, वैसी ही उसकी भाषा है। कहीं-कहीं पंडिताऊ प्रयोग अवश्य देखने को मिल जाते हैं। 'बात होय', 'को', 'हेतु', 'तात्पर्य' आदि शब्द इसी पंडिताऊपन के प्रमाण हैं। 'आवता-जावता' का प्रयोग अधिक किया गया है। 'तात्पर्य' 'सत्तोवृत्ति' 'प्राप्त' 'स्वरूप' आदि तत्सम शब्दों के प्रयोग से भाषा का सुनहला भविष्य यहीं से दिखाई देने लग जाता है। जिस प्रकार अरबी-फ़ारसी की मिली हुई भाषा को उर्दू कहते हैं, उसी प्रकार इस संस्कृत-मिश्रित हिंदी को उर्दू वाले 'भाखा' के नाम से पुकारने लगे। मुन्शीजी ने हिन्दू-समाज की शिष्ट-व्यवहार की भाषा को ही अपनाया, यह उनके 'सुखसागर' से स्पष्ट है। इस प्रकार हमें उनकी गद्य-शैली में खड़ी बोली के स्वतन्त्र उदाहरण देखने को मिलते हैं। संक्षेप में, मुन्शीजी ने खड़ी बोली के भावी साहित्यिक रूप का आभास इस समय में ही दे दिया। उनकी भाषा के ये उदाहरण देखिए—

(१) 'यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य उसका सत्तवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिये।'

(२) 'धन्य कहिये राजा दधीच को कि नारायण की आग्या अपने सीस पर चढ़ाई। जो महाराज की आग्या और दधीच के हाड़ का वज्र न होता तो ग्यारह जनम ताईं वृत्रासुर से युद्ध में सरबर और प्रबल न होता और न जय पावता।'

सैयद इंशाअल्लाखाँ ने सन् १७९८-१८०३ ई० के बीच में हिन्दी-गद्य की 'उदयभानचरित' या 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। अब तक के गद्य-साहित्य में यह एक नवीन आयोजन है। मुन्शीजी गद्य में कथा का रूप लेकर आगे आये थे, खाँ साहब ने उसे कहानी का रूप दिया। खाँ साहब मौजी आदमी थे। उनकी रचनाएँ प्रायः मनो-विनोद के लिए हुआ करती थीं। उनकी मनोवृत्ति ठेठ हिन्दी लिखने की ओर ही थी, उनके स्वयं के शब्दों में ही देखिए—

'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने डाँग, बूढ़े धाग यह खटराग लाये। सिर हिलाकर, मुँह थुकाकर, नाक भौं चढ़ाकर, आँखें फिराकर कहने लगे—यह बात होते दिखाई नहीं देती, हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो, बस जैसे भले लोग अच्छे-से-अच्छे आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहै और छाँह किसी की न हो, यह होने का नहीं।'

अतः खाँ साहब के गद्य में हमें शब्दों का तद्भव रूप देखने को मिलेगा। देशज रूप में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। प्रथम—बाहर की बोली के शब्द, जैसे अरबी, फ़ारसी और तुरकी। द्वितीय—देहाती या गँवारी बोली के शब्द, जैसे व्रज-भाषा, अवधी आदि के। तृतीय—भाखापन, अर्थात् संस्कृत के शब्दों का मेल। कहने का अभिप्राय यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम विशुद्ध हिंदवी में लिखने का प्रयत्न किया। लेकिन इस समय मुसलमानों की अरबी-फ़ारसी भाषा का प्रभाव उर्दू-रचनाओं पर पड़ रहा था। प्रथम तो, उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों का तत्सम रूप में अधिकता से प्रयोग होता था। द्वितीय, उर्दू पर फ़ारसी के व्याकरण का बढ़ता हुआ प्रभाव था, जैसे बहुवचन

का रूप प्रायः फ़ारसी के अनुसार होता था। तृतीय, संबंध, करण, अपादान और अधिकरण कारकों की विभक्तियाँ हिंदी के अनुसार न होकर फ़ारसी के शब्दों या चिन्हों द्वारा प्रदर्शित की जाती थीं। चतुर्थ, वाक्य-विन्यास का ढङ्ग उलटा हो रहा था। हिन्दी में पहले कर्ता, तब कर्म और अन्त में क्रिया होती है; पर उर्दू में इस क्रम में उलट-फेर होता है। इंशाअल्लाख़ाँ के गद्य पर इसी चतुर्थ फ़ारसी ढङ्ग की वाक्य-विन्यास की प्रणाली का प्रभाव पड़ा है, लेकिन बहुत ही कम, जैसे 'रानी केतकी की कहानी' के आरम्भ ही में देखिए—

(१) 'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया'।

(२) 'इस सिर झुकाने के साथ ही दिन-रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को'।

भाषा को कला के रूप में ग्रहण करने वाले इंशाअल्लाख़ाँ ने यद्यपि अधिकांश ठेठ हिन्दी के शब्दों को अपनाया है, पर उर्दू मुहावरों का प्रयोग भी अधिकता से किया है। इसका कारण यह है कि वे इसके पूर्व उर्दू में कविता लिखते थे, इसलिए भाषा की मनोहरता की ओर उनका ध्यान अधिक गया। वे उर्दू की चपलता और चंचलता हिन्दी में भी लाये। 'सिर मुंडाते ही ओले गिरना' 'दाल में काला' 'बात पर पानी डालना' आदि मुहावरों के प्रयोग से उन्होंने हिन्दी-गद्य की विकास-माला को एक सुन्दर, सुगन्धित और रंग-बिरंगा पुष्प दिया है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसीलिए 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा चंचलता और सजीवता लिये हुए है। वह चटकती-मटकती हुई पाठकों का मन-बहलाव करती रहती है। उर्दू शायरों की सी यह चुलबुलाहट देखिए—

'ना जी, यह तो हमसे न हो सकेगा, जो महाराज जगत परकास और महारानी कामलता का हम जान-बूझकर घर उजाड़ें और उनकी

जो इकलौती लाड़ली बेटी है उसको भगा ले जावें और जहाँ-तहाँ उसे भटकावें और बनासपत्ती खिलावें और अपने चोंडे को हिलावें जब तुम्हारे और उसके माँ-बाप में लड़ाई हो रही थी और उन्ने उस मालिन के हाथ तुम्हें लिख भेजा था जो मुझे अपने पास बुलालो, महाराजों को आपस में लड़ने दो, जो होनी हो सो हो, हम तुम मिलके किसी देस को निकल चलें—उस दिन न समझीं। तब तो वह ताव-भाव दिखाया'।

सानुप्रास विराम (वाक्यों के अंत में तुक मिलना) इंशा के गद्य की विशेषता है, जैसे—'जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन-भादों के रूप रोने लगी और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा'।

आधुनिक हिन्दी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, पर उनमें वचन-सूचक चिन्ह नहीं रहते। प्राचीन उर्दू में यह बात नहीं थी—उसमें वचन-सूचक चिन्हों का प्रयोग होता था इंशा ने भी ऐसे प्रयोग किये हैं और यह उनके गद्य की एक विशेषता है। उदाहरणार्थ 'आतियाँ-जातियाँ जो साँसें हैं। उसके बिन ध्यान यह सब फाँसे हैं'। यह अपभ्रंश-काल की-सी प्रवृत्ति है।

इंशाअल्लाख़ाँ ने शब्दों के बहुवचन प्रायः व्रजभाषा के अनुसार बना लिये हैं। क्रिया-पदों में भी व्रजभाषा की छाप मिलती है। कहीं-कहीं व्रजभाषा की विभक्तियों का भी प्रयोग हुआ है। सारी पुस्तक घरेलू ठेठ भाषा के समान आनन्द प्रदान करती है—

'इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से

कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी'।

हिन्दवीपन की प्रतिज्ञा के पालन करने में, इंशाअल्लाख़ाँ कहाँ तक सफल हो सके हैं, यह ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है।

सदासुखलाल और इंशाअल्लाख़ाँ के गद्य-साहित्य की संक्षिप्त समीक्षा के अनन्तर अब हम कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के दो भारतीय अध्यापक—लल्लूलाल और सदलमिश्र की गद्य-सेवाओं का उल्लेख करेंगे। ये दोनों अध्यापक अंग्रेज़ अफ़सर गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में कार्य कर रहे थे। लल्लूलाल (सन् १७६३-१८२५ ई०) ने सन् १८०३ ई० में भागवत के दशम स्कंध की कथा को लेकर 'प्रेमसागर' नामक पुस्तक लिखी। 'प्रेमसागर' का मुख्य आधार चतुर्भुजदास कृत दशम स्कंध का पद्यानुवाद है, जो व्रजभाषा में लिखा गया था। इसीलिए 'प्रेमसागर' पर व्रजभाषा का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है और कहीं-कहीं कृत्रिमता भी लक्षित होती है। साहित्यिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण रचना नहीं है। इसका प्रयोजन केवल हिन्दुस्तानी भाषा के लिए मुहावरों की पूर्ति करना तथा सिविलियन विद्यार्थियों को भारतीय रहन-सहन और उनके रीति-रिवाजों का ज्ञान कराना था। इस दृष्टि से भी वह सफल नहीं बन पड़ी। 'प्रेमसागर' की भाषा में लेखक ने अरबी-फ़ारसी के शब्दों से बचने का प्रयत्न अवश्य किया है, लेकिन फिर भी अनजान में, 'बैरख' (झंडा) जैसे विदेशी तुर्की शब्दों का प्रयोग अवश्य देखने को मिलता है—'शिवजी ने एक ध्वजा बाणासुर को देके कहा इस बैरख को ले जाय'। सच तो यह है इसकी भाषा चतुर्भुजदास की भाषा का प्रतिरूप होने के कारण उसमें गद्य-शैली का कोई विकास नहीं दिखाई देता। कथा-वार्ताओं के लिए यह शैली अधिक उपयुक्त हो सकती है, हिन्दी-गद्य के लिए नहीं। 'सोई' 'भई' 'कीजै' 'लीजौ' ऐसे शब्दों का प्रयोग बराबर हुआ है। गंग कवि की भाषा भी कुछ ऐसी ही थी, लेकिन जहाँ गंग ने अपने गद्य को प्रचलित अरबी-फ़ारसी

के शब्दों से सँवारा है, वहाँ लल्लूलाल ने उसे इन प्रयोगों से दूर रक्खा है। भाषा अनियंत्रित और अव्यवस्थित है। शब्द-चयन अवश्य सुन्दर बन पड़ा है। तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया गया है। कहीं-कहीं तुकबंदी भी देखने को मिलती है। वाक्यांश ऐसे बन पड़े हैं कि जिनमें क्रम-बद्धता का ह्रास हो गया है। 'प्रेमसागर' का यह उदाहरण देखिए—

'इतनी कथा कह शुकदेव जी राजा परीक्षित से कहने लगे कि राजा, जब पृथ्वी पर अति अधर्म होने लगा तब दुख पाय घबराय गाय का रूप बन राँभती देवलोक में गई और इन्द्र की सभा में जा सिर झुकाय उसने अपनी सब पीर कही कि महाराज, संसार में असुर अति पाप करने लगे, तिनके डर से धर्म तो उठ गया और मुझे आज्ञा हो तो नरपुर छोड़ रसातल को जाऊँ'।

लल्लूलाल की दूसरी कृति 'राजनीति' (सन् १८०२ ई०) है जो ब्रजभाषा में लिखी गई है। यह रचना भी असम्बद्ध और शिथिल है। उनके 'बैताल पच्चीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' नामक ग्रंथों की भाषा रेख़ता या हिन्दुस्तानी या उर्दू है। गिलक्राइस्ट जिस भाषा के पक्षपाती थे, उस भाषा का रूप इन दो कृतियों में देखा जा सकता है। मुसलमान और मुसलमानी दरबार के हिन्दू इस भाषा का प्रयोग करते थे। यह भाषा जन-साधारण से दूर थी।

लल्लूलाल के साथी सदलमिश्र ने सन् १८०३ ई० में 'चन्द्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इसकी भाषा साफ़-सुथरी न होने पर भी व्यावहारिक है। जहाँ तक बन पड़ा है, उसमें खड़ी बोली के शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। उर्दू शब्दों से दूर रहने का लेखक ने अपनी ओर से कोई प्रयास नहीं किया, इसलिए स्वाभाविकता पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने पाई है। मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है, जिससे भाषा में मनोहरता गई है। ब्रजभाषा के रूप और पूर्वी बोली के शब्दों का भी

प्रयोग स्थान-स्थान पर किया गया है। जैसे 'फूलन्ह के बिछौने' 'चहुँदिस' 'सुनि' 'सोनन्ह के थंभ' 'इहाँ' 'मतारी' 'बरते थे' 'बाजने लगा' 'जौन' आदि। पूर्वकालिक क्रियाओं के लिए उन्होंने ब्रजभाषा के रूप अपनाये हैं। 'पूजा करके' के स्थान पर 'पूजा करि' आदि। 'र' को 'ड' बोलने वाली बिहार की प्रवृत्ति का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है जैसे 'गाड़ी' का 'गारी' 'घोड़ा' का 'घोरा' आदि। 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा में एकरूपता का अभाव है। कहीं-कहीं भाषा गठीली और परिमार्जित है, तो कहीं-कहीं अशक्त और शिथिल। लेकिन इतना होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि लेखक के भाव-प्रकाशन की पद्धति अपूर्व है। उदाहरण देखिए—

(१) 'सुनते ही वे मंत्रियों को साथ ले दौड़े हुए आए। आवते ही मुनि के चरणों पर गिर पड़े और हाथ पकड़ भीतर ले जा अपने सिंहासन पर बैठाय कुशल क्षेम पूछ गंगाजल ले ऋषि के पाँव पखार चरणोदक लिए। और जैसा कुछ चाहिए, वैसा आदर मान-कर हाथ जोड़ कहने लगे कि महाराज! बड़ा अनुग्रह किया जो आके दर्शन दिया। अब हमारी सब क्रिया वो जन्म सुफल हुआ'।

(२) 'जो नर चोरी आदि नाना भाँति के कुकर्म में आप तो दिन-रात लगे रहते हैं, तिस पर भी औरों को दूखते हैं, वो एक अक्षर भी जिससे पढ़ते हैं तिसे गुरु के बराबर नहीं मानते हैं, सो तब तक महा नरक को देखते हैं कि जब तक यह संसार बना रहता है, और जो दुष्ट गुरु को बादकर हराते व डाटते हैं, पिता, माता, गुरु से व्यर्थ बैर करते हैं, वे सब विसी नरक में पड़ते हैं, कि जहाँ ब्राह्मण के वध करने वाले जाते हैं। इसलिये माता पिता गुरु को कदहीं कोप न करावेंगे कि जिससे ऐसे ऐसे संकट को भोगेंगे'।

जैसा कि हम जानते हैं देश की भाषा-विषयक जानकारी के लिए ही फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई थी और उसमें हिंदुस्तानी विभाग भी इसी दृष्टि से खोला गया था, पर सदलमिश्र का 'नासि-

केतोपाख्यान' लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' से कई गुना अधिक महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ होने पर भी वह पाठ्य-क्रम में शामिल नहीं किया गया। इससे स्पष्ट है कि अंग्रेज़ हिंदी-गद्य में रुचि नहीं ले रहे थे। जिन विद्वानों ने गिलक्राइस्ट महोदय को नवीन गद्य-भाषा का जन्मदाता कहा है, वह कथन सर्वथा असत्य और निराधार है। गिलक्राइस्ट नहीं तो कम्पनी अल्प समय में ही इस बात को जान गई कि हिंदी का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है, और इसके पूर्व जिन भाषाओं द्वारा साहित्य-सृजन होता था, उसमें हिंदी का एक बहुत बड़ा हाथ है। हिंदी ही इस देश की सर्वसम्मत भाषा है, उसके बिना काम नहीं चल सकता। इसके फलस्वरूप सन् १८२४ ई० में कॉलेज के पाठ्य-क्रम में हिंदी को विशेष रूप से पृथक् स्थान दिया गया। लेकिन जब तक गिलक्राइस्ट अपने पद पर रहे, तब तक भाषा सम्बन्धी उनकी वही नीति बनी रही। सन् १८५४ ई० में आगे चलकर इसीलिए फ़ोर्ट विलियम कॉलेज बन्द कर दिया गया।

कॉलेज के अतिरिक्त कम्पनी-सरकार ने एक ऐसी शिक्षा-योजना बनाई थी, जिसके अनुसार सन् १८१७ ई० में 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी' और सन् १८३३ ई० में 'आगरा स्कूल बुक सोसायटी' की स्थापना हुई। इनमें अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ-साथ हिंदी, उर्दू आदि भाषाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। इन संस्थाओं ने शिक्षा सम्बन्धी अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया, जिनमें 'गृह-मण्डल का संक्षेप वर्णन' 'रेखा गणित' 'पदार्थ-विद्यासार' 'शिक्षा संग्रह' 'मिस-बर्ड का इंग्लैंड का वर्णन' 'कहानियों की पोथी' 'आदम साहब का व्याकरण' आदि मुख्य हैं। सन् १८४६ ई० में 'शिष्य बोधक' के नाम से 'ईसप्स फ़ेबिल्स' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। इन समस्त पुस्तकों में गद्य-लेखकों ने सौभाग्य से विशुद्ध हिंदी का प्रयोग किया है। इनके द्वारा हमारे हिंदी-गद्य को विशेष प्रोत्साहन मिला और तत्कालीन सभी गद्य-रचनाओं में भाषा का यही शुद्ध रूप दृष्टिगत होता है।

हिंदी-गद्य के जिन चार जन्मदाताओं का परिचय ऊपर कराया गया है, उनमें मुन्शी सदासुखलाल का एक विशेष स्थान है। लल्लू-लाल और सदलमिश्र सरकारी पद पर होने के कारण सरकार की नीति का अनुशीलन करते रहे, उनके द्वारा गद्य का विकास न हो सका। फिर लल्लूलाल की भाषा कृत्रिमतापूर्ण थी। वह प्रमुख रूप से पद्य का गद्यानुवाद-मात्र है। इंशाअल्लाखाँ की भाषा कुदकती-फुदकती हुई है। वह कहानियों के लिए भले ही उपयुक्त हो, लेकिन व्यवहारोपयोगी नहीं हो सकती। सदलमिश्र की भाषा कुछ-कुछ गद्य के अनुकूल अवश्य बन पड़ी है, इसलिए केवल उनकी समानता ही मुन्शी जी से हो सकती है। पर सदलमिश्र की भाषा का रूप सर्वत्र एक-सा नहीं दिखाई देता। इसलिए केवल मुन्शी सदासुख-लाल ही एक ऐसे गद्य-लेखक रह जाते हैं, जिनमें आधुनिक खड़ी बोली के दर्शन होते हैं। आधुनिक गद्य का पूर्वाभास उन्हीं में होता है, अतः हिंदी-गद्य का प्रवर्त्तन यथार्थ में उनके द्वारा ही हुआ, यह हमें मान लेना चाहिए।

(आ) हिन्दी-ईसाई-गद्य—

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हो जाने के बाद गद्य-साहित्य की जो उन्नति होने लगी, उसका सबसे अधिक लाभ ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने उठाया। इन ईसाई-धर्म-प्रचारकों का एक-मात्र उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था, हिंदी-गद्य की उन्नति की भावना उनमें लेश-मात्र भी नहीं थी। वैसे तो ये लोग सन् १२०० ई० से ही भारत में आने लग गये थे, लेकिन सन् १८०० ई० तक भारत में ईसाई धर्म का अधिक प्रचार न हो सका। जनता इन लोगों पर विश्वास नहीं करती थी, क्योंकि ये लोग जिस धर्म की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते थे, वह भारतीय आदर्शों के अनुकूल नहीं था। इसके अतिरिक्त कम्पनी-सरकार की भी नीति भारत के धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप करने की नहीं थी, क्योंकि ऐसा करने से उसे इस बात का

भय था कि कहीं हमारी बनी बनाई इमारत गिर न जाय । इसलिए उसने इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे आवश्यक नियम बना दिये, जिसके अनुसार कम्पनी का कोई भी कर्मचारी न तो भारतीय धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप कर सकता था और न बाहर से ही कोई आदमी धर्म-प्रचार के उद्देश्य से भारत में आ सकता था । इस प्रकार ईसाई-धर्म-प्रचारकों पर एक प्रकार से राजकीय प्रतिबंध लगा हुआ था जिससे वे कुछ नहीं कर सकते थे । लेकिन सन् १८१२ ई० के 'विल्फ़ोर्स ऐक्ट' ने इस नियम की कायापलट कर दी । अब वे स्वतन्त्र होकर अपना यह कार्य करने लगे । वे जन-साधारण की भाषा में जगह-जगह व्याख्यान देने लगे और कालान्तर में भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े नगरों में उन्होंने अपने केन्द्र स्थापित कर दिये ।

ईसाई-धर्म-प्रचारकों द्वारा भाषा-साहित्य का काम विलियम केरे (William Carey) से आरम्भ हुआ, जो भारतवर्ष में सन् १७९३ ई० में आये । उनका और उनके साथियों का प्रधान उद्देश्य ईसाई-धर्म और बाइबिल का प्रचार करना ही था । इन दोनों साध्यों के लिए उन्होंने विविध साधनों का प्रयोग किया । केरे ने सर्वप्रथम बंगला में धर्म-ग्रंथों का अनुवाद किया । सन् १८०१ ई० में 'नए धर्म नियम' (New Testament) का अनुवाद प्रकाशित हुआ । सन् १८०२ ई० में इसी 'नए धर्म नियम'(New Testament) का हिंदी-अनुवाद किया गया । साथ ही सन् १८०१-१८३२ ई० के बीच केरे और अनेक अंग्रेज़ पादरियों ने इंजील का अनुवाद उत्तर भारत की समस्त प्रांतीय भाषाओं में किया । श्री रामपुर में विलियम केरे, मार्शमैन और वॉर्ड द्वारा डेनिश मिशन की स्थापना से छोटी-मोटी अनेक पुस्तकों तथा पैम्फ़लेटों का प्रकाशन जारी रहा । ऐसा कहा जाता है कि केरे ने स्वयं बाइबिल का अनुवाद किया था । यह पूरा अनुवाद १८१८ ई० में छपकर प्रकाशित हुआ । इन धर्म-प्रचारकों ने सदासुखलाल और लल्लू-लाल की भाषा को ही अपना आदर्श माना । इनके संस्मरणात्मक

लेखों से पता चला है कि उनके 'हिन्दी' या 'हिन्दूई' शब्दों से उनका तात्पर्य हिन्दुस्तानी से था, जो कि सर्वसाधारण द्वारा काम में लाई जाती थी। धर्म-प्रचार के लिए इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना उन्होंने उचित समझा। बाइबिल के अनुवाद में जो विचित्रता देखने को मिलती है, वह विदेशी भाषा के अनुवाद करने से उत्पन्न हुई है। इस अनुवाद में इन लोगों का ध्यान ठेठ बोलचाल और व्यवहार के शब्दों की ओर अधिक गया है। अरबी, फ़ारसी, उर्दू आदि शब्दों का प्रयोग यथासम्भव कम किया गया है। मूल वाक्य-रचना तथा शैली अंग्रेज़ी में होने के कारण अनुवादित भाषा में वाक्य-संगठन शिथिल दिखाई पड़ता है। इसमें 'करने वाले' के स्थान पर 'करन हारे' 'तक' के स्थान पर 'लौं' आदि शब्द प्रयोग में लाये गये हैं। 'आय-जाय' की जगह 'आके-जाके' से ही काम चलाया गया है। ग्रामीण शब्द भी स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं। कहीं-कहीं विभक्तियों के चिन्ह छोड़ दिये गये हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) 'तब यीशु ने तुरन्त अपने शिष्यों को दृढ़ आज्ञा दिई कि जब लौं मैं लोगों को बिदा करूँ तुम नाव पर चढ़ के मेरे आगे उस पार जाओ। वह लोगों को बिदाकर प्रार्थना करने को एकान्त में पर्व्वत पर चढ़ गया और साँझ को वहाँ अकेला था। उस समय नाव समुद्र के बीच में लहरों से उछल रही थी क्योंकि बयार सन्मुख थी'।

(२) 'यीशु बपतिस्मा लेके तुरंत जल के ऊपर आया और देखो उसके लिए स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ'।

सन् १८२० ई० और सन् १८४८ ई० में इन लोगों के द्वारा क्रमशः 'चर्च-मिशनरी सोसायटी' और 'नॉर्थ इण्डिया क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐण्ड बुक सोसायटी' की स्थापना हुई, जिनके द्वारा भी उनकी धार्मिक पुस्तकों, पैम्फ़लेटों तथा पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन होता रहा। श्रीरामपुर में

ईसाइयों के प्रेस की स्थापना हो ही चुकी थी, इसलिए उनकी धार्मिक बातों का प्रचार शीघ्रता से होता था। सन् १८२६ ई० के आस-पास इसी प्रेस से 'दाउद की गीतें' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसकी भाषा अशुद्ध और अपरिमार्जित है। अशुद्ध मुहावरों तथा व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ तो स्थान-स्थान पर पाई जाती हैं। इसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। देखिए—

'बदकारों की तरफ से मत कुढ़ वा अधर्मियों को देखके मत जल॥ क्योंकि वे घास के ऐसे जल्दी काटे जाँगे वा हरी घास के ऐसे मुर्झाय जांगे। यिहुद में भरोसा रख वा भला काम कर देश में रह वा सत्य को भोगा कर॥ यिहुद में सन्तुष्ट हो वा तेरे हिया की बांछा तुझे देगा'।

हिन्दी-गद्य में सर्वप्रथम पाठ्य-पुस्तकों की रचना का श्रेय इन्हीं धर्म-प्रचारकों को है। आगरा, मिर्ज़ापुर, मुँगेर आदि स्थानों में इनके केन्द्र थे। वहाँ स्कूलों और अस्पतालों की भी स्थापना हुई। स्कूलों के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार करवाई गई। आगरे में 'स्कूल बुक्स सोसायटी' के नाम से एक प्रकाशन-संस्था खुली। सन् १८३७ ई० में इस सोसायटी के द्वारा इंग्लैंड का इतिहास और सन् १८३९ ई० में मार्शमैन साहब के 'प्राचीन इतिहास का अनुवाद' 'कथासार' के नाम से प्रकाशित कराया गया। 'कथासार' के अनुवादक पंडित रतनलाल थे। अनुवाद की भाषा विशुद्ध और पंडिताऊ है। 'की' के स्थान पर 'करी' और 'पाते हैं' के स्थान पर 'पावते हैं' आदि का प्रयोग देखने को मिलता है। भाषा इस प्रकार की है—

'परन्तु सोलन की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओं से विरोध-भंजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिए प्रजा की सहायता से पिसिस ट्रेटस नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और बुद्धिमानों में अग्रगण्य था'।

'स्कूल बुक्स सोसायटी' के ही अन्तर्गत सन् १८४० ई० में पंडित ओंकार भट्ट ने 'भूगोलसार' और सन् १८४७ ई० में पंडित बद्रीलाल शर्मा ने 'रसायन प्रकाश' की रचना की। कलकत्ते में भी 'स्कूल-बुक-सोसायटी' खुली और सन् १८४६ ई० में वहाँ 'पदार्थ विद्यासार' जैसी वैज्ञानिक पुस्तकें लिखी गईं। कुछ रीडरें भी लिखी गईं, जिनमें 'आजमगढ़ रीडर' मुख्य है। इसी प्रकार ईसाइयों ने मिर्ज़ापुर में एक 'आरफ़ेन प्रेस' खोला और उसके द्वारा भूगोल, इतिहास, विज्ञान, रसायन शास्त्र आदि विषयों पर पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित की गईं। आगे चलकर हिन्दी में इन लोगों के द्वारा भजन आदि भी लिखे गए। सन् १८५० ई० तक का हिन्दी-ईसाई-गद्य श्रीरामपुर-मिशन में आग लग जाने और सन् १८५७ ई० की राज्य-क्रांति से नष्ट हो चुका है। अतः हमें केवल इसी सामग्री से सन्तोष कर लेना पड़ता है।

सन् १८५० ई० से बाद का हिन्दी-ईसाई-गद्य क्रम-बद्धता की दृष्टि से आगे हरिश्चन्द्र-युग के साथ आना चाहिए, लेकिन समग्र ईसाई-गद्य को एक साथ समझने के लोभ से इसको पृथक् न कर यहीं जोड़ दिया जाता है।

सन् १८५० ई० के पूर्व हिन्दी में जो बाइबिल का अनुवाद हुआ, उसके बाद भी नये-पुराने अनुवाद प्रकाशित होते रहे। सन् १८५४ ई० में 'नॉर्थ इण्डिया ट्रैक्ट ऐण्ड बुक सोसायटी' ने 'हिस्ट्री ऑफ दी बाइबिल' जो बार्थ द्वारा लिखी गई थी, हिन्दी में 'धर्म पुस्तक का इतिहास' के नाम से अनुवाद प्रकाशित कराया। इसी प्रकार सन् १८७४ ई० में 'नए धर्म नियम' (New Testament) का दूसरा अनुवाद 'प्रभु यीशु खीष्ट का सुसमाचार' के नाम से हुआ। इस प्रकार के विभिन्न अनुवाद समय-समय पर होते रहे।

बाइबिल के इन अनुवादों के अतिरिक्त अपने धर्म के प्रचार के लिए इन लोगों ने और भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं। ये लोग इन पुस्तकों को बिना दामों जनता में वितरण करते रहते थे। इन पुस्तकों

में उन्होंने हिन्दू-धर्म को नीचा बतलाते हुए अपने धर्म की श्रेष्ठता बतलाई है। यथार्थ में वे इसकी तुलना क़ुरान और पुराणों से कर जनता को यह बात स्पष्ट कर देना चाहते थे कि ईसाई-धर्म के अतिरिक्त और कोई धर्म इस संसार में उच्च तथा श्रेष्ठ नहीं है। इन पुस्तकों ने निम्न-वर्ग के लोगों पर एक ऐसा जादू कर दिया कि वे अपने धर्म को छोड़-कर उनका धर्म स्वीकार करने लगे। इन पुस्तकों के प्रकाशन का भार उनके द्वारा स्थापित की गईं विभिन्न संस्थाओं ने ले लिया और यह कार्य बड़ी तेज़ी से चलने लगा। अब आगरा, इलाहाबाद, सिकन्दरा, बनारस, फ़रु़ख़ाबाद आदि बड़े-बड़े शहरों में इनके छापाखाने खुल गये थे और प्रायः उत्तरी-भारत के सभी बड़े-बड़े नगरों में उनकी संस्थाओं के दफ्तर थे। अतः उनके इस कार्य में किसी प्रकार की कमी नहीं रहने पाई। इसलिए थोड़े ही समय के भीतर असंख्य पुस्तकें प्रकाशित हो गईं। उदाहरण के लिए यहाँ उनकी 'धर्म पुस्तक का इतिहास' और 'योग वैराग्य तीर्थ तपस्या का वृत्तान्त' में से क्रमशः दो गद्य के नमूने जो सन् १८७८ ई० के हैं, दिये जाते हैं—

(१) 'परमेश्वर ने अपने बचन से स्वर्ग और पृथिवी को सिरजा परमेश्वर ही अनादि और सर्वशक्तिमान है वुह जो चाहे सो कर सकता है उसने न चाहा कि स्वर्ग और पृथिवी और उनके समस्त बिभव एक ही बेर प्रगट हों परन्तु धीरे-धीरे प्रगट और सिद्ध हो क्योंकि उसने प्रथम ही से सबका ठिकाना गिन्ती माप और तौल ठहराया था सो परमेश्वर ने छः दिन में स्वर्ग और पृथिवी को उत्पन्न किया'।

(२) 'वह तुम्हारे देवतों के समान नहीं है जो मर मिटे हैं रामचन्द्र सरजू नदी में लक्ष्मण के शोक के मारे डूब मरा—कृष्ण प्रभास तीर्थ के बन में भील के शर से मारा गया। ब्रह्मा का शिर शिव ने काटा—विष्णु को शिव जो उसके काले बाल का अवतार था निगल गया। शिव ने भीमसेन के डर के मारे हिमालय में प्राण तजा। इस रीति सब देवते जिन पर तुम मुक्ति की आशा रखते हो मर मिटे'।

इस प्रकार की अनेक पुस्तकें लिखी गईं जैसे—'धर्माधर्म परीक्षा', 'मत परीक्षा', 'स्त्रियों का वर्णन', 'मूर्त्ति पूजा का वृत्तान्त', 'निर्मल जल', 'केशवराम की कथा', 'धर्मतुला', 'ऋण विचार', 'गुरु परीक्षा', 'हिन्दू धर्म का वर्णन', ''धर्म पुस्तक' आदि-आदि। इन सब में उन लोगों ने अपने धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।

बाइबिल के अनुवाद और इन छोटी-मोटी असंख्य पुस्तकों की भाषा ईसाई-धर्म-प्रचारकों को इस बात का तो प्रमाण-पत्र दिलवा सकती है कि उन्होंने केवल थोड़े समय के भीतर ही हिन्दी-भाषा को सीख लिया और वें इसमें लिख-पढ़ भी सकते थे, लेकिन इस बात का नहीं कि उनके द्वारा गद्य-साहित्य के विकास की उन्नति हुई। इनमें तो हमें हिन्दी-गद्य की एक झाँकी-मात्र मिलती है, चित्र नहीं। उन्हें केवल अपने धर्म-प्रचार से मतलब था, हिन्दी-गद्य की भाषा से तो कोई लेना-देना नहीं था, इसीलिए साहित्यिक सौंदर्य और भाषा की छटा इनमें नहीं है। जो कुछ है वह है भाषा में कृत्रिमता, विचित्र प्रयोग, शिथिल और असम्बद्ध वाक्य, व्यर्थ के शब्द तथा मुहावरों का खटकने वाला प्रयोग।

लेकिन हाँ, ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त इतना तो हमें मानना पड़ेगा कि उनका गद्य अत्यन्त सीधा और सरल था। एक चलती हुई भाषा में अपने भावों को तर्क के साथ अभिव्यक्त करना उन्हें खूब आता था। अधिक से अधिक उनकी यही देन है। कहीं-कहीं उनके गद्य में ऐसे उदाहरण भी देखने को मिलते हैं, जिनमें भाषा सम्बन्धी दोष अपेक्षाकृत कम पाये जाते हैं। लेकिन ऐसे अंश बहुत ही कम हैं। 'सतमत निरूपण' (सन् १८६५ ई०) का यह उदाहरण देखिए—

'....मैं बुरा तो हूँ परन्तु देवताओं से बुरा नहीं हूँ बरन उनसे कहीं भला हूँ शिव के समान जाति से अनादर और अप्रतिष्ठित नहीं हुआ और ब्रह्मा की नाईं कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया और विष्णु के समान पराई स्त्री को नहीं ठगा और उनके अवतारों की रीति

प्रतिज्ञा भंजक और निर्दोषियों का घातक और नास्तिक मत और अधर्म का उपजायक नहीं हुआ और इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया कुछ-कुछ पाप जो मुझसे हुआ हो सो शास्त्र-पुराण की रीति से कुछ बड़ी बात नहीं है यदि कहीं झूठ बोला हूँ तो गौ ब्राह्मणों को उसमें कुछ लाभ होगा....'

अन्त में हमें यही कहना पड़ेगा कि यद्यपि ईसाई-धर्म-प्रचारकों के द्वारा लिखे गये गद्य की भाषा शिथिल और व्याकरण सम्बन्धी दोषों से भरी हुई थी और हिन्दी-गद्य की उन्नति की भावना उनमें लेश-मात्र भी नहीं थी, तथापि हिन्दी-गद्य के विकास में उनका एक प्रशंसनीय हाथ अवश्य रहा है। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों तथा नागरी-लिपि के सुन्दर टाइप के अभावों की पूर्ति हिंदी-साहित्य में सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा हुई, जिससे आगे गद्य-साहित्य के विकास में एक विशेष सहायता मिली। इसका यह अर्थ निकालना कि इनके द्वारा हिन्दी-गद्य की उन्नति और पुष्टि हुई, अपनी अल्पबुद्धि का परिचय देना है। हिंदी-गद्य के विकास का प्रधान कारण समय का तकाज़ा था, समय और परिस्थितियों का हेर-फेर था; ईसाई-धर्म-प्रचारकों के द्वारा दी गई वस्तुएँ उस विकास की साधन-मात्र थीं, साध्य नहीं, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। अब तक जो हिंदी-गद्य का विकास तीव्र-गति से नहीं हो पाया था, उसका प्रधान कारण प्रेस का अभाव था, शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें तैयार नहीं हो सकी थीं और नागरी लिपि का टाइप नहीं मिल पाया था। जब ये वस्तुएँ हमें एकसाथ मिल गईं, तो गद्य का कार्य एक नये सिरे से वेग के साथ आरम्भ होने लग गया। इस दृष्टि से ईसाई-धर्म-प्रचारकों का हम आभार मान सकते हैं और किसी बात के लिए नहीं।

: ६ :

(इ)' भाषा सम्बन्धी प्रस्ताव और ईसाई-गद्य की प्रतिक्रिया

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हो जाने के बाद भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव दृढ़ होती गई। सन् १८४९ ई० में सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। भारतवासी अपने स्वातंत्र्य-सुख से सर्वदा के लिए वंचित हो गये। अंग्रेज़ों की शासन-सुधार सम्बन्धी नीति से यहाँ की जनता में असन्तोष की लहर स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। सन् १८५७ ई० में राज्य-क्रांति हुई, लेकिन भारत के भाग्य में गुलामी ही बदी थी, इससे कोई सन्तोषजनक हल न निकल सका। सन् १८५८ ई० में भारत का शासन-सूत्र इङ्गलैंड की सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और यहाँ शासन-भार सम्हालने के लिए उसने अपनी ओर से एक 'वाइसराय' भेजना आरंभ किया। इनके आने से अनेक क़ानून (Act) पास किये गये, जिनका सम्बन्ध राजनीति और धर्म से था। ऐसे क़ानूनों (Acts) में सन् १८६१ ई० के 'इण्डियन कौंसिल एक्ट', सन् १८७८ ई० के 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' और सन १८९१ ई० के 'सहवास क़ानून' (Age of Consent Act) आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इन सुधारों के साथ ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज के विभिन्न आन्दोलनों के कारण भी जनता का ध्यान समाज-सुधार की ओर गया। विज्ञान की यथेष्ट उन्नति हो चुकी थी और इसलिए भारतवासियों का सम्पर्क अन्य प्रान्तों से उत्तरोत्तर गाढ़ा होने लगा। इसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी पड़ा, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-धर्मरूपी सूर्य अस्त होने लग गया। हिंदू-धर्म और समाज अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आकर एक प्रकार से खतरे में पड़ गया। नवीन-शिक्षा की योजना के अनुसार तो यहाँ के लोगों को बड़ी पीड़ा हुई। अंग्रेज़ी-शिक्षा के अनिवार्य

हो जाने और अदालत की भाषा उर्दू हो जाने से साहित्यिक-जगत में कई दिनों तक उदासी के बादल मँडराते रहे। साथ ही, हिन्दी-लेखकों ने सर्वप्रथम इस बात का अनुभव किया कि अब पद्य-रचना से ही काम नहीं चल सकता। उन्हें समय के साथ-साथ आगे बढ़ने के लिए गद्य की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। वाद-विवाद, धर्मोपदेश तथा किसी तथ्य-निरूपण के लिए गद्य की आवश्यकता का अनुभव इससे पूर्व उन्हें कभी नहीं हुआ था। इधर जब ईसाई-धर्म-प्रचारकों के द्वारा प्रेस की सुविधा प्राप्त हो गई, तो हिंदी-वालों को ढाढस मिला। ईसाई-संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकों का क्रम निर्माण-काल के अन्त तक बराबर चलता रहा। समय की गति से हिंदी-लेखकों ने लाभ उठाने के लिए प्रयत्न किया। जब ईसाई-धर्म-प्रचारक अपने धर्म की महत्ता के लिए ज़ोर-ज़ोर से ढोल पीटने लगे तो यह भारत के कुछ लोगों को बहुत बुरा लगा। इसकी प्रतिक्रिया होना एक प्रकार से अवश्यम्भावी हो गया। इसी से बङ्गला में पत्रकार-कला का अभ्युदय हुआ। उनके देखा-देखी हमारे यहाँ भी इसका प्रचार होने लगा। अन्त में, जब शिक्षा-विभाग में हिंदी के परिश्रमी लेखकों और साहित्य-सेवियों द्वारा उसे अपना पृथक् स्थान मिल गया तो गद्य-साहित्य की धारा अविच्छिन्न रूप से बहने लगी।

हिन्दी की इस शोचनीय परिस्थिति के बीच ही कानपुर-निवासी जुगलकिशोर शुक्ल ने, जो कलकत्ते में रहते थे, सन् १८२६ ई० में 'उदंत-मार्तण्ड' नामक एक समाचार-पत्र निकाला, जो हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र माना जाता है। इस समाचार-पत्र की भाषा बंगला से प्रभावित है। उर्दू और अंग्रेज़ी के व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग इसमें अधिक हुआ है। दुर्भाग्य से यह पत्र केवल एक वर्ष तक ही चल सका। इसमें 'खड़ी बोली' के स्थान पर 'मध्यदेशीय भाषा' का प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा का नमूना इस प्रकार है—

'एक यशी वकील वकालत का काम करते-करते बुड्ढा होकर

अपने दामाद को यह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन काम करके एक दिन आया औ प्रसन्न होकर बोला, हे महाराज, आपने जो फलाने का पुराना औ संगीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ। यह सुनकर वकील पछ्ताता करके बोला तुमने सत्यानाश किया। उस मोकद्दमे में से हमारे बाप बढ़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठाके दे गये औ हमने भी उसको बना रखा औ अब तक भली-भाँत अपना दिन काटा औ वही मोकद्दमा तुमको सौंपकर समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतों तक पलोगे पर तुम थोड़े-से दिनों में उस खो बैठे।'

सन् १८३४ ई० में लार्ड मैकाले की अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रचार की आयोजना के अनुसार अंग्रेज़ी भाषा में शिक्षा की व्यवस्था होने लगी। इससे हिन्दी-गद्य को एक गहरी ठेस लगी और उसका प्रचार कम होने लगा। अंग्रेज़ों ने अदालती भाषा के लिए मुग़लों के समय से आती हुई फ़ारसी भाषा के क्रम को जारी रखा। अदालती भाषा फ़ारसी में हो जाने के कारण हिन्दी की जो दुर्गति हुई, उसके दुष्परिणाम आज इस स्वातन्त्र्य-युग में भी हम भोग रहे हैं। आज भी जब हिन्दी-भाषा-भाषियों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, तो उस समय लोगों की क्या अवस्था होगी, इसका अनुमान हम सहज ही में लगा सकते हैं। सन् १८१० ई० के एक अदालती इश्तहार की भाषा से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

'सब कोई को खबर दिया जाता है कि शहर कलकत्ता का उत्तर डिवीजन का शामिल मोकाम अपड़ा तल्ला गोबिन-चाँद धर लेन में इगारह नंबर का जमीन-उओ जमीन का नाप पाँच काठा, उसका कुच कमी होय और बेसी होय—उओ जमीन आर सुरती बागान के रहने वाला उसका मालिक बाबू हरिनारायन चक्रवर्त्ती उसको बेचने माँगता है।'

उपर्युक्त गद्यांश पर बंगला का प्रभाव स्पष्ट है।

सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-योजना के अनुसार जब कठिनाइयाँ अधिकाधिक बढ़ने लगी, तो सन् १८५४ ई० में एक हुक्म जारी किया कि अदालत का सारा काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ करे, पर इस हुक्म की कोई उचित व्यवस्था नहीं हो सकी। मुसलमानों ने उर्दू के लिए और हिंदी वालों ने हिंदी के लिए दौड़-भाग शुरू करदी। संघर्ष चलता रहा संयुक्त प्रांत में उर्दू का प्रचलन था ही, अतः दफ्तरों की भाषा भी उर्दू कर दी गई। इसलिए अब उर्दू सीखना आवश्यक हो गया। यह अंग्रेजी-सरकार की हमारे ऊपर विशेष अनुकम्पा थी कि भाषा का अरबी-फ़ारसी-मय रूप लिखने-पढ़ने की अदालती भाषा होकर हमारे सामने आया। इस प्रकार जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, वे फ़ारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदी भाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गई। हिंदी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।

ऐसे विपत्ति काल में राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद (सन् १८२३-१८९५ ई०) गद्य-क्षेत्र में आये। हिंदी में इनकी विशेष रुचि थी। राजा साहब की कृपा से ही सन् १८४५ ई० में 'बनारस अख़बार' निकला था। अदालती भाषा उर्दू में होने के कारण इस पत्र की भाषा भी उर्दू ही रक्खी गई। लेकिन अक्षर देवनागरी के थे। बीच-बीच में हिंदी के शब्द जैसे 'धर्मात्मा' 'परमेश्वर' 'दया' आदि रख दिये जाते थे इस इच्छा से कि हिंदी का रूप बिल्कुल ही नष्ट न हो जाय। हिंदी-जनता जब इस पत्र की भाषा को अच्छी तरह नहीं समझ सकी तो सन् १८५० ई० में एक दूसरा पत्र 'सुधाकर' निकला। इसकी भाषा सुधरी हुई साफ़ हिन्दी थी, पर यह पत्र कुछ दिन निकलकर बन्द हो गया। सन् १८५२ ई० में आगरे के मुन्शी सदासुखलाल ने 'बुद्धि प्रकाश' नामक पत्र निकाला और इस प्रकार हिन्दी भाषा को उर्दू के प्रहारों से बचाने का प्रयत्न किया। 'बुद्धि-प्रकाश' की भाषा इस प्रकार की होती थी—

'कलकत्ते के समाचार....इस पश्चिमीय देश में बहुतों को

प्रकट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गंगा-तट पर ले जाते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिए उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन् उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते हैं और 'हरी बोल, हरी बोल' कहकर उसका जीव लेते हैं।'

अदालती भाषा उर्दू बना देने पर भी साहित्य-सेवियों द्वारा हिंदी-गद्य की जो रक्षा की गई, यह ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट हो जाती है। इधर अदालती भाषा उर्दू हो जाने से मुसलमानों का साहस बढ़ गया था। जब सरकार की ओर से स्थान-स्थान पर स्कूलों की स्थापना हुई और उनमें देशी भाषा का प्रश्न छिड़ा तो मुसलमानों ने एक बार पुनः इस बात के लिए भरसक प्रयत्न किया कि कहीं हिंदी मदरसों में न घुसने पावे। सरकार ने हैरान होकर देशी भाषा का प्रश्न अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दिया। हिंदी के लिए विरोध बढ़ता ही रहा। हिन्दू-मुस्लिम समस्या की तरह हिंदी-उर्दू का प्रश्न जटिल होता गया। उर्दू के हिमायती थे सर सैयद अहमद साहब, जो अंग्रेज़ों के खास पिट्ठू थे। इधर हिंदी की रक्षा का भार राजा शिवप्रसाद ने ले रक्खा था। ये भी अंग्रेज़ों के कृपापात्र थे। सन् १८५६ ई० में जब राजा साहब की शिक्षा-विभाग के इंस्पेक्टर-पद पर नियुक्ति हुई, तो इन्होंने हिन्दी के लिए अमूल्य सेवाओं का परिचय दिया। मुसलमानों की ओर से घोर विरोध होने पर भी हिंदी को स्कूलों में स्थान दिलाया। सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदलमिश्र गद्य-क्षेत्र में कुछ काम अवश्य कर गये थे, कुछ काम ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने भी किया था, लेकिन इतना होने पर भी व्यावहारिक भाषा का निर्माण नहीं हो सका था। किसी जीवित भाषा के बिना हिंदी-गद्य का भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता था, यह बात राजा साहब ने अच्छी तरह सोच समझ ली थी। इसके अतिरिक्त स्कूलों की स्थापना के साथ-साथ पाठ्य-पुस्तकें भी

थोड़ी-बहुत अवश्य निकल चुकी थीं, यद्यपि मैकाले के आयोजना-पत्र के कारण आगे के लिए इनकी गति रुक गई थी। फिर ये किताबें इतनी उपयोगी भी नहीं थीं। हिंदी-उर्दू के झगड़े के बीच अच्छी-अच्छी पाठ्य-पुस्तकों के तैयार करवाने का श्रेय राजा शिवप्रसाद ही को है। इनमें से बहुत-सी राजा साहब ने स्वयं लिखीं और बहुत-सी अपने साथियों से लिखवाईं। उनके द्वारा तैयार की गई पाठ्य-पुस्तकों के नाम ये हैं—'आलसियों का कोड़ा', 'राजा भोज का सपना', 'भूगोलहस्तामलक', 'इतिहास-तिमिर-नाशक', 'गुटका', 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल', 'मानव धर्म सार', सिक्खों का उदय और अस्त', योगवासिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद् सार' आदि। राजा साहब की भाषा आरंभ में बहुत सीधी-सादी है। उसमें बोल-चाल की सरल हिन्दी का रूप देखने को मिलता है। प्रचलित उर्दू-शब्दों का प्रयोग भी उसमें हुआ है। आरम्भ में तो उन्होंने एक मध्यवर्ती मार्ग का ही अवलम्बन किया। ंस्कृत के चलते और साधारण प्रयोगों में आने वाले तत्सम शब्दों का प्रयोग इस काल के गद्य की विशेषता है। इसके साथ अरबी-फ़ारसी के चलते हुए शब्दों का मोह नहीं छूट सका। हिंदी भाषा में विदेशी शब्दों के नीचे बिन्दी देकर शुद्ध विदेशी रूप में लिखने का आरम्भ सर्वप्रथम राजा साहब ने ही किया। लेकिन अंतिम रचनाएँ हिन्दी की अपेक्षा उर्दू की ओर अधिक झुकी हुई हैं। ऐसा करने से उनका उद्देश्य हिन्दी-उर्दू-समस्या को हल करना था। यह भाषा का एक प्रकार से समझौता समझना चाहिए। उनके आरम्भ और अंतिम समय के गद्यांशों के दो उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(१) वह कौन-सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्त्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े-बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते हैं और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। ......उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और

उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।'

(२) 'इसमें अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिए—अंग्रेज़ी के भी शब्द कंधे से कंधा भिड़ाकर यानी दोश-ब-दोश चमक दमक और रौनक़ पावें, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गड़-बड़ मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हदें कायम हो गई हों और जिसका इंतिज़ाम मुन्तज़िम की अक़्लमंदी की गवाही देता है।'

आगे चलकर राजा शिवप्रसाद की गद्य-शैली का प्रत्यक्ष रूप से विरोध करने वाले राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६-१८९६ ई०) हमारे सामने आते हैं। उन्हें राजा शिवप्रसाद जैसी भाषा का रूप बहुत खटका और उसकी कड़ी आलोचना की। उनका कहना था कि हिन्दी और उर्दू दो पृथक्-पृथक् भाषाएँ हैं, उनके बीच समझौता करना बालू से तेल निकालना है। उर्दू-शब्दों के प्रयोग के बिना भी हिंदी में उत्कृष्ट गद्य-रचनाएँ हो सकती हैं। इस उद्देश्य को लेकर उन्होंने सन् १८६१ ई० में 'प्रजा-हितैषी' नाम का एक पत्र निकाला और इसके अगले वर्ष 'शकुन्तला' और 'मेघदूत' का अनुवाद शुद्ध हिंदी में किया। विदेशी और विशेष रूप से उर्दू-शब्दों का प्रयोग आपने नहीं किया। गद्य-शैली सरल है, लेकिन कहीं-कहीं कृत्रिमता अवश्य आ गई है। इसलिए हम उसे व्यावहारिक नहीं कह सकते। वह निबन्ध के लिए सर्वथा उपयुक्त है। देशज शब्दों का एकदम बहिष्कार कर देने से भाषा की संचित शक्ति घट गई और यहाँ तक कि विनोदात्मक-शैली में भी शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार राजा लक्ष्मणसिंह की शैली ने यह बात स्पष्ट कर दी कि राजा शिवप्रसाद जिन संस्कृत शब्दों के प्रयोग से डरते हैं, उनका प्रयोग गद्य में निःसंकोच हो सकता है। एक उदाहरण देखिए—

'उस दिन एक मृगछौना, जिसको मैंने पुत्र की भाँति पाला था, आ गया। आपने बड़े प्यार से कहा कि—आ बच्चे, पहले तू ही पानी

पीले। अब तुम्हें विदेसी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया, मेरे हाथ से पी लिया। तब तुमने हँसकर कहा कि सब कोई अपने ही संघाती को पत्याता है, तुम दोनों एक ही बन के बासी हो और एक-से मनोहर हो।'

जैसा कि कहा जा चुका है ईसाई-धर्म-प्रचारकों का प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ रहा था और यह कुछ लोगों को बहुत बुरा लगा। शिष्ट-हिन्दुओं ने स्वधर्म-रक्षा के लिए इसकी प्रतिक्रिया की। बंगाल के राजा राम-मोहनराय उपनिषद् और वेदान्त का ब्रह्मज्ञान लेकर आगे आगए। उनकी तरह हमारे यहाँ सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द जी (सन् १८२४-१८८३ ई०) ने आर्य-धर्म की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इससे भाषा का भी कल्याण हुआ और एक नई शैली का प्रतिपादन किया गया। आर्य-समाजियों ने एक स्वर से हिन्दी को अपनाया और यहाँ तक कि इसका नाम 'आर्य-भाषा' रख दिया। दयानंद के मुख्य-मुख्य ग्रंथ ये हैं—'सत्यार्थप्रकाश' (सन् १८७४ ई०) 'वेदांगप्रकाश', 'संस्कार विधि', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'वेदों के भाष्य'। उनकी भाषा पंडिताऊ ढङ्ग की है। विषय के अनुकूल तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। शैली विशुद्ध है, उर्दू-शब्दों से सर्वथा दूर है। 'सत्यार्थप्रकाश' में इस्लाम और ईसाई मतों की कड़ी आलोचना की गई है। इसलिए भाषा में वाद-विवाद करने की शक्ति आ गई है। एक उदाहरण देखिए—

'इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परम धर्म है और जो-जो मर गये हों उनका नहीं करना क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि से दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है।'

दयानंदजी और अन्य आर्यसमाजियों के प्रभाव से हिंदी-गद्य पंजाब तक पहुँच गया। पहले वहाँ उर्दू का बोलबाला था। यह भी

गद्य-साहित्य के विकास के लिए एक सौभाग्य की ब त हुई।

गद्य की दृष्टि से इन्हीं के समकालीन बाबू नवीनचंद्रराय उल्लेखनीय हैं। नवीनचंद्रराय पंजाब के रहने वाले थे और ब्रह्मसमाजी थे। विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा आदि के पक्के पक्षपाती थे। उनका प्रमुख उद्देश्य समाज-सुधार था। उन्होंने ब्रह्मसमाज के सिद्धांतों और सामाजिक विषयों को लेकर अनेक पुस्तकें लिखीं। कई पत्रिकाएँ भी निकालीं, जिनमें 'ज्ञान प्रदीपिका' मुख्य है। न्याय, धर्म आदि पर इन जैसी प्रौढ़ पुस्तकें कम देखने में आई हैं। उनकी भाषा विशुद्ध हिंदी है। राजा शिवप्रसाद जैसी भाषा के वे विरोधी थे। उनके प्रभाव से पंजाब में हिंदी-प्रचार करने में विशेष सहायता मिली। उनकी 'विधवा-विवाह' पुस्तक का यह उदाहरण देखिए—

'विधवा विवाह शास्त्र सम्मत अथवा शास्त्र विरुद्ध कर्म है इस विषय की मीमांसा में प्रवृत्त होना हो तो पहिले यह निरूपण करना आवश्यक है कि वह शास्त्र कौन-सा है जिसके सम्मत होने से विधवा विवाह कर्त्तव्य समझा जावे और जिसके विरुद्ध होने से अकर्त्तव्य समझा जावे। व्याकरण काव्य अलंकार दर्शन प्रभृति शास्त्र इस विषय के शास्त्र नहीं हैं।'

नवीनचंद्रराय से प्रभावित होकर पंजाब के प्राच्य महाविद्यालय के अध्यापक पंडित सुखदयालु शास्त्री ने 'न्याय-बोधिनी' नामक पुस्तक लिखी। भाषा नवीनचंद्रराय जैसी है। देखिए—

'यद्यपि मनुष्य जगत् के पदार्थों का प्रत्यक्ष से ही निश्चय कर सकता है; तो भी बहुत पदार्थ परमाणु आदि ऐसे हैं जो युक्ति सिद्ध हैं मानने तो अवश्य पड़ते हैं; परन्तु प्रत्यक्ष उनका नहीं होता और जानना सम्पूर्ण पदार्थों का अभीष्ट है; इसलिए सब पदार्थों के मिले हुए और भिन्न-भिन्न ऐसे-ऐसे धर्म जानने चाहिएँ कि जो धर्म्म जिस वस्तु का हो वह उस सारी वस्तु में रहे कोई स्थान रीता न छोड़े और उस वस्तु से भिन्न वस्तु में कहीं न

रहे ऐसे धर्म का नाम लक्षण है। जिसका लक्षण करना अभीष्ट है, उसे लक्ष्य कहते हैं।'

इस काल के अंतिम गद्य-लेखक श्रद्धाराम फिल्लौरी हैं। ये भी पंजाब के रहने वाले थे। उन्होंने पुराणों के आधार पर हिंदू-धर्म के महत्त्व पर अधिक जोर दिया और ईसाइयों का विरोध किया। उनकी 'सत्यामृतप्रवाह' पुस्तक की भाषा बड़ी ही प्रौढ़ और पुष्ट है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। जैसे—'सापेक्ष', स्वाभात्रानुसार', 'परिशांति', 'शोषक', आदि। कहीं-कहीं भाषा पर पंजाबी का प्रभाव दिखाई देता है, जैसे—'कभी' के स्थान पर 'कबी' 'कधी', 'प्रश्न' के स्थान पर 'प्रश्ण' आदि। 'सत्यामृत-प्रवाह' की भाषा का उदाहरण इस प्रकार है—

'फिर जो आप कहते हो कि ईश्वर शक्तिमान् है इसमें हमारा एक प्रश्ण है। अर्थात् यदि शक्तिमान् है तो मेरी बुद्धि को अनीश्वरवाद से फेर के ईश्वरवाद में क्यों नहीं ले आता। यदि कहो तुम्हारे अनीश्वरवादी होने से उसकी क्या हानि है तो इससे अधिक हानि उसकी क्या होगी कि मैं सहस्रों जन को अनीश्वरवादी बना दूँगा। यदि कहो वह हमारे कहने से कुछ नहीं करता सब कुछ अपनी इच्छा से करता है तो जान गया कि उसकी यही इच्छा है कि मैं अनीश्वरवादी बना रहूँ और कई एक और जनों को भी इसी पथ पर चलाऊँ।'

निर्माणकाल के उपरोक्त लेखकों के द्वारा हिंदी-गद्य गतिशील अवश्य हुआ, लेकिन उसकी वृद्धि नहीं हो पाई और न कोई भाषा का आदर्श रूप ही स्थिर हो सका। गद्य-साहित्य के विभिन्न अंगों का प्रस्फुटन वास्तविक रूप में आगे चलकर ही हुआ। यद्यपि इस समय नाम-मात्र के लिए कुछ नाटक अवश्य लिखे गये, लेकिन उन्हें काव्य-ग्रंथ की श्रेणी में रखना अधिक न्यायसंगत है, उदाहरणार्थ—निवाज का 'शकुन्तला-नाटक', हृदयराम का 'हनुमान-नाटक' और ब्रजवासीदास का 'प्रबोध-चंद्रोदय-नाटक' महाराज रघुराजसिंह का 'आनन्द-

रघुनन्दन नाटक अवश्य नाटक की कोटि में आ सकता है। भाषा की दृष्टि से राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद एक ओर हैं और राजा लक्ष्मणसिंह तथा ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज के लेखक दूसरी ओर। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की प्रारम्भिक भाषा में व्यावहारिकता है, लेकिन अंतिम काल की भाषा उर्दू के शब्दों से लदी हुई है। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में हिंदी-गद्य के भविष्य की झाँकी अवश्य मिल जाती है। रही बात ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज के लेखकों के सम्बन्ध में, सो उन्होंने विशुद्ध हिंदू धर्म का पाठ सिखाकर ईसाई-धर्म-प्रचारकों से भारत-वासियों को मुक्त किया, लेकिन उनकी भाषा परिमार्जित नहीं हो सकी थी। वह इसलिए कि उसमें केवल एक ही रूप है और वह भी अत्यंत सीमित। कहने का अभिप्राय यह है कि भाषा अभी तक स्थिर नहीं हो पाई, यह तो केवल भाषा का निर्माण-काल था। माँ सरस्वती के यहाँ भाषा सम्बन्धी भिन्न-भिन्न प्रस्ताव जा रहे थे। अतः भाषा के सर्वसम्मत रूप का अनुष्ठान इस समय में हम कैसे देख सकते थे?

हिंदी-गद्य के पाठकों को खड़ी बोली के सम्बन्ध में जो-जो भ्रांतियाँ हुई हैं वे अब तक के विकास से दूर हो जानी चाहिएँ। जो लोग यह कहते हैं कि खड़ी बोली का जन्म व्रज भाषा से हुआ है, उन्हें यह बात जान लेनी चाहिए कि खड़ी बोली व्रज भाषा से बिल्कुल पृथक् है। जैसा कि हम देख चुके हैं व्रजभाषा के पूर्व भी खड़ी बोली की एक स्निग्ध धारा प्रवाहित होती चली आ रही थी। खड़ी बोली व्रजभाषा से कम प्राचीन नहीं है। हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश-व्याकरण' से ही इसका अस्तित्व देखने को मिल जाता है और यह भी पता चलता है कि इसके पूर्व भी इसके शब्दों का प्रयोग हुआ करता था। अतएव यह कहना कि व्रजभाषा से खड़ी बोली का जन्म हुआ है, हमारी अल्प-बुद्धि और अज्ञान का परिचायक है। इसी प्रकार जो लोग यह कहते हैं कि हिंदी-गद्य की भाषा अरबी-फ़ारसी शब्दों को निकालकर बनाई गई है, सो यह कथन भी सर्वथा निराधार है। पीछे हम देख चुके हैं

कि मुसलमानों के आने के पूर्व भी हिंदी-गद्य एक अच्छे रूप में पाया जाता था। खड़ी बोली कोई ठोंक-पीटकर बनाई हुई भाषा नहीं। यह बात दूसरी है कि मुसलमानों के आने पर इसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा था, लेकिन इसका यह अर्थ निकाल देना किसी भाषा के साथ अन्याय करना है। फिर अरबी-फ़ारसी के शब्द कुछ लेखकों में तो देखने को मिलते हैं और कुछ में नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि खड़ी बोली को मुसलमानों द्वारा जो रूप मिला, उससे सर्वथा स्वतन्त्र रूप से वह अपने प्रकृत रूप में मुसलमानों के आने के दो ढ़ाई सौ वर्ष पूर्व से चली आ रही थी। इसी प्रकार खड़ी बोली की उत्पत्ति अंग्रेज़ों के आश्रय में बताने तथा इसके सर्वप्रथम लेखक लल्लूलाल और सदलमिश्र को मानने की अब कोई गुंजायश नहीं रह गई है। अंग्रेज़ों के आने तथा लल्लूलाल और सदलमिश्र के पूर्व 'भाषा योगवासिष्ठ', 'पद्मपुराण' 'रानी केतकी की कहानी' आदि प्रौढ़ और परिष्कृत रचनाओं की सृष्टि हो चुकी थी। इस प्रकार हमारे यहाँ स्वतन्त्र रूप से गद्य का विकास होता चला आ रहा है और यह अंग्रेज़ों के समय में भी होता रहा। अन्त में, हमें यही कहना पड़ता है कि खड़ी बोली का जन्म न तो व्रज भाषा से हुआ है, न अरबी-फ़ारसी के शब्दों को निकालकर यह भाषा कुम्हार के मिट्टी के घड़े की तरह गढ़ी गई है और न अंग्रेज़ों के आश्रय में ही इसकी उत्पत्ति हुई। जो ऐसा समझ बैठे हैं, वे खड़ी बोली के शत्रु हैं। जिस प्रकार स्वाभिमानी व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा रहता है, किसी का दिया नहीं खाता, चाहे उसे मर जाना ही क्यों न पड़े, ठीक उसी तरह खड़ी बोली का गद्य भी अपने पैरों पर ही खड़ा होता हुआ व्रजभाषा से पृथक्, अरबी-फ़ारसी-शब्दों से विलग और अंग्रेज़ों की गोद से दूर चिर-काल से अपनी धुन में चलता चला आ रहा है; यह हमें नहीं भूलना चाहिए।

× × ×

: १० :

हरिश्चन्द्र-युग

(सन् १८६५–१९०० ई०)

आधुनिक युग का सूत्रपात भारतेंदु हरिश्चन्द्र के रचना-काल से आरंभ होता है। सन् १७५७ ई० के प्लासी-युद्ध और सन् १८०१ ई० के लासवाड़ी युद्ध के परिणाम-स्वरूप पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति संपर्क से भारतवासियों के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लग गये थे। ज्यों-ज्यों ब्रिटिश साम्राज्य की नींव दृढ़ होती गई, त्यों त्यों पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। सन् १८५७ ई० की राज्यक्रांति ने तो हिंदी-गद्य का रूप ही बदल दिया। देश की तत्कालीन परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से गद्य का प्रचार द्रुत गति से होने लगा। अभी तक गद्य का नवजात शिशु घुटनों के बल चलकर ही कला की गोद में खेल रहा था, अब उसमें शक्ति का संचार होने लगा। विषयों की अनेकरूपता का अवलम्बन पाकर वह अपने पैरों पर खड़ा होने लगा। भारतेंदु के नेतृत्व में गद्य-साहित्य की विशेष उन्नति हुई। वे साहित्य को शिक्षित जनता के सम्पर्क में लाये और इस प्रकार हिंदी-साहित्य को एक नवीन-मार्ग पर ला खड़ा किया। अंग्रेज़ों के सम्पर्क से भारतीय विचार-धारा में परिवर्तन तो हो गया था, लेकिन साहित्य अभी तक बहुत पिछड़ा हुआ था, उसमें शृंगार, भक्ति आदि की पुरानी रचनाएँ होती रहती थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि देशकाल के अनुरूप साहित्य-सृजन न हो सका था। भारतेंदु ने सर्वप्रथम नए-नए विषयों की ओर हिंदी-लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। उनके तथा समकालीन लेखकों के द्वारा गद्य-लेखन-शैली अनिश्चतता से निकल कर स्थिरता को प्राप्त हुई और अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ पद्य की अपेक्षा गद्य में लिखी जाने लगीं। इन सब बातों के फलस्वरूप हिंदी-गद्य का

अभूतपूर्व प्रवर्धन हुआ। इसीलिए वर्तमान हिंदी-गद्य के प्रवर्तक भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र माने गये हैं।

जब खड़ी बोली साहित्य की प्रधान भाषा हो गई तो व्रजभाषा को हार खाकर अन्त में अपदस्थ होना पड़ा। आरम्भ के कुछ वर्षों तक पद्य में व्रजभाषा की प्रधानता अवश्य रही, लेकिन आगे चलकर केवल इने-गिने लेखक ही इसमें साहित्य-रचना करने लगे। व्रजभाषा की तरह राजस्थानी-साहित्य-रचना का यद्यपि सर्वथा ह्रास नहीं हुआ, तथापि उसके लोप होने के चिन्ह स्पष्ट रूप से दिखाई देने लग गये। राजस्थानी भाषा में इस समय बहुत कम महत्त्वपूर्ण रचनाएँ लिखी गईं। जब खड़ी बोली का प्रचार शिक्षालयों द्वारा होने लगा तो राजस्थान में भी अनेक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शनैः-शनैः राजस्थानी भाषा केवल बोल-चाल और व्यवहार की भाषामात्र रह गई और शिक्षित-समुदाय से बहुत दूर जा पड़ी। इस प्रकार हम देखेंगे कि खड़ी बोली ने इस युग में एक युगान्तकारी परिवर्तन कर दिया।

इस युग में गद्य के इतने व्यापक प्रसार और व्यवहार को देखकर ही विद्वानों ने इसका नाम 'गद्य-युग' रख दिया है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि गद्य के केवल साहित्येतर वाङ्मयों के अभाव की ही पूर्ति नहीं हुई, प्रत्युत साहित्य-क्षेत्र में गद्य के अन्यान्य स्वरूपों का भी जन्म होने लगा। भारतेंदु ने स्वयं गद्य के विभिन्न स्वरूप उपस्थित किये और अपने समकालीन लेखकों को उन पर चलने के लिए आमंत्रित किया। 'भारतेंदु-मण्डल' इसी का परिणाम था। एक के बाद एक शक्तिशाली और प्रतिभा-सम्पन्न लेखक साहित्य-क्षेत्र में उतरने लगे। थोड़े समय के भीतर ही साहित्य-नभ-मण्डल इन उज्ज्वल नक्षत्रों से जगमगाने लगा। प्रायः सभी अपने साथ एक-एक पत्र अथवा पत्रिका भी लेते आये। पत्र-साहित्य इस युग की एक प्रमुख विशेषता है। पत्र-पत्रिकाओं का यह क्रम 'सरस्वती' के

निकलने तक चलता रहा। संक्षेप में, साहित्य और भाषा की दृष्टि से यह युग अभूतपूर्व है। अस्तु, हरिश्चन्द्र-युग के गद्य का निबन्ध, पत्र-पत्रिकाओं, जीवनी-साहित्य, साहित्यिक-समालोचना, उपन्यास और नाटक की दृष्टि से अध्ययन करना समीचीन होगा।

(१) निबन्ध—वर्तमान समय में निबन्ध के कला-रूप का इतना समुन्नत विकास हो गया है कि उसमें व्यक्तित्व की निहति एक अनिवार्य तत्त्व माना जाता है। आन्तरिक भावों के साक्षात्कार में ही निबन्ध की विशेषता समझी जाती है। आज की परिभाषा की दृष्टि से भारतेंदु-युग के लेखकों के निबन्ध भले ही उच्चकोटि के न हों, पर उनमें सरलता, साधुता और संयत ढंग से व्यक्त करने की क्षमता अवश्य लक्षित होती है। इन लेखकों में विषय-विवेचन की मार्मिकता तो है, लेकिन व्यक्तित्व की निहति नहीं। इसलिए बहुत से लेखकों के निबन्ध यथार्थ में निबन्ध नहीं कहे जा सकते। उन्हें 'लेख' कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। हिन्दी भाषा के ऐसे छोटे-बड़े, विचार-पूर्ण और साहित्यिक लेख उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए, महावीरप्रसाद द्विवेदीकृत 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'परम पुरुषार्थ' (सन् १८८५ ई०, स्माइल्स की रचना के उर्दू-अनुवाद से मदनमोहन भट्ट द्वारा हिन्दी में), वीरेश्वर चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित 'साहित्य-संग्रह' (सन् १८८६ ई०), साहबप्रसाद-सिंह द्वारा सङ्कलित 'भाषासार' २ भाग (सन् १८८७ ई०), 'नीत्युपदेश' (सन् १८८७ ई०, जान स्टुअर्ट ब्लैकी के लेखों का काशीनाथ खत्री द्वारा अनुवाद), जगन्नाथ भारतीयकृत 'भारतीय शिक्षा' (सन् १८८६ ई०), 'नीति-पुष्पावली' (सन् १८८६ ई०, मुंशी शंकरदास वर्मा की उर्दू में रचना 'गुलदस्ता-इ-तहज़ीब' का काशीनाथ खत्री द्वारा अनुवाद) आदि-आदि। यथार्थ में हम जिसे निबन्ध कहते हैं, उसका बीजारोपण इस युग के दो प्रमुख लेखकों बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायणमिश्र द्वारा हुआ। उनके निबन्धों ने गद्य-शैली

को नवीन रूप दिया। भारतेंदु, राधाकृष्णदास, दयानन्द, बालमुकुन्द गुप्त आदि की रचनाओं में भी गद्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण देखने को मिलते हैं।

भारतेंदु हरिश्चन्द्रः—(सन् १८५०–१८८५ ई०)

भारतेंदु आधुनिक हिंदी-गद्य के वास्तविक जन्मदाता हैं। उनके कार्य्य-क्षेत्र में आते ही साहित्य और भाषा दोनों पर उनका प्रभाव पड़ा। साहित्य में नए नए विषयों पर रचनाएँ होने लगीं। उन्होंने इतिहास, जीवनी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि अनेक विषयों पर रचनाएँ की हैं। उनके भाषा-संस्कार की महत्ता सर्व-विदित है। उन्होंने भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया है। विषय तथा भाव के अनुसार ही उनकी भाषा की शैली में परिवर्तन स्वभावतः होता गया है। विविध विषयों पर लिखने के कारण उनकी भाषा की विविध शैलियाँ हैं। कहीं गंभीर गवेषणा, तथ्य 'तथ्य-निरूपण आदि है तो कहीं परिहास और व्यंग्य का पुट देखने को मिलता है। इसके लिए उन्हें कोई प्रयास करने की आवश्यकता नहीं हुई। जहाँ तक भारतेंदु के लेखों का सम्बन्ध है, हम निःसंकोच रूप से कह सकते हैं कि उनमें व्यंग्यात्मक शैली की प्रधानता है। परिहास-प्रिय भारतेंदु के विनोद-पूर्ण लेखों में व्यंग्य-मिश्रित आक्षेप तथा उपदेश की मात्रा भी कहीं-कहीं दिखाई देती है। 'परिहास-पंचक' में 'ज्ञाति विवेकिनी सभा,' 'स्वर्ग में विचार सभा', 'सबै जाति गोपाल की', 'बसंत पूजा' और 'खंड भंड संवाद' पाँच लेख हैं। 'परिहासिनी' में भी इसी प्रकार के लेख संगृहीत हैं। वेश्या-स्तोत्र, अंग्रेज़-स्तोत्र, कंकड़-स्तोत्र, पैगम्बर आदि छोटे-छोटे गद्य-पद्यमय लेख लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में भी अनेक लेख भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए उनके 'लेवी-प्राण लेवी' लेख का यह अंश देखिए—

'कोई खड़ा हो जाता था, कोई बैठा ही रह जाता था, कोई

घबड़ाकर डेरे के बाहर घूमने चला जाता था कि इतने में कोलाहल हुआ "लाट साहब आते हैं" राय नारायन दास साहिब ने फिर अपने मुख को खोला और पुकारे "स्टैंडअप" (खड़े हो जाव)। सब के सब एक संग खड़े हो गये। राय साहिब का "सिट डौन" कहना तो सब को अच्छा लगा पर "स्टैंड अप" कहना सबको बुरा लगा मानो भले बुरे का फल देने वाले रायसाहिब ही थे। इतने में फिर कुछ आने में देर हुई और फिर सब लोग बैठ गये। वाह-वाह दरबार क्या था "कठ पुतली का तमाशा" था या बलुमटेरों की "कवायद" थी या बन्दरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या "फ़ौजदारी की सज़ा" थी।'

बालकृष्ण भट्ट—(सन् १८४४–१९१४)

बालकृष्णभट्ट की गणना हिंदी के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध-लेखकों में की जाती है। उन्होंने हिन्दी-गद्य को एक नवीन शैली दी और विविध-विषयक निबन्ध लिखकर उसकी उन्नति में विशेष योग दिया। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक आदि सब प्रकार के छोटे-छोटे गद्य-प्रबन्ध आपने लिखे हैं। भट्टजी के निबन्धों में विषय-चुनाव बड़े महत्त्व का होता है। उनकी शैली में व्यक्तित्व की झलक सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इनकी शैली हास्य-विनोद की उमंग में पूरबी कहावतों और मुहावरों की बौछार छोड़ती हुई चलती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी बराबर देखने को मिलता है। शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से भट्ट जी के निबन्धों में हमें साधारणतया तीन शैलियों के दर्शन होते हैं। पहली शैली वह है जिसमें उन्होंने भाषा को अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत बनाने का प्रयत्न किया है। दूसरी शैली वह है जिसमें साधारण विषयों पर लिखते समय मुहावरों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है, जिससे शैली में रोचकता और आकर्षण की मात्रा बढ़ गई है। तीसरी शैली वह है जिसमें विदेशी शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। अरबी-फ़ारसी शब्दों में

'नाइत्तिफ़ाकी', 'खासखसूसियत', 'अज़हद', 'सिपाहियाना', 'क़िला', 'ज़ाहिरदारी', 'मोतक़िद', 'ख़ामख़ाह', 'संजीदगी', 'बेतकल्लुफ़ी', 'हिमाक़त', आदि का प्रयोग स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त अँग्रेज़ी शब्दों को अपनाने की प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है जैसे 'Education' 'Society' 'standard' 'character' 'Formality' 'Art of conversation' आदि। इस शैली में संस्कृत के तत्सम रूप का प्रयोग उन्होंने नहीं किया। वे सदैव तद्भवरूप के ही पक्षपाती रहे जैसे 'गुन-औगुन' 'मिठास' 'परख' 'लिलार' 'साखी' आदि। संस्कृत और अरबी-फ़ारसी-शब्दों को 'या' लगाकर अथवा किसी अन्य रूप से एक साथ रख देने की प्रवृत्ति भी उनके गद्य में पाई जाती है जैसे 'अपव्यय या फिज़ूलखर्ची' 'देखना-भालना' 'गँवार-सँवार' आदि। उनकी तीनों शैलियों के पृथक्-पृथक् उदाहरण देखिए—

(१) 'मनुष्य के संबंध में इस अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियम का अनुसरण प्रत्येक देश का साहित्य भी करता है; जिसमें कभी क्रोधपूर्ण भयंकर गर्जन, कभी प्रेम का उच्छ्वास, कभी शोक और परिताप-जनित हृदय-विदारी करुणा–निस्वन, कभी वीरता-गर्व से बाहुबल के दर्प में भरा हुआ सिंहनाद, कभी भक्ति के उन्मेष से चित्त की द्रवता का परिणाम अश्रुपात आदि अनेक प्रकार के प्राकृतिक भावों का उद्गार देखा जाता है।'

(२) 'चंदू के उपदेश का असर बड़े बाबू पर कुछ ऐसा हुआ कि उस दिन से यह सब सोहबत—संगत से मुँहमोड़ अपने काम में लग गया। सवेरे से दोपहर तक कोठी का सब काम देखता-भालता था; और दोपहर के बाद दो बजे से इलाक़ों का सब बंदोबस्त करता था। वसूल और तहसील की एक मद खुद आप जाँचता था। उजड़े आसामियों को दिलासा दे और उनकी यथोचित सहायता कर फिर से बरसाता था।'

(३) 'मृतक के लिये लोग हज़ारों लाखों खर्च कर आलीशान रौज़े मक़बरे क़ब्रें संगमर्मर या संगमूसा की बनवा देते हैं, क़ीमती पत्थर माणिक ज़मुर्रद से उन्हें आरास्ता करते हैं, पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं, जितनी उसके दोस्त आँसू टपकाकर पहुँचाते हैं ?'

प्रतापनारायण मिश्र—(सन् १८५६–१८६४ ई०)

प्रतापनारायण मिश्र ने भी बालकृष्णभट्ट की तरह उच्चकोटि के निबन्ध लिखकर हिन्दी-गद्य-शैली को एक नवीन रूप दिया। दोनों में छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा भाव प्रकट किये गए हैं। दोनों के निबन्धों की भाषा प्रौढ़ और भाव मार्मिक हैं। दोनों की रचनाओं में अपने-अपने व्यक्तित्व की छाप है। इसलिए इन दोनों लेखकों के निबन्धों में हमें निबन्ध का आधुनिक रूप दिखाई देता है। इतना होने पर भी प्रतापनारायण मिश्र की शैली भट्ट जी की शैली से पृथक् है। मिश्रजी की प्रकृति विनोदशील होने के कारण उनकी शैली में विनोद तथा मनोरंजन की मात्रा अधिक पाई जाती है। कहीं-कहीं मिश्र जी ने जान बूझकर प्रांतीयता का समावेश कर दिया है। उनकी भाषा पर पश्चिमी अवधी का थोड़ा प्रभाव पड़ा है। प्रांतीय शब्दों के प्रयोग में 'स्वभाव' के स्थान पर 'टेंव', 'बिना मूल्य' के स्थान पर 'सेंत मेंत', 'क्रुद्ध होकर बोलना' के स्थान पर 'खौखियाना' ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत शब्दों को हिंदी-उच्चारण के अनुकूल लिखना इनकी भाषा की एक विशेषता है जैसे 'रिषि' 'रिषीश्वर' 'रितु' आदि। उन्होंने मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया है जैसे 'पानी पानी होना' 'आपे से बाहर होना' 'धोखे की टट्टी खड़ी करना' आदि। 'हुआ' के स्थान पर मिश्र जी को 'भया' शब्द के प्रयोग का मोह प्रायः सभी स्थानों पर बना रहा। उन्होंने हास्य-विनोद, देशभक्ति, मातृभाषा महत्त्व आदि विषयों को लेकर अनेक निबन्धों की रचना की है। 'धोखा' 'बालक' 'युवावस्था' 'दाँत' 'खड़ी बोली का पद्य' 'पंच परमेश्वर'

इत्यादि अनेक निबंध सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहरण के लिए यहाँ उनकी भाषा का यह उदाहरण देखिए—

'इसके अतिरिक्त इनसे डरना इसलिए उचित है कि हम क्या हैं हमारे पूज्य पिता दादा ताऊ भी इनके आगे के छोकड़े थे। यदि यह बिगड़े तो किसकी कलई नहीं खोल सकते ? किसके नाम पर गट्टा-सी नहीं सुना सकते ? इन्हें संकोच किसका है ? बक्की के सिवा इन्हें कोई कलंक ही क्या लगा सकता है ? जब यह आप ही चिता पर एक पाँव रखे बैठे हैं, कब्र में पाँव लटकाये हुए हैं तब इनका कोई कर क्या सकता है ? यदि इनको बातें-कुबातें हम न सहें तो करें क्या ? यह तनिक-सी बात में कष्टित और कुंठित हो जायेंगे और असमर्थता के कारण सच्चे जी से शाप देंगे जो वास्तव में बड़े-बड़े तीक्ष्ण शस्त्रों की भाँति अनिष्ट-कारक होगा।'

निबन्ध-साहित्य में इन उपरोक्त लेखकों के अतिरिक्त बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (सन् १८५५-१९२३ ई०), राधाचरण गोस्वामी (सन् १८५९-१९२५ ई०), काशीनाथ खत्री (रचना-काल सन् १८८० ई०), राधाकृष्णदास (सन् १८६५-१९०७ ई०) और अंबिकादत्त व्यास (सन् १८५८-१९०० ई०), आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने समय-समय पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में अपने निबन्ध प्रकाशित कराये। इन सब के निबन्धों की भाषा गठी हुई है और भावों को बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया है। इन लेखकों के द्वारा गद्य के अन्य अंगों की नींव दृढ़ हुई, इसलिए इनकी गद्य-शैली की विवेचना पृथक् रूप से कर दी गई है। निबन्ध-साहित्य में कोई क्रियात्मक कार्य न कर पाने के कारण यहाँ उनके नामों का ही उल्लेख कर दिया गया है।

इस प्रकार भारतेंदु-युग के निबन्ध-साहित्य के अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि इस युग में निबन्ध-लेखकों की संख्या नहीं बढ़ सकी, तथापि जिन लेखकों द्वारा यह कार्य आरम्भ

किया गया, वह कोई कम महत्त्वपूर्ण न था। बालकृष्णभट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ये दो लेखक ही इतने प्रतिभासम्पन्न और उच्च-कोटि के निबन्ध-लेखक हुए कि जिनकी तुलना आज भी हम अपने वर्तमान निबन्ध-लेखकों से कर सकते हैं। इतना तो इस युग के अध्ययन से स्पष्ट है कि इन दो लेखकों के कारण ही निबन्ध-साहित्य में जीवन आने लगा और आगे के लिए उन्होंने निबन्ध-साहित्य का द्वार अन्य लेखकों के लिए खोल दिया।

(२) सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ—

पत्र-पत्रिकाओं का चलन भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य की स्थापना के अनंतर और भारतेंदु के पूर्व हो चुका था। सन् १७८० ई० के 'हिकीज़ गज़ट' (Hickey's Gazette) के बाद बंगला में और बंगला के बाद सन् १८२६ ई० में युगलकिशोर शुक्ल द्वारा 'उदन्त-मार्तण्ड' नामक पत्र का प्रकाशन हिंदी में सब से पहली बार हुआ। सन् १८५० ई० में राजा शिवप्रसाद के 'बनारस अख़बार' की भाषा-नीति के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले पत्र 'सुधाकर' का सम्पादन तारा-मोहन मैत्र ने किया। सन् १८५२ ई० में मुंशी सदासुखलाल के संपादन में 'बुद्धि प्रकाश' नामक पत्र का जन्म हो चुका था। इसके उपरान्त सन् १८५४ ई० में हिंदी का सर्वप्रथम दैनिक 'समाचार-सुधावर्षण' का सम्पादन श्यामसुंदर सेन द्वारा हुआ। भारतेंदु के पूर्व पत्र-पत्रिकाओं का यही संक्षिप्त इतिहास है। सन् १८५४-१८६७ ई० तक हिंदी का कोई समाचार-पत्र प्रकाशित नहीं हुआ।

भारतेंदु ने कार्यक्षेत्र में आते ही अपना ध्यान पत्र-पत्रिकाओं की ओर आकर्षित किया। अब तक के पत्र-साहित्य द्वारा हिंदी की कोई उन्नति नहीं हो पाई थी, हाँ पत्र-पत्रिकाओं का चलन अवश्य हो गया था। भारतेंदु ने इनके द्वारा हिंदी को नव-जीवन प्रदान किया। उन्होंने सन् १८६८ ई० में 'कविवचन सुधा' नामक मासिक-पत्र, जो आगे चलकर साप्ताहिक हो गया, प्रकाशित किया। सन् १८७४ ई० में दिल्ली

से श्रीनिवासदास ने जो 'सदादर्श' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला था, वह सन् १८७६ ई० में इस पत्र में आकर मिल गया। इसमें गोस्वामी राधाचरण, बाबू गदाधरसिंह, लाला श्रीनिवासदास, बाबू ऐश्वर्य-नारायणसिंह, बाबू सुमेरसिंह साहिबजादे, बाबू नवीनचंद्र राय, पंडित दामोदर शास्त्री, पंडित बिहारीलाल चौबे, पंडित बिहारीलाल जानी आदि प्रसिद्ध लेखक अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराते थे। इस पत्र से हिंदी-गद्य को एक विशेष प्रोत्साहन मिला, परन्तु इलबर्ट बिल का विरोध करने के कारण सरकार की कोप-दृष्टि और आर्थिक हानि से इसका प्रकाशन अधिक वर्षों तक नहीं हो सका। इस पत्र की भाषा बड़ी ही परिष्कृत होती थी। उदाहरण के लिए सन् १८७० ई० का इस पत्र में प्रकाशित यह समाचार देखिए—

'आजकल राजा चरखारी काशी में पधारे हैं और चतुर्दिक यात्रा करते फिरते हैं। इसी हेतु एक दिन गोपाल मन्दिर में भी गये थे और चाहा कि अस्त्र बाँधे भीतर चले जायं। निःसन्देह वहाँ के द्वारपालों ने रोका क्योंकि वह रणभूमि नहीं है कि लोग वहाँ अस्त्र बाँधकर जायं और युद्ध करें और न वह किसी राजा का दुर्ग है कि वहाँ अस्त्र रख देने से कुछ अप्रतिष्ठा हो जाती।'

अक्टूबर, सन् १८७३ ई० में भारतेंदु ने एक दूसरा मासिक-पत्र 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के नाम से प्रकाशित करना आरम्भ किया। इसमें भारतेंदु-मण्डल के लेखकों की रचनाओं के साथ अँग्रेज़ी के लेख भी छपते थे। जून सन् १८७४ ई० में इसी मैगज़ीन का प्रकाशन 'हरिश्चन्द्र-चंद्रिका' के नाम से होने लगा। वस्तुतः ये दोनों पत्रिकाएँ एक ही हैं, केवल पहिले नाम का अँग्रेज़ीपन दूर कर उसे हिंदी-रूप दिया गया है। इस पत्रिका में गद्य-पद्यमय काव्य, पुरावृत्त, नाटक, कला, इतिहास, परिहास, समालोचना आदि विषयों पर बराबर लेख निकलते थे। इसका सम्पादन भारतेंदु ने सात-आठ वर्ष तक किया। सन् १८८० ई० में इस पत्रिका का कार्य-भार भारतेंदु ने पंडित

मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या को उनके विशेष आग्रह करने पर सौंप दिया, जिसके बाद वह 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका' के नाम से काशी से निकलता रहा। दूसरे ही वर्ष यह पत्र मेवाड़ श्रीनाथद्वारे चला गया और वहाँ जाकर अन्धकार में विलीन हो गया। भारतेंदु के इस पत्र की हिन्दी पाठकों को बहुत पसंद आई और वे इसे बड़े चाव से पढ़ते थे। भारतेंदु ने इसी मैगज़ीन के जन्म के साथ-साथ हिंदी का सन् १८७३ ई० में नए चाल में ढलना स्वयं स्वीकार किया है। इस मैगज़ीन की हिन्दी का यह उदाहरण देखिए—

'हे भाइयो तुम्हारे मन में जो अनेक कल्पना धीरे २ उठा करती है उन पर सहज ही में विश्वास कर लेते हो और जो अनेक झूठे-मूठे मनोरथ हृदय में उत्पन्न होते हैं बड़ी अभिलाषा से उनका पीछा करते हो और इस बात की आशा रखते हो कि अल्पावस्था में जो बात नहीं प्राप्त हुई वह अधिक अवस्था में हो जायगी और आज के दिवस पर्यंत जो कुछ न्यूनता रह गई है वह कल पूरी हो जायगी तो तुमको चाहिए कि मकरंद देश के राजकुमार धैर्य सिंधु के इतिहास को ध्यान देकर सुनो।'

जनवरी, सन् १८७४ ई० में भारतेंदु ने स्त्री-शिक्षोपयोगी 'बाला-बोधिनी' नामक एक मासिक-पत्रिका निकालना आरम्भ किया। इसमें स्त्रियोपयोगी लेखों का प्रकाशन होता था, पर साथ ही मुद्राराक्षस नाटक, नीति विषयक इतिहास आदि भी क्रमशः प्रकाशित होते रहते थे। सन् १८७५ ई० में इस पत्रिका की भाषा इस प्रकार थी—

'हे सुमति, जब बालक तुम्हारा भली प्रकार बातचीत करने लगा तो उसको वर्णमाला याद कराती रहो फिर उन्हीं को पट्टी पै लिखके अभ्यास कराओ और रातों को गिनती और सुन्दर-सुन्दर श्लोक वा छोटे स्तोत्र याद कराओ। इस व्योहार में कई एक बातें सुन्दर प्राप्त होंगी। प्रथम तो बालक को खेल ही खेल में अक्षर ज्ञान हो जावेगा दूसरे उसका काल भी व्यर्थ नहीं जाने का। फिर इस अवसर का पढ़ा

लिखा विशेष करके याद रहता है।'

इन पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के अतिरिक्त भारतेंदु के उद्योग से बाबू बालेश्वर प्रसाद बी० ए० ने काशी से 'काशी साप्ताहिक पत्रिका' निकालना आरम्भ किया। इस पत्र की शैली वस्तुतः भारतेंदु की शैली ही है। इसमें उनकी बहुत-सी रचनाएँ प्रकाशित हुईं। इसके अतिरिक्त उन्होंने आर्यमित्र, हिंदी-प्रदीप, भारत-मित्र, मित्र-विलास आदि कई पत्रों को प्रोत्साहन देकर प्रकाशित कराया था और इनमें लेख लिखकर हिंदी गद्य के विकास में एक प्रशंसनीय हाथ बटाया था। सन् १८८४ ई० में उन्होंने 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका' के लुप्त हो जाने पर 'नवोदिता हरिश्चन्द्र चंद्रिका' के नाम से उसका पुनः प्रकाशन करना आरम्भ किया, लेकिन खेद के साथ लिखना पड़ता है कि उसके दो अंक निकालने के बाद ही वे इस संसार से उठ गए।

एक ओर भारतेंदु के उद्योग और प्रोत्साहन से तथा दूसरी ओर विविध आंदोलनों के परिणाम-स्वरूप हिंदी-गद्य में पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ आ गई। यथार्थ में हिंदी-गद्य की उन्नति का श्रेय उस समय की पत्र-पत्रिकाओं को ही है। अधिकांश लेखक अपने साथ एक-एक पत्र लेकर आये। जो लाना भूल गए, उन्होंने दूसरे पत्रों में अपनी रचनाओं को प्रकाशित कर मानो इस भूल को सुधारा। भारतेंदु के जीवन-काल में जिन-जिन पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ था, उनके नाम इस प्रकार हैं—अलमोड़ा अखबार (अलमोड़ा, सन् १८७१ ई०, पंडित सदानंद) हिंदी-दीप्ति-प्रकाश (कलकत्ता, सन् १८७२ ई०, कार्त्तिक-प्रसाद खत्री) बिहार-बंधु (बिहार, सन् १८७२ ई०, केशवराम भट्ट) सदादर्श (दिल्ली, सन् १८७४ ई०, लाला श्रीनिवासदास) काशी-पत्रिका (काशी, सन् १८७६ ई०, बाबू बालेश्वरप्रसाद बी० ए०) भारत-बंधु (अलीगढ़, सन् १८७६ ई०, तोताराम) भारत-मित्र (कलकत्ता, सन् १८७७ ई०, रुद्रदत्त) मित्र-विलास (लाहौर, सन् १८७७ ई०, कन्हैयालाल) हिंदी-प्रदीप (प्रयाग, सन् १८७७ ई०,

पंडित बालकृष्ण भट्ट) आर्य-दर्पण (शाहजहाँपुरा, सन् १८७७ ई०, मुंशी बख़्तावरसिंह) सार-सुधानिधि (कलकत्ता, सन् १८७८ ई०, सदानंद मिश्र) उचितवक्ता (कलकत्ता, सन् १८७८ ई०, दुर्गाप्रसाद मिश्र) सज्जन-कीर्ति-सुधाकर (उदयपुर, सन् १८७९ ई०, बंशीधर) भारत-सुदशाप्रवर्त्तक (फ़रुखाबाद, सन् १८७९ ई०, गणेशप्रसाद) आनंद-कादंबिनी (मिरजापुर, सन् १८८१ ई०, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन') देश-हितैषी (अजमेर, सन् १८८२ ई०) दिनकर-प्रकाश (लखनऊ, सन् १८८३ ई०, रामदास वर्मा) धर्म-दिवाकर (कलकत्ता, सन् १८८३ ई०, देवीसहाय) प्रयाग-समाचार (प्रयाग, सन् १८८३ ई०, देवकीनंदन त्रिपाठी) ब्राह्मण (कानपुर, सन् १८८३ ई० प्रतापनारायण मिश्र) शुभचिंतक (जबलपुर, सन् १८८३ ई०, सीताराम) सदाचार-मार्तण्ड (जयपुर, सन् १८८३ ई०, लालचंद शास्त्री) हिंदोस्थान (इँग्लैंड, सन् १८८३ ई०, राजा रामपालसिंह) पीयूष-प्रवाह (काशी, सन् १८८४ ई०, अंबिकादत्त व्यास) भारत-जीवन (काशी, सन् १८८४ ई०, रामकृष्ण वर्मा) भारतेंदु (वृन्दावन, सन् १८८४ ई०, राधाचरण गोस्वामी) कविकुलकंज-दिवाकर (बस्ती, सन् १८८४ ई०, रामनाथ शुक्ल) हिंदी बंगवासी (कलकत्ता, सन् १८९०, बाबू योगेशचंद्र बसु) वेंकटेश्वर-समाचार (बम्बई, सन् १८९० ई० इन पत्रों के अतिरिक्त कुछ धार्मिक और जातीय पत्रिकाएँ भी निकली थीं।

उदाहरणार्थ—धर्म प्रचारक (सन् १८८५ ई०) आर्य सिद्धान्त (सन् १८८७ ई०) हिन्दी पञ्च (सन् १८९० ई०) क्षत्रिय पत्रिका (सन् १८८१ ई०) आदि। इन समस्त पत्रों में हिन्दोस्थान, भारतोदय और समाचार-सुधावर्षण के अतिरिक्त सभी पत्र साप्ताहिक, या पाक्षिक या मासिक थे। इन सबका उद्देश्य या तो सामाजिक सुधार था या राजनीतिक या धार्मिक। संक्षेप में ये पत्र-पत्रिकाएँ इन विभिन्न क्षेत्रों की साधन मात्र थीं। इनमें से बहुत सी पत्रिकाएँ केवल अल्प समय तक

निकलकर बन्द हो गईं। ऐसी पत्रिकाएँ बहुत कम थीं, जिनके द्वारा हिन्दी-गद्य को प्रोत्साहन मिला था।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो 'हिंदी-प्रदीप' 'आनन्द-कादम्बिनी' 'ब्राह्मण' 'पीयूष-प्रवाह' आदि पत्र विशेष महत्त्व के हैं। 'हिंदी-प्रदीप' और 'ब्राह्मण' के सम्पादकों की गद्य-शैली से हम अवगत हो चुके हैं। इन पत्रों में उनकी वही शैली देखने को मिलती है। 'आनन्द कादम्बिनी' के सम्पादक बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने तो अपने पत्र में साधारण से साधारण सूचना तक में संस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग किया था। गद्य के अन्य अंगों की सी वही काव्योचित भाषा। वे ही लम्बे-लम्बे अनुप्रासपूर्ण वाक्य !! देखिए—

'इस बार कांग्रेस का अधिवेशन भारत-राजधानी कलकत्ते में होगा, इसी के सिद्धान्त और कार्य प्रणाली के परिवर्तन के विषय में बंगाल में घोर मतभेद उपस्थित हुआ है। क्योंकि बाईस वर्ष पर्यन्त देश शासन आदि के सुधार के विषय में बारम्बार भारत-साम्राज्य से जो प्रार्थनाएँ की गईं उसका कुछ फल होते न देखकर प्रजा का अधिकांश दल हताश होकर अब "अपने ही मरने में स्वर्ग देखने" का स्वप्न देख रहा है।'

पंडित अंबिकादत्त व्यास का 'पीयूष-प्रवाह' यद्यपि अधिक दिनों तक नहीं चल सका, तथापि उसके द्वारा हिन्दी-गद्य को सहायता अवश्य पहुँची। 'पीयूष-प्रवाह' की भाषा में गंभीरता थी और लम्बे-लम्बे वाक्य भी सफलतापूर्वक लिखे जाते थे। इससे न तो वाक्यों के अन्वय पर कोई आघात पहुँचता था और न कहीं किसी प्रकार की शिथिलता ही दृष्टिगोचर होती थी। उनकी भाषा का यह नमूना देखिए—

'घर से चटनी और घुंघना चाटते हुए स्कूल में पहुँचे कि देखा-देखी पेंसिल चाटना तो पहला लेसन् सीखा अब चाहे हिंदू का लड़का मुसलमान के लड़के से पेंसिल ले और चाहे श्रोत्रिय ब्राह्मण का लड़का

धोबी के बच्चे से ले, पेंसिल चाटने के समय कुछ सोचें विचारें सो क्यों ? अब दस्सर नोसर का सर्राटा लेते सरसराकर ऊँचे से ऊँचे दर्जे तक पहुँच गए पर अपने-अपने धर्म का कुछ भी मरम न समझा। हाँ यह उन्नति अवश्य भई कि पहिले लिफ़ाफ़ा बन्द करने को गोंददानी या पानी ढूँढना पड़ता था सो अब तो चट हाथ होंठ पर फेर थूक लगाया और बन्द किया।"

इस प्रकार हम देखेंगे कि भारतेंदु-युग की पत्र-पत्रिकाओं का प्रधान उद्देश्य लोक-कल्याण के साथ ही साथ हिंदी-सेवा करना था। उनका सीधा सम्बन्ध साहित्य से था। सम्पादन-कला से ये लेखक सर्वथा अनभिज्ञ थे इससे यद्यपि समाचार-पत्रों के कला-रूप का विकास नहीं हो पाया, परन्तु हिंदी-गद्य को विशेष सहायता मिली। गद्य-लेखन-शैली जिसका इस युग के पूर्व परिमार्जन नहीं हो सका था, उसका परिमार्जन होने लगा। भाषा को जो चलता हुआ, मधुर और स्वच्छ रूप मिलने लगा, उसका श्रेय इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं को है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(३) जीवन-चरित्र—

भारतवर्ष प्रधानतः एक धार्मिक देश है। यहाँ के लोगों की दृष्टि यदि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक आदर्श चरित्रों की ओर लगी रही, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। हमारे यहाँ गंगा जी की जीवनी बहुत पुराने समय में लिखी कही जाती है, लेकिन अभी तक वह चरितार्थ नहीं हो सकी है। प्राचीन काल में भी चरित-काव्य लिखे गये थे जैसे अश्वघोष का बुद्धचरित लेकिन उनमें कवित्व की मात्रा अधिक थी। वीर-गाथा-काल में ऐसे रासो की कमी नहीं, जिनमें राजा की चढ़ाइयों, युद्धों आदि का वर्णन कविताबद्ध जीवनियों के रूप में देखने को मिलता है। राजा उस समय ईश्वरीय अवतार माना जाता था, इसलिए कवियों तथा लेखकों ने उनका गुण-गान करना अपना परम कर्त्तव्य समझा। भक्तिकाल में भी आदर्श चरित्रों

के प्रति लेखकों की यही भावना बनी रही। अन्तर केवल इतना ही हुआ कि जहाँ पूर्ववर्ती लेखक अपने शासक की स्तुति करते थे, वहाँ इस समय के लेखक महात्माओं और भक्तों का गुण-गान करने लगे। नाभादास कृत 'भक्तमाल' और बाबा बेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित' में इन्हीं महात्माओं और संतों का गुण-गान किया गया है लेकिन इनमें साम्प्रदायिक महत्ता का पुट आ गया है। इस समय तक मनुष्य के व्यक्तिगत रूप का कोई महत्त्व नहीं समझा जाता था, इसलिए इस प्रकार की रचनाओं को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सका। सम्भव है आदर्श-चरित्रों को लेकर कुछ और भी जीवनियाँ लिखी गई हों पर वे आज या तो नष्ट हो गई हैं या उनकी खोज आज दिन तक कोई नहीं कर पाया है। अकबर के समय में आगरानिवासी जैन कवि बनारसीदास ने अपनी आत्म-कथा 'अर्द्ध कथानक' के नाम से लिखी है, जिसमें उन्होंने अपनी बुराइयों और कमज़ोरियों का वर्णन करते हुए आगरे में उधार तेल की कचौड़ी खाने की बात भी लिखी है। इस प्रकार सम्भव है और भी जीवनियाँ लिखी गई हों। हिंदी-गद्य-साहित्य के प्रारम्भिक काल में आकर कुछ पाठ्य पुस्तकें अवश्य तैयार की गईं, लेकिन जीवनी-साहित्य की अवस्था ज्यों की त्यों रही। सन् १८५७ ई० में रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह जू देव ने 'रामरसिकावली' नामक ग्रंथ की रचना अवश्य की है, पर उसमें नाभादास की ही शैली का अनुकरण किया गया है और विषय का प्रतिपादन भी उसी ढंग पर हुआ है। इसके अतिरिक्त सन् १८६२ ई० में युगलदास का 'बघेलवंशागम निर्देश', सन् १८७७ ई० में भारतेंदु हरिश्चन्द्र का 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' और सन् १८८६ ई० में राधाचरण गोस्वामी का 'नवभक्तमाल' देखने को मिलते हैं, पर ये तीनों जीवन-चरित 'रामरसिकावली' ग्रंथ की ही परम्परा के हैं। इनमें कोई नवीनता नहीं। भक्तों और महात्माओं के धार्मिक जीवन और उनके अतिप्राकृत प्रसंगों का उल्लेख उसी पुरानी परिपाटी पर हुआ है। इनमें किवदंतियों

की मात्रा अधिक है और चरित-नायकों को उसी ईश्वरीय-रूप में देखने की चेष्टा की गई है। अतः अब तक के जीवनी-साहित्य में हम किसी लेखक को मौलिक नहीं कह सकते।

आधुनिक ढंग पर जीवनियाँ लिखने का कार्य हिंदी-साहित्य में सर्वप्रथम भारतेंदु-युग से आरम्भ होता है। भारतेंदु ने जब अपनी लेखनी गद्य के सभी अंगों पर चलाई तो गद्य के इस अंग को कमी उन्हें विशेष रूप से अखरने लगी। 'चरितावली' इस अंग के अभाव की पूर्ति का प्रथम प्रयास है। इस प्रकार जीवनी-साहित्य का वास्तविक आरम्भ सन् १८८२ ई० से मानना अधिक न्याय-संगत है। 'चरितावली' भारतेंदु की सबसे बड़ी रचना है। इसमें उन्होंने जिन-जिन महापुरुषों के जीवन-चरित्र लिखे हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—विक्रम, कालीदास, रामानुज, शंकराचार्य, जयदेव, पुष्पदेवाचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नेपोलियन, जंगबहादुर, द्वारिकानाथ जज, राजाराम शास्त्री, लार्ड मेयो, लार्ड लारेंस और ज़ार अलेकजैंडर द्वितीय। अंत में कुछ भारतीय और पाश्चात्य महापुरुषों की कुंडलियाँ भी दी गई हैं। ये सब जीवन-चरित्र बड़ी खोज और छानबीन के बाद लिखे गए हैं और उनमें दोनों देशों के महा-पुरुषों की जीवन-सामग्री बड़े कौशल के साथ सजाई गई है। इन जीवनियों की भाषा का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसमें प्रधानतः दो शैलियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। पहले प्रकार की शैली उस स्थान पर है जहाँ पर उन्होंने प्राचीन-काल का पुरातत्त्व-विषयक इतिहास गवेषणा तथा मननपूर्वक लिखा है। ऐसे स्थानों पर संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है और वाक्यावली भी विशद हो गई है। दूसरे प्रकार की शैली उस स्थान पर है जहाँ मुसलमानी इतिहास की साधारण बातें लिखी गई हैं। ऐसे स्थानों पर न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता है और न विशद वाक्यावली ही पाई जाती है। इसमें उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हुआ है। भारतेंदु की वास्तविक शैली भी यही है।

भारतेंदु से आगे चलकर कार्तिकप्रसाद खत्री ने तीन जीवनियाँ लिखीं। सन् १८९३ में, 'मीराबाई का जीवन-चरित' सन् १८९४ ई० में 'महाराणा छत्रपति शिवाजी का जीवन-चरित' और सन् १८९७ ई० में 'अहल्याबाई का जीवन-चरित'। इसी प्रकार राधाकृष्णदास ने भी तीन जीवनियाँ लिखकर इस साहित्य की वृद्धि की। सन् १८९४ ई० में 'श्री नागरीदासजी का जीवन-चरित', सन् १८९५ ई० में 'कविवर बिहारीलाल' और सन् १९०० ई० में 'सूरदास' का जीवन-चरित। इनके अनंतर गोकुलनाथ शर्मा ने सन् १८९७ ई० में 'श्री देवीसहाय-चरित' और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने सन् १८९७ ई० में 'पोप कवि का जीवन-चरित्र' लिखकर जीवनी-साहित्य की रुचि का परिचय दिया। मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ ने भी सन् १८९३ ई० में अनेक जीवनियाँ लिखीं जिनमें 'पृथ्वीराज कछवाहा' 'राजा भीम' 'रतनसिंह' 'हिंदूपति महाराणा उदयसिंह' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके बाद भी थोड़े बहुत जीवन-चरित्र देखने को मिलते हैं, पर विशेष नहीं। इन जीवन-चरित्रों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें लेखकों की दृष्टि ऐतिहासिक तथ्यों की ओर अधिक गई है, किंवदन्तियों की ओर नहीं। जहाँ ऐतिहासिक तथ्यों की खोज नहीं हो पाई है, वहाँ पर तो बाध्य होकर लेखक को किंवदन्तियों की ही शरण लेनी पड़ी है जैसे कार्तिक-प्रसाद खत्री कृत 'मीराबाई के जीवन-चरित' में, पर ऐसी प्रवृत्ति कम पाई जाती है। भारतेंदु, राधाकृष्णदास और मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ की जीवनियाँ आज के अधिक समीप हैं। उनमें विषय का प्रतिपादन वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। आदर्श से आदर्श जीवन-चरित को भी साधारण रूप में देखा गया है। इन लेखकों में आज की कला के गुण पाये जाते हैं। इनके द्वारा लिखित जीवनियों की शैली बड़ी ही रोचक और आकर्षक है। भाषा सरल, स्वाभाविक और स्वच्छ है।

भारतेंदु-युग का जीवनी-साहित्य अभी तक उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। उसे संकलन रूप में लाने की चेष्टा किसी

ने नहीं की। इसलिए जो जीवन-चरित ग्रंथों के रूप में हमें उपलब्ध हैं, उन्हीं से सन्तोष कर लेना पड़ता है। इन प्राप्य जीवन-चरित्रों का हिन्दी-गद्य में उच्च स्थान है। आधुनिक जीवन-चरित्रों का वास्तविक आरंभ भारतेंदु-युग से हुआ, यह हमारे लिए क्या कम सौभाग्य की बात है ?

(४) समालोचना—

साहित्य में समालोचना का एक विशेष स्थान है। समालोचना के द्वारा ही हम अच्छी बुरी रचनाओं के भेद-भाव को समझने में सहायक होते हैं। समालोचना के बिना साहित्य की खरी परख नहीं हो सकती और न साहित्य का कोई आदर्श रूप ही स्थिर हो सकता है। समालोचना आधुनिक-काल की देन है। इसके पूर्व साहित्य में समालोचना का वास्तविक रूप देखने को नहीं मिलता। संस्कृत के आचार्य और काव्य-शास्त्रियों ने लक्षण-ग्रंथों की रचनाएँ कर रस, अलंकार आदि के उत्कृष्ट काव्य-उदाहरणों को हमारे सामने लाकर, समालोचना का बीज अवश्य बोया, लेकिन उनका यह क्रम अधिक दिनों तक जारी नहीं रह सका। इस प्रकार कुछ साहित्यिक-ग्रंथों की भी टीकाएँ हुईं, जिनमें समालोचना का कुछ अंश पाया जाता है। इन टीकाओं में अर्थ के साथ-साथ उन स्थलों का विस्तृत विवेचन भी देखने को प्राप्त होता है जिनके लिए भाष्य की आवश्यकता हुई है। अर्थ के साथ-साथ इन टीकाकारों की प्रवृत्ति विशिष्ट स्थलों के काव्यगत महत्त्व को प्रदर्शित करने की भी रही है। मल्लिनाथ की टीकाएँ इसके उदाहरण हैं। रचनाओं के ऐसे भाष्यों के अतिरिक्त निर्णयात्मक पद्धति द्वारा उच्च कोटि के कवियों के सम्बन्ध में कुछ उक्तियों का प्रयोग भी देखा जाता है। ये उक्तियाँ उन कवियों के सम्बंध में कोई न कोई निर्णय अवश्य देती हैं। इस प्रकार की उक्तियाँ संस्कृत और हिंदी दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं। जहाँ संस्कृत में कालीदास, बाण, भवभूति आदि के लिए ऐसी प्रशंसात्मक उक्तियों का प्रचलन रहा, वहाँ हमारे यहाँ भी 'सूर सूर

तुलसी ससी उडुगन केसवदास। अब के कवि खद्योत-सम जहँ तहँ करहिं प्रकास' कहकर समालोचना की प्रवृत्ति का परिचय दिया। रीतिकाल में आकर कुछ ऐसे ग्रंथ भी लिखे गए जिनमें काव्य के अंगों के उदाहरण अपनी ओर से न देकर लक्ष्य-ग्रंथों से रखे गए। यद्यपि इस समय तक किसी कवि अथवा ग्रंथ की स्वतन्त्ररूप से विस्तृत समालोचना नहीं पाई जाती, तथापि इतना तो हम अवश्य मान सकते हैं कि हिंदी में समालोचना का बीजारोपण इस समय तक हो चुका था। इस प्रकार की समालोचनाओं का प्रमुख उद्देश्य गुण-दोष-विवेचन के अतिरिक्त और कुछ न था। यथार्थ में, हिंदी-साहित्य में समालोचना का सूत्रपात ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के अनंतर पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से ही हो सका।

हिंदी-साहित्य में समालोचना का सर्वप्रथम आधुनिक रूप सन् १८८२ ई० की 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में दिखाई देता है, जिसमें लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर नाटक की बड़ी कड़ी आलोचना बालकृष्णभट्ट ने की थी। भारतेंदु-युग में पुस्तकों की विस्तृत समालोचनाएँ पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी अपनी इस पत्रिका में लिखते रहते थे। इस प्रकार की समालोचनाएँ उस समय में अन्य साहित्यिक पत्रों में भी निकलती रहती थीं। पर समालोचना के इस प्रारम्भिक काल में किसी पुस्तक का परिचय देने में ही वे लेखक अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते थे। किसी ग्रंथकार के गुण अथवा दोष दिखाने के उद्देश्य से इस समय में कोई समालोचना निकली हो, सो बात नहीं। इस अभाव की पूर्ति पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा हुई, जिसका आरम्भ सन् १८९८ ई० के करीब 'हिन्दोस्थान' पत्र द्वारा हुआ। द्विवेदी जी ने 'हिंदी कालीदास की समालोचना' लिखी, जिसका प्रकाशन आगे चलकर हुआ। इसमें उन्होंने लाला सीताराम बी० ए० के अनुवादित नाटकों की भाषा तथा भाव-संबंधी दोषों पर प्रकाश डाला है। अनुवादों की समा-

लोचना होने के कारण द्विवेदी जी उन नाटकों के मूल भावों में अधिक नहीं जा सके। इस समालोचना में उन्होंने गुण की अवहेलना कर दोषों को ही ढूँढने का प्रयत्न किया। सन् १८९९ ई० में उन्होंने सरकारी हिंदी-रीडरों की भी कड़ी आलोचनाएँ लिखीं। इस समय से ही हिंदी में दोषों को ढूँढने की प्रवृत्ति चल पड़ी और समालोचना के क्षेत्र में लेखकों की वृद्धि होने लगी। इनमें से कुछ तो केवल अपनी विद्वत्ता-प्रदर्शन के उद्देश्य से ही किसी रचना में यों ही जान बूझकर दोष दिखाने लग गए थे। द्विवेदी जी के इस प्रयत्न से इतना तो हमें निःसंकोच रूप से अंगीकार करना पड़ेगा कि यद्यपि गंभीर समालोचना-साहित्य का सृजन न हो सका, पर पहले की अपेक्षा इसने अपनी यथेष्ट उन्नति की और लेखकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया।

समालोचना-साहित्य की वृद्धि पर विचार करते समय सन् १८९७ ई० में प्रकाशित हम 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' को नहीं भूल सकते। इस पत्रिका में समय-समय पर समालोचना के सम्बन्ध में अनेक लेख प्रकाशित होते रहे, जिससे कवियों और लेखकों को साहित्य-सृजन में काफ़ी सहायता मिली। सन् १८९६ ई० में गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' नामक पुस्तक का रूपान्तर इसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार सन् १८९७ ई० में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और अम्बिकादत्त व्यास ने इस पत्रिका में क्रमशः पद्यात्मक 'समालोचनादर्श' और 'गद्य-काव्य-मीमांसा' नामक लेख प्रकाशित कराये। आधुनिक समालोचना की दृष्टि से भले ही ये लेख महत्त्वपूर्ण न हों, पर इनमें गम्भीरता और समालोचना के पर्याप्त अंकुर विद्यमान हैं। इनके बाद समालोचना-साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

इस प्रकार भारतेंदु-युग तक जैसा कि हम देख चुके हैं समालोचना-साहित्य की अधिक वृद्धि नहीं हुई, पर इतना अवश्य है कि इस समय के लेखकों के प्रभाव से एक ओर तो नवीन लेखकों को सावधान

से रचनाएँ करनी पड़ीं तथा दूसरी ओर आगे चलकर विद्वानों का ध्यान समालोचना की ओर आकर्षित हुआ।

(५) उपन्यास—

कथा-कहानियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। मानव-जाति अनन्त काल से इसके द्वारा मनोरंजन करती चली आ रही है। अब तक गद्य-साहित्य में ऋग्वेद, ब्राह्मणों, उपनिषदों, बौद्ध और जैन साहित्यों में इसका सर्वप्रथम आभास मिलता है। मानव-मन की कुतूहल-वृत्ति के लिए ही संस्कृत में पंचतंत्र, हितोपदेश, वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, कथासरित्सागर, बृहत्कथा और बृहत्कथामंजरी की सृष्टि हुई थी। प्राचीन और मध्य-काल में पद्य-रचना की प्रधानता के कारण लोगों की दृष्टि इस ओर नहीं जा सकी। इस समय में कथा-कहानियों के प्रेमी संस्कृत से अनूदित, फ़ारसी-उर्दू से उधार माँगी हुई कथा-कहानियों तथा मौखिक कथाओं जैसे तोता-मैना, सारंगा सदा वृत्त, पद्मावत आदि से ही अपनी जिज्ञासा-वृत्ति शांत कर लिया करते थे। निर्माण काल में आकर इसका सर्वप्रथम रूप रानी केतकी की कहानी, सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शकुंतला, प्रेमसागर, नासिकेतोपाख्यान, गोराबादल की कथा और राजा भोज का सपना में देखने को मिला। लेकिन यथार्थ में ये समस्त कथाएँ उपन्यास-कला से कोसों दूर हैं। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से ही गद्य-साहित्य की अपूर्व उन्नति के परिणाम-स्वरूप ऐसे उपन्यासों की नींव पड़ी, जिनमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ जीवन के प्रमुख व्यक्तियों को स्थान दिया जाने लगा तथा उनसे संबंधित वास्तविक वा काल्पनिक घटनाओं द्वारा जीवन के किसी सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाने लगा। अस्तु, हरिश्चन्द्र-युग के उपन्यास-साहित्य को सुविधापूर्वक समझने के लिए हम उसे चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—सामाजिक और गार्हस्थ्य, नीति और शिक्षा-सम्बन्धी, तिलिस्मी और जासूसी तथा ऐतिहासिक।

सामाजिक और गार्हस्थ्य सम्बन्धी उपन्यासों का सूत्रपात किशोरी लाल गोस्वामी ने किया। उनके 'त्रिवेणी' (सन् १८८८ ई०), 'स्वर्गीय कुसुम' (सन् १८८९ ई०) और 'हृदयहारिणी' (सन् १८९० ई०) नामक उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का चित्रण देखने को मिलता है। गोस्वामी जी का उपन्यासों के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सन् १८९८ ई० में 'उपन्यास' नामक पत्र निकालकर आपने इस अंग को पुष्ट करने की चेष्टा की। उनके इन उपन्यासों से अन्य लेखकों को प्रेरणा मिली, जिसके फल-स्वरूप सन् १८८८ ई० में देवीप्रसाद शर्मा और राधाचरण गोस्वामी ने 'विधवा विपत्ति', सन् १८९३ ई० में हनुमन्तसिंह ने 'चन्द्रकला', सन् १८९६ ई० में कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'जया', सन् १८९४ ई० में गोपालराम गहमरी ने 'नये बाबू', सन् १८९४ ई० में गोकुलनाथ शर्मा ने 'पुष्पवती' और सन् १८९० ई० में राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिंदू' नामक उपन्यासों की सृष्टि की। इन समस्त उपन्यासों का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार की सामाजिक कुरीति से है, यथा गोस्वामी जी के 'त्रिवेणी' में सनातन धर्म का गुणगान किया गया है और उसके साथ ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म की बुराइयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस उपन्यास की मूल प्रेरणा उन्हें ईसाइयों से मिली जो हिंदू धर्म को निकृष्ट करार देकर अपने धर्म के प्रचार के लिए भाग-दौड़ कर रहे थे।

ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम लिखे गए। इस प्रकार के उपन्यासों का श्रीगणेश भी किशोरीलाल गोस्वामी के 'लवङ्गलता' (सन् १८९० ई०) और 'कुसुम कुमारी' नामक उपन्यासों से हुआ। उनके देखादेखी बालमुकुंद गुप्त ने 'कामिनी' लिखा। इन उपन्यासों में एक अद्भुत कल्पना शक्ति के साथ जीवन का सर्वांगीण चित्र तथा मानव-जीवन की अतिरंजित भावनाओं का चित्रण काल विशेष के वातावरण के साथ भले ही न हो, लेकिन लेखकों के आदर्शवादी दृष्टि-

कोण का परिचय मिलता है। उनमें कालविशेष की महिलाओं तथा शूरवीरों की वीरता, शौर्य, प्रेम, त्याग आदि भावनाओं का चित्रण किया गया है। यथा 'लवङ्गलता' हिन्दू-समाज की ऐसी वीरांगनाओं का प्रतिनिधित्व करती है, जिसने मुसलमानों को प्राण देकर भी अपने स्त्रीत्व, धर्म, गौरव आदि की रक्षा की। हिंदी-साहित्य में इस प्रकार के उपन्यास गोस्वामी जी द्वारा सर्वप्रथम लिखे गये। यह बंगला-शैली का प्रभाव था और बंगला पर स्कॉट की शैली का।

इस प्रकार विविध विषयक उपन्यासों का आरम्भ होता गया। नीति और शिक्षा-सम्बन्धी उपन्यास लिखने वालों में सर्वश्री बालकृष्ण भट्ट ने सन् १८८६ और १८९२ ई० में क्रमशः 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान और एक सुजान', रत्नचंद्र प्लीडर ने सन् १८८३ ई० में 'नूतन चरित्र', किशोरीलाल गोस्वामी ने सन् १८९१ ई० में 'सुखशर्वरी', श्रीनिवासदास ने सन् १८८२ ई० में 'परीक्षागुरु', लज्जाराम मेहता ने सन् १८९९ में 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' तथा 'धूर्त रसिकलाल', गोपालराम गहमरी ने सन् १८९८ ई० में 'बड़ा भाई' और 'सास पतोहू' और कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'दीनानाथ' नामक उपन्यास लिखे। इन सभी उपन्यासों से हमें किसी न किसी प्रकार की शिक्षा अवश्य मिलती है, इसलिए इनमें उपदेश की मात्रा अधिक है। कला के सम्बन्ध में लेखकों ने उतना ध्यान नहीं रक्खा। अतः कला की दृष्टि से ये साधारण कोटि के उपन्यास हैं। इन पर बंगला का प्रभाव पड़ा था।

तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास इस समय की एक प्रमुख विशेषता है। तिलिस्म का भाव सर्वप्रथम फ़ारसी में था। अमीर हमज़ा साहब इसे उर्दू में ले गये और अनेक उपन्यास लिखे। सर्वप्रथम देवकीनन्दन खत्री इसे उर्दू से हिंदी में लाये। उन्होंने इस प्रकार के सन् १८९१ ई० में 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता-संतति', सन् १८९९ ई० में 'नरेन्द्रमोहिनी' और 'कुसुम कुमारी', और सन् १८९८ ई० में

'वीरेन्द्रवीर' नामक उपन्यास लिखे। खत्री जी का अनुकरण कर देवी-प्रसाद शर्मा ने सन् १८९३ ई० में 'सुन्दर सरोजिनी' और जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने सन् १८९९ ई० में 'बसन्त मालती' लिखा। तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए और इनका इतना आधिक्य रहा कि किशोरीलाल गोस्वामी भी इस मोह को नहीं छोड़ सके। उन्होंने भी 'स्वर्गीय कुसुम', 'लवङ्गलता' 'प्रणयिनी परिणय' 'कटे मूढ की दो-दो बातें' आदि में तिलस्म का प्रयोग किया है। इन सब उपन्यासों में किसी न किसी प्रकार का जादू, चमत्कार या करामात का काम दिखाया गया है।

हरिश्चन्द्र-युग के उपरोक्त उपन्यासों की भाषा तीन प्रकार की है। प्रथम, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, गोस्वामी जी आदि लेखकों के उपन्यासों की भाषा ऐसी है। लेकिन संस्कृत-शब्दावली होते हुए भी उनमें भाषा का व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि बंगला का प्रभाव पड़ने पर भी भाषा में कहीं कृत्रिमता तथा अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। द्वितीय, जिसमें संस्कृत-शब्दावली का प्रयोग जानबूझकर हुआ है और भाषा को अलंकृत बनाने के लिए अपनी ओर से प्रयत्न किया गया है। जैनेन्द्र किशोर के 'कमलिनी', देवीप्रसाद शर्मा के 'सुन्दर सरोजिनी' नामक उपन्यासों में ऐसी भाषा पाई जाती है। तृतीय, जिसमें अपेक्षाकृत सरल हिंदी का प्रयोग किया गया है, जिसे हिन्दी का सामान्य पाठक भी अच्छी तरह समझ सकता है। किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, देवीप्रसाद शर्मा और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों में भाषा का यह सरल रूप देखने को मिलता है। इन तीनों प्रकार की भाषाओं में अनेक दोष पाये जाते हैं। प्रायः सभी में व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ हैं; वाक्य-विन्यास शिथिल है और व्रजभाषा, पूर्वी हिंदी तथा बंगला के अशुद्ध मुहावरों का प्रयोग है। यथार्थ में

लेखकों की दृष्टि विषय-विविधता की ओर अधिक गई, भाषा की ओर नहीं। उदाहरण के लिए यहाँ किशोरीलाल गोस्वामी की भाषा का एक उदाहरण देखिए—

'लाखों बरस अर्थात् सृष्टि के आदि से यह (भारतवर्ष) स्वाधीन और सारे भूमंडल पर आधिपत्य करता आया था, पर महाभारत के पीछे यहाँ वालों की बुद्धि कुछ ऐसी बिगड़ गई और आपस के फूट के कारण जयचंद ने ऐसा चौका लगाया कि सदा के लिए यह गुलामी की जंजीर से जकड़ दिया गया, जिससे अब इसका छुटकारा पाना कदाचित् कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी है।'

(६) नाटक—

संस्कृत-साहित्य में नाटकों को जो स्थान मिला, वह और किसी साहित्य में खोज करने पर भी नहीं मिल सकता। संस्कृत से निकल-कर जब हम निर्माण काल तक आते हैं, तो हमें इस दिशा में बहुत निराश होना पड़ता है। राष्ट्रीय रंगमंच और गद्य-साहित्य के अभाव में तथा मुसलमान-साम्राज्य की स्थापना हो जाने के कारण नाटकों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल पाया। अतः नाटकों का जो रूप देखने को मिलता है, वह केवल रामलीला, रासलीला, सांगीत और पारसी थियेटरों का ही रूप है, जिनमें केवल नाटकीय-तत्त्वों का आभास मिल सकता है और कुछ नहीं। वैसे तो इस बीच कोई महत्त्वपूर्ण नाटक नहीं लिखा गया, लेकिन नाम-मात्र के लिए हम थोड़े-बहुत नाटकों के नाम अवश्य ले सकते हैं, जैसे—मैथिल कवि विद्यापति का रुक्मिणीहरण और पारिजातहरण, केशवदास का विज्ञानगीता, कृष्णजीवनका करुणाभरण, हृदयराम पंजाबी का हनुमन्नाटक, यशवन्तसिंह का प्रबोधचन्द्रोदय, नेवाज़कवि का शकुन्तला, देव का देवमाया प्रपञ्च, आलम का माधवा-नल कामकन्दला, महाराजा विश्वनाथसिंह का आनन्द रघुनन्दन, मन्जु का हनुमान नाटक, मनसाराम का रघुनाथरूपक और गोविंदरूपक, कृष्णशर्मा का रामलीलाविहार नाटक, हरिराम का जानकी रामचरित

नाटक और ब्रजवासीदास का प्रबोध-चंद्रोदय-नाटक । विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक जो नाटक लिखे गये, वे केवल ये ही हैं। प्रथम तो ये संख्या में बहुत कम हैं, द्वितीय नाटक की दृष्टि से ये अनेक दोषों से भरे पड़े हैं। अधिक से अधिक आनन्द-रघुनंदन जैसे तीन-चार नाटक ऐसे अवश्य मिल जायेंगे, जिन्हें हम नाटक के समीप ठहरा सकते हैं। हमारे यहाँ प्रेस की सुविधा हो जाने पर ही प्राचीन नाटक प्रकाश में लाये गये, कुछ अनुवाद किये गये और धीरे धीरे मौलिक नाटकों की भी सृष्टि होने लगी। सन् १८६१ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह के शकुन्तला नाटक के अनुवाद से लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। सर्वप्रथम सन् १८६४ ई० में भारतेंदु के पिता गोपालचन्द्र ने एक 'नहुष नाटक' लिखा, जो शास्त्रानुकूल होते हुए भी हमें अधूरा प्राप्त होता है। यथार्थ में, भारतेंदु की मौलिक और अनूदित रचनाओं से ही नाट्य-साहित्य का आरंभ हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हिंदी नाट्य-साहित्य में भारतेंदु का नाम चिर-स्मरणीय है। उन्होंने जो मौलिक नाटक लिखे, वे ये हैं—सत्य हरिश्चन्द्र, (सन् १८७६ ई०,) चंद्रावली, (सन् १८८०) भारत-दुर्दशा (सन् १८८१) नीलदेवी, अंधेर-नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, (सन् १८७६) विषस्य विषमौषधम्। (सन् १८७५) प्रेमयोगिनी और (सन् १८८३) सती-प्रताप ऐसे मौलिक नाटक हैं, जो अपूर्ण हैं। सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक और प्रेम-प्रधान प्रायः सभी प्रकार के नाटक उन्होंने लिखे हैं। भारतेंदु के इन नाटकों का हिंदी-भाषा और साहित्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। भारतेंदु ने संस्कृत, अँग्रेज़ी तथा बंग देश के नाटकों का विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन किया था। समय और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपनी प्रतिभा, परिश्रम और साहित्यिक अभिरुचि के द्वारा उन्होंने ऐसे नाटक लिखे, जिससे हिंदी-गद्य का विकास ही नहीं हुआ, वरन् साहित्य

एक नवीन भूमि पर खड़ा हो गया। भारतेंदु के अनंतर श्रीनिवासदास ने सन् १८७८ ई० में 'रणधीर और प्रेममोहिनी,' सन् १८८३ ई० में 'तप्तासंवरण' और सन् १८८५ ई० में 'संयोगिता स्वयंवर' नामक नाटक लिखे। इसी प्रकार राधाकृष्णदास ने सन् १८८० ई० में 'दुखिनी बाला', सन् १८८२ ई० में 'पद्मावती', सन् १८८५ ई० में धर्मालाप और सन् १८९७ ई० में 'महाराणाप्रताप' नामक नाटक लिखे। किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा सन् १८९१ ई० में 'मयङ्क-मंजरी' और राधाकृष्णदेवशरणसिंह द्वारा 'माधुरी रूपक' लिखा गया। राधाकृष्णदास ने अपने नाटकों को जाति, समाज, धर्म, देश आदि की भलाइयों के लिए लिखा है। शेष नाटक प्रेम-प्रधान हैं, कहीं-कहीं तत्कालीन परिस्थितियों का भी चित्रण किया गया है।

भारतेंदु से प्रेरणा पाकर बहुत से लेखकों ने ऐसे नाटक लिखना आरम्भ किया जो उस समय के रंगमंच पर खेले भी जा सकते थे। इस दृष्टि से देवकीनन्दन त्रिपाठी ने अनेक नाटक लिखे। इनकी हस्त-लिखित प्रतियों के मुख्य-मुख्य नाम ये हैं—सीताहरण, रुक्मिणीहरण, रामलीला, कंसवध, बाल विवाह, गोवध-निषेध नाटक आदि। इसी प्रकार खड्गबहादुरलाल ने भारत ललना, कल्पवृक्ष आदि नाटक और अम्बिकादत्त व्यास ने ललिता नाटिका, गोसंकट नाटक तथा भारत-सौभाग्य नामक नाटक लिखे। इस दृष्टि से बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का नाम भी गर्व के साथ लिया जा सकता है, उन्होंने भारत सौभाग्य नामक एक सुन्दर नाटक लिखा। बलदेवप्रसाद मिश्र ने मीराबाई और नन्द विदा, तोताराम वर्मा ने विवाह-विडम्बन-नाटक लिखे, और प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत-दुर्दशा-रूपक' तथा 'कलिकौतुक-रूपक' की सृष्टि की। इस प्रकार और भी अनेक नाटककारों का योग प्रशंसनीय रहा। इनमें देश-हित की भावना प्रधान रूप से थी, मनोरंजन गौण था। प्रत्येक लेखक समाज-सुधार की भावना को लेकर नाटक की रचना करता था। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से केवल भारतेंदु ने

ही अपने नाटक लिखे, जिसमें कला के साथ तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण भी है। इसलिए भारतेंदु के बाद यद्यपि नाटक लिखे जाते रहे, पर वे साहित्यिक दृष्टि से नहीं लिखे जाते थे।

भारतेंदु-युग में प्रहसन लिखने की परम्परा भी चलती रही। सर्वप्रथम व सन् १८७३ ई० में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिख ही चुके थे, उनका दूसरा प्रहसन सन् १८८१ ई० में 'अंधेर नगरी नाम से निकला। फिर तो सामाजिक कुरीतियों की मज़ाक उड़ाने वाले लेखकों की धूम मच गई। वेश्यावृत्ति और नशे के दुष्परिणामों को ध्यान में रख कर बालकृष्णभट्ट ने 'शिक्षादान' और 'जैसा काम वैसा परिणाम' नामक दो प्रहसन सन् १८७७ ई० में लिखे। देवकीनन्दन त्रिपाठी ने भी 'रक्षा-बन्धन', 'एक-एक के तीन-तीन', 'स्त्रीचरित्र', 'वेश्याविलास' आदि हस्तलिखित प्रहसन लिखे। भारतेंदु के पश्चात् आपके प्रहसन अधिक लोकप्रिय हुए। इसी प्रकार राधाचरण गोस्वामी ने 'लोग देखें तमाशे', किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट चपेट', देवकीनन्दन तिवारी ने 'कलियुगी विवाह प्रहसन' और गोपालराम गहमरी ने 'जैसे को तैसा' आदि प्रहसन लिखकर समाज के विभिन्न अङ्गों की कटु आलोचना की। प्रहसन-लेखकों में तीक्ष्ण व्यंग्य और शिष्ट हास्य की मात्रा यदि कहीं मिलती है तो वह भारतेंदु, देवकीनन्दन त्रिपाठी और राधाचरण गोस्वामी में। अन्य लेखक इस दृष्टि से असफल-से ही रह गये हैं।

भारतेंदु-युग के इन समस्त नाटकों का उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक सुधार तथा देश-प्रेम था। उस समय लोग पारसी थियेटरों में जाने को लालायित रहते थे, उन्हें वहाँ के हल्के-हल्के गाने अच्छे लगते थे। जनता को पारसी थियेटरों से बचाने के उद्देश्य से ये नाटककार अपने नाटकों में गाने भी रखते थे, इसलिए जनता इनका समानरूप से आदर करती थी। अभिप्राय यह है कि गाने-बजाने का ढंग वैसा ही था, पर उद्देश्य दोनों का भिन्न-भिन्न था। जहाँ तक

नाट्य-शास्त्र की बातों का सम्बन्ध है, उनका प्रयोग इन नाटकों में होता था, लेकिन उस रूप में नहीं। वे प्राचीन नियमों का आदर करते थे, लेकिन आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी कर देते थे। इन सब नाटकों द्वारा भारतेंदु-युग के लेखकों की प्रतिभा तथा भावनाओं का खूब प्रभाव पड़ा और जनता का ध्यान भारतीय सभ्यता की ओर लगा रहा। भाषा व्याकरण के दोषों से भरी हुई अवश्य है लेकिन उसमें एक चलता हुआ रूप देखने को मिलता है। वाक्यों के अन्वय जटिल और दुर्बोध नहीं हैं। शब्दों के चुनाव में सरलता और सुगमता का ही ध्यान रक्खा गया है। यथार्थ में 'भारतेंदु-युग के लेखकों की दृष्टि साहित्य के प्रायः सभी अंगों को पुष्ट करने में लगी हुई थी। उन्होंने नवीन विचार और भाव देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी। भाषा को अलंकृत और मधुर बनाने की ओर उनका ध्यान अपेक्षाकृत कम गया। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में से एक उदाहरण देखिए—

......'हाय बेटा! अरे आज मुझे किसने लूट लिया। हाय, मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई! हाय, अब मैं किसका मुख देख के जीऊँगी! हाय, मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया! हाय, मेरा ऐसा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला! अरे बेटा! तैं तो मरे पर भी सुन्दर लगता है। हाय रे! अरे बोलता क्यों नहीं! बेटा जल्दी बोल, देख, माँ कब की पुकार रही है! बच्चा! तू तो एक ही दफ़े पुकारने में दौड़कर गले से लिपट जाता था, क्यों नहीं बोलता'?

(७) गद्यानुवाद—

अनुवाद करना कोई आसान काम नहीं है। मौलिक रचना से भी यह दुस्तर है। गद्य की अपेक्षा पद्य का अनुवाद करना तो और भी कठिन हो जाता है। मूल भावों की रक्षा करते हुए जो अनुवाद सरल, स्वाभाविक और रूप से आगे बढ़ता है, वही सफल और उच्च कोटि का अनुवाद समझना चाहिए। अनुवाद करने की प्रवृत्ति सदैव रही ।

जब कभी किसी अन्य साहित्य में कोई उत्कृष्ट रचना देखी जाती है तो उसका अनुवाद प्रायः अपनी-अपनी भाषा में होता रहता है। हिंदी-गद्य में अनुवाद का आरंभ बसवाँ (मध्य प्रदेश) निवासी पंडित दौलतराम के सन् १७६१ ई० में हरिषेणाचार्य्य कृत जैन 'पद्मपुराण' के भाषानुवाद से हुआ। यह ७०० पृष्ठ का एक विशाल ग्रंथ है। आगे चलकर मुंशी सदासुखलाल ने हिन्दी में श्रीमद्भागवत का स्वतंत्र रूप से 'सुखसागर' नामक अनुवाद किया। ईसाइयों ने आकर बाइबल का अनुवाद वा और कई अनुवाद किये। सन् १८३६ ई० में मार्शमैन साहब के प्राचीन इतिहास का अनुवाद 'कथासार' के नाम से पंडित रतनलाल ने किया। सन् १८२४ ई० में 'गोरा बादल की बात' का गद्यानुवाद भी एक अज्ञात लेखक द्वारा हो चुका था। लेकिन इन सब अनुवादों की भाषा सरस और सुन्दर नहीं थी और न मूल भावों की रक्षा ही की जाती थी। अनुवादक-वृंद साहित्य में ग्रंथों की संख्या बढ़ाने में लगे हुए थे। वस्तुतः उन्हें अनुवाद-कला से कोई सरोकार नहीं था।

सरस और सुंदर अनुवाद भारतेन्दु से आरंभ होता है। मधुर भाषा, मूल लेख के प्रायः सभी भाव उनमें देखने को मिलते हैं। भारतेन्दु-युग में उपन्यास और नाटकों के अनुवाद खूब हुए। उपन्यासों का अनुवाद सर्वप्रथम भारतेन्दु ने किया। भारतेन्दु कृत 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक मराठी उपन्यास का अनुवाद इस दिशा में सर्व-प्रथम प्रयास है। फिर तो अंग्रेज़ी, बँगला, मराठी, संस्कृत उपन्यासों और उर्दू-कथाओं के अनुवाद की बाढ़-सी आ गई। बँगला के अनुवाद ये हैं—भारतेन्दु द्वारा 'राजसिंह', राधाकृष्णदास द्वारा 'स्वर्णलता', गदाधरसिंह द्वारा 'दुर्गेश नन्दिनी' और 'बंगविजेता', गोस्वामीजी द्वारा 'प्रेममयी' और 'लावण्यमयी', राधाचरण गोस्वामी द्वारा 'दीप निर्वाण' और 'बिरजा', बालमुकुन्द गुप्त द्वारा 'मडेल भगिनी' रामशंकर व्यास द्वारा 'मधुमालती' और 'मधुमती', विजयानन्द त्रिपाठी द्वारा 'सच्चा सपना', प्रतापनारायण मिश्र द्वारा 'युगलाङ्गुरीय' और 'कपालकुण्डला'

अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा 'कृष्णकान्त का दान पत्र' और 'राधा रानी', कार्तिकप्रसाद खत्री द्वारा 'कुलटा', 'मधुमालती' 'दलित कुसुम' आदि-आदि। इसी प्रकार गदाधरसिंह ने बंगला के संस्कृत उपन्यास 'कादम्बरी' का और काशीनाथ शर्मा ने 'चतुरसखी' का अनुवाद किया। अनेक संस्कृत कथा-कहानियों को भी हिंदी में लाया गया। काशीनाथ खत्री ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया, गदाधरसिंह ने बँगला से अंग्रेज़ी उपन्यास 'ओथेलो' का हिंदी रूपान्तर लिखा। इसी प्रकार गोपीनाथ पुरोहित ने 'वीरेन्द्र' लिखा। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने उर्दू और अंग्रेज़ी दोनों से अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त लज्जाराम मेहता ने गुजराती उपन्यास 'लीवे जान नो दोस्त' का 'कपटी मित्र' के नाम से अनुवाद किया। कहाँ तक गिनाया जाय इन अनुवादित उपन्यासों से साहित्य भरने लग गया। साथ ही जो उपन्यास जिस भाषा से अनूदित हुआ, उसकी शैली का प्रभाव भी हमारे उपन्यासों पर पड़ता गया।

उपन्यासों की भाँति नाटकों के अनुवाद भी समानान्तर चलते रहे। भारतेन्दु ने जिन संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया, वे ये हैं— 'विद्यासुन्दर', 'पाखण्डविडम्बन', 'धनञ्जयविजय', 'कर्पूरमञ्जरी', 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'मुद्राराक्षस'। संस्कृत के अमूल्य नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करने का श्रेय लाला सीताराम को भी है, जिन्होंने 'महावीर चरित', 'उत्तर राम चरित', 'मालती-माधव', 'मालविकाग्नि मित्र', 'मृच्छ कटिक' और 'नागानन्द' आदि के अनुवाद किये। इसी प्रकार देवदत्त तिवारी ने 'उत्तर राम चरित', रामेश्वर भट्ट ने 'रत्नावली', बालमुकुन्द गुप्त ने 'रत्नावली' और ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणीसंहार नाटक' अनुवाद किये। इन सब लेखकों के अनुवाद सुंदर हुए हैं। अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना हो जाने तथा उनके साहित्य के अध्ययन के पश्चात् तोताराम वर्मा ने सर्वप्रथम ऐडिसन का लिखा 'केटो' नाटक का अनुवाद 'केटो वृत्तान्त' के नाम से किया। इसके

पश्चात् शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद हुआ। आर्या नामक महिला ने 'मरचेंट ऑफ़ वेनिस' का 'वेनिस नगर का व्यापारी' के नाम से और गोपीनाथ पुरोहित ने 'एज़ यू लाइक इट' और 'रोमियो एण्ड जूलियट' का क्रमशः 'मन भावन' और 'प्रेम लीला' नाम से अनुवाद किया। मथुराप्रसाद ने 'मेकबेथ' का अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' के नाम से किया। बँगाल में नाटकों की विशेष उन्नति हो गई थी, इस लिए वहाँ के कुछ अच्छे नाटकों को भी हिंदी में लाया गया। रामकृष्ण वर्मा ने 'पद्मावती', 'वीर नारी' और 'कृष्णाकुमारी' नाम से अनुवाद किये। मुंशी उदितनारायण ने भी 'सती नाटक' 'दीप-निर्वाण' और 'अश्रुमती नाटक' प्रकाशित कराये। इस प्रकार और भी कितने ही लेखक हुए हैं, जो किसी न किसी अच्छे नाटक का अनुवाद करते रहे। महाराष्ट्र के कुछ नाटकों का हिन्दी-रूपान्तर भी इस युग में प्रकाशित किया गया। इन सब अनुवादों की भाषा हिंदी-उर्दू-मिश्रित है। इनका सब से ज़बरदस्त प्रभाव यह पड़ा कि पारसी कम्पनियों पर से लोगों की रुचि जाती रही।

× × ×

: ११ :

द्विवेदी-युग

(सन् १९००–१९२५ ई०)

भारतेंदु ने गद्य की भाषा को जो स्थिर रूप दिया था, वह केवल इने-गिने लेखकों तक ही सीमित रहा—सर्व-साधारण में उसका प्रचार न हो सका। इन लेखकों का विषय, शब्द-चयन और दृष्टिकोण सभी संकुचित था। प्रायः सभी लेखक एक निश्चित तद्भवयुक्त शुद्ध हिंदी के समर्थक थे। ये लोग आपस में बैठ जाते, वाद-विवाद करते और अपनी रचनाएँ अपने वर्ग के लिए ही लिखते-पढ़ते रहते थे। उस समय के गद्य का रूप आजकल की किसी विशेष साहित्यिक गोष्ठी के समान था। 'भारतेंदु-मण्डल' की इस संकीर्ण नीति का परिणाम यह हुआ कि हिंदी-गद्य एक विशेष वर्ग तक ही रुका हुआ पड़ा रहा। आगे चलकर जब लोगों की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं, तो उन्होंने भाषा को एक सीमित क्षेत्र में से निकालकर उसे व्यापक रूप देने के लिए विभिन्न आन्दोलन किये। भारतेंदु, गौरीदत्त और अयोध्याप्रसाद खत्री ने अपने-अपने लेखों और भाषणों द्वारा भाषा की इस व्यापकता के नारे लगाए। सन् १८९३ ई० में बाबू श्यामसुंदरदास के परिश्रम तथा उनके मित्रों के सहयोग से काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना हुई। इस सभा के द्वारा सन् १९०० ई० में हिंदी को अदालतों में अपना स्थान मिल गया। इधर देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों की सृष्टि कर जनता का ध्यान हिंदी की ओर आकर्षित कर रहे थे। इन उपन्यासों का जनता पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। कहने का अभिप्राय यह है कि हिंदी-प्रचारकों द्वारा गद्य को व्यापकता मिलने लगी। जन-समुदाय बरसाती नाले की तरह हिंदी की ओर उमड़ पड़ा। इनमें से बहुत से नवीन लेखकों ने साहित्य-सृजन

करना आरंभ किया। लेकिन इनके सामने भाषा का कोई आदर्श न था, इसलिए प्रायः सबने अपनी-अपनी इच्छानुकूल नये-नये मार्ग ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया। प्रत्येक लेखक अपनी मनमानी भाषा और मनमाने भावों के द्वारा एक मौलिक गद्य-लेखक बनने का मधुर स्वप्न देखने लगा। इस प्रकार हिंदी-गद्य को एक उच्च-भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिए सबने जो अपना-अपना राग अलापना आरंभ किया, उससे गद्य को एक भारी धक्का लगा। यही कारण है कि सन् १६०० से सन् १६०८ ई० तक हिंदी-गद्य केवल अव्यवस्थित ही नहीं रहा, प्रत्युत उसमें अराजकता के चिन्ह स्पष्ट रूप से दिखाई देने लग गये। इस समय के समस्त लेखकों की दृष्टि एक-मात्र बँगला, मराठी, संस्कृत और अंग्रेज़ी से अनुवाद करने की ओर लगी रही, अतः मौलिक गद्य की सृष्टि इन आठ वर्षों के भीतर नहीं हो पाई। लाला हरदयाल, राधिकारमणसिंह, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, अयोध्या-सिंह उपाध्याय, देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी आदि लेखकों की रचनाओं से गद्य की सार्वभौमिक सत्ता का तो पता चलता है, लेकिन भाषा की एकरूपता का परिचय नहीं मिलता। इन सभी लेखकों ने अपने-अपने ईंट, पत्थर और कंकड़ों से अपना-अपना महल अलग-अलग खड़ा किया है। यदि मनमानी न कर ये लेखक वृंद एक सर्वसम्मत भाषा के स्वरूप को अंगीकार करते तो इनके इन महलों से बनी गद्य-नगरी आँखों को चकाचौंध कर देती। देवकीनन्दन खत्री, ब्रजनंदन सहाय, लाला सीताराम, केशवभट्ट, उदित नारायणलाल, पाण्डेय लोचनप्रसाद, ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि में व्याकरण सम्बंधी अशुद्धियों की भरमार देखने को मिलती है। इसी प्रकार सरजूप्रसाद मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम मेहता आदि की रचनाओं में बार-बार वे ही हिंदी के नपे-तुले शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। इनके अतिरिक्त हिंदी-उर्दू समस्या को लेकर भी लेखकों में अनेक वर्ग बन गये थे। लाला हरदयाल, मथुराप्रसाद मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी

आदि उर्दू-शब्दों के पूर्ण बहिष्कार के पक्ष में थे। मन्नन द्विवेदी, सुधाकर द्विवेदी आदि चाहते थे कि विदेशी शब्दों का स्वच्छंदतापूर्वक प्रयोग हो। इनके अतिरिक्त एक वर्ग ऐसे लेखकों का था जो इन दोनों भाषाओं में बहिनों का नाता स्थिर कर तथा दोनों को मिलाकर एक मध्यम भाषा बनाने के पक्ष में था। इस वर्ग में हरिभाऊ उपाध्याय और अनेक लेखक थे। कुछ लेखक नागरी लिपि का प्रचार करना तो अवश्य चाहते थे, पर उर्दू-फ़ारसी के अधिकांश शब्दों का मोह उनसे छूटता नहीं था, इसलिए वे निडर होकर इनका प्रयोग करते थे जैसे मुंशी प्रेमचंद। भाषा सम्बन्धी इस अराजकता का परिणाम एक दृष्टि से आगे चलकर अच्छा हुआ। जो लेखक अपनी-अपनी नीति पर दृढ़ रहकर डटे रहे और सतत साहित्य-सृजन करते गये, उनके द्वारा आगे चलकर विविध गद्य-शैलियों का जन्म हुआ। यह हमारे गद्य के विकास के लिए एक सौभाग्य की बात हुई।

सन् १९०३–१९ ई० तक जब महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रयाग की प्रसिद्ध मासिक-पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन अपनी कुशल लेखनी से करना आरंभ किया, तो गद्य की भाषा पुनः व्यवस्थित होने लगी। द्विवेदी जी ने अँग्रेज़ी के बहुत से निबन्धों का सफल अनुवाद कर लेखकों के सामने गद्य का एक आदर्श रूप उपस्थित किया। द्विवेदी जी एक श्रेष्ठ अनुवादक थे, मौलिक गद्य-लेखक नहीं, लेकिन उनके द्वारा गद्य को जो बल मिला, वह सर्वथा स्तुत्य है। इस प्रकार उन्होंने लेखकों की विविध समस्याओं का हल निकालकर भाषा को एक स्थिर और व्यवस्थित रूप दिया। 'सरस्वती' के प्रकाशित लेखों द्वारा व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों को दूर किया गया। हिंदी-गद्य में विराम-चिन्हों तथा अवतरण-प्रणाली का प्रयोग उन्होंने सर्वप्रथम किया। ऐसे शब्दों पर अधिक ज़ोर दिया गया जो प्रायः सभी लोगों की समझ में आ सकते थे। इससे भाषा की व्यापकता बढ़ने लगी और शब्द-भण्डार भी प्रचुर होने लगा। अँग्रेज़ी, बंगला, मराठी, संस्कृत आदि भाषाओं

से अनेक नये-नये शब्द रूपांतरित होकर हिंदी में आने लगे। जब भाषा के स्थिर और व्यवस्थित रूप लेने का कार्य सुविधापूर्वक सम्पन्न हो गया तो द्विवेदी जी ने गद्य को एक नवीन गद्य-शैली प्रदान की। उनके द्वारा न जाने कितने नवीन लेखकों को गद्य के क्षेत्र में लिखने के लिए प्रेरणा मिली। द्विवेदी जी इस परिवर्तन-युग में एक युग-प्रवर्तक साहित्यिक नेता के रूप में हमारे सामने आते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों में गद्य ने जो अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक उन्नति की, उसका श्रेय एक-मात्र उन्हीं को है। गद्य-शैली को लेकर उनके समय में जो अनेकानेक साहित्यिक आंदोलन हुए, उन सबका प्रभाव परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से द्विवेदी जी पर पड़ा। साहित्यिक रूपों और विभिन्न प्रवृत्तियों की दृष्टि से गद्य का विकास इतना द्रुत-गति से होने लगा कि साहित्य में पद्य की प्रधानता जाती रही और उसका स्थान गद्य ने ले लिया। प्रत्येक क्षेत्र में साहित्यिक क्रांति हुई। गद्य की इस असाधारण प्रगति के फलस्वरूप द्विवेदी-युग को यदि हम 'गद्य-युग' के नाम से अभिहित कर लें, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। विगत आठ वर्षों तक जो गद्य रूपी पौधा मुरझा गया था, वह द्विवेदी जी के सिंचन से पुनः लहलहा उठा, उसकी हरी-हरी पत्तियाँ सबका जी लुभाने लगीं।

सन् १९१७—२५ ई० तक द्विवेदी जी के अथक परिश्रम के फलस्वरूप उत्कृष्ट कोटि का गद्य प्रकाशित होने लगा। विषय की अनेकरूपता और साहित्यिक रूपों की दृष्टि से यह गद्य हिंदी-साहित्य में बेजोड़ है। प्रेमचन्द ने अपने उत्कृष्ट कलापूर्ण चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान उपन्यास इसी समय लिखे। इसी प्रकार जयशंकरप्रसाद ने नाटकों में चरित्र-चित्रण और गीतों को स्थान देकर उनके कला-रूप में अद्भुत योग दिया। कहानियों का महत्त्व बढ़ने लगा, थोड़े समय के भीतर ही प्रेमचन्द, प्रसाद, सुदर्शन, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' आदि के द्वारा सुन्दर कहानियों की अवतारणा हुई। पंडित रामचन्द्र

शुक्ल और श्यामसुन्दरदास जैसे प्रतिभासम्पन्न समालोचक इसी समय हुए। कहने का अभिप्राय यह है कि इस समय के उपन्यास, नाटक, समालोचनाएँ आदि सब अपनी-अपनी विशेषताएँ लिये हुए हैं। गद्य-गीतों के प्रचलन का श्रेय इसी समय को है। अल्प समय में वे अत्यन्त ही लोक-प्रिय होने लग गये। इस समय के लेखकों की प्रमुख विशेषता पाश्चात्य साहित्य का अनुकरण था। यह नवीन लेखकों का समुदाय पाश्चात्य साहित्य के सिद्धान्तों पर साहित्य-सृजन करने लगा। इसलिए देश में स्वच्छंदवाद का आन्दोलन हुआ। इस स्वच्छंदवाद की विशेषता यह रही कि साहित्य में कला का उदय होने लगा। अपने भावों तथा विचारों को सुन्दरतम रूप देने के लिए लेखक 'कला के लिए कला' वाले सिद्धान्त का अनुशीलन कर अपनी रचना में सौंदर्य लाने के लिए विशेष प्रयत्न करने लगा। प्रेमचन्द, चतुरसेन, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, प्रसाद आदि के द्वारा गद्य में चित्र-चित्रण और लय के द्वारा कलात्मक रचनाएँ लिखी जाने लगीं। गद्य में नवीन-नवीन शैलियों का विकास इसी समय में हुआ। वैसे तो बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त ने भी व्यक्तिगत शैली का परिचय दिया था, लेकिन जैसा कि कहा जा चुका है, उनका क्षेत्र केवल 'भारतेन्दु मण्डल' ही था, साधारण जनता नहीं। इस समय कितने ही नवीन शैलीकार द्विवेदी जी के नेतृत्व में गद्य-रचना करने लगे। द्विवेदी जी ने स्वयं शैली का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रस्तुत किया, फिर तो रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुंदर-दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', जी० पी० श्री-वास्तव, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', प्रेमचंद, चतुरसेन, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, प्रसाद, रायकृष्णदास, वियोगी हरि आदि के द्वारा विभिन्न शैलियों को जन्म दिया गया। अतः हिंदी-गद्य में यदि द्विवेदी-युग के अंतिम समय को 'स्वर्ण-युग' के नाम से पुकारा जाय, तो इस में कोई आश्चर्य नहीं।

६) निबंध—

हिंदी के सर्वप्रथम निबन्ध-लेखक बालकृष्ण भट्ट थे। प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, जगमोहनसिंह, अंबिकादत्त व्यास आदि ने भी उनके पश्चात् निबन्ध-रचना की थी, लेकिन हरिश्चन्द्र-युग के इन लेखकों के विषय अत्यन्त सीमित थे। उनकी दृष्टि प्रायः जीवन के किसी एक अंग–विशेष की ओर लगी हुई थी, समग्र जीवन को समेट कर इनकी निबंध-कला आगे नहीं बढ़ सकी। उनके निबंध साहित्यिक अथवा सामाजिक होते थे, जिनमें समाज की जीवन-चर्य्या, ऋतु-चर्य्या, पर्व-त्यौहार आदि का अधिकांश वर्णन होता था। बालकृष्ण भट्ट के 'कवि और चितेरे की डाँड़ामेंड़ी', 'मुग्ध-माधुरी', 'संसार-महानाट्यशाला', 'चन्द्रोदय', 'आँसू' आदि तथा प्रतापनारायण मिश्र के 'बुढ़ापा', 'भौं', 'होली' आदि निबन्ध इसीलिए साधारण कोटि के समझे जाते हैं। प्रत्येक विषय पर लिखे जाने वाले निबन्ध, जिनमें जीवन का सर्वांगीण पक्ष रहता था, 'सरस्वती', सन् १९०० ई० से निकलने लगे। द्विवेदी-युग में निबन्धों के प्रायः चार रूप हैं—पुस्तकों के रूप में, प्रस्तावना के रूप में, पर्चों के रूप में और पत्रों के रूप में। ये निबन्ध जीवन के सभी विषयों पर भिन्न-भिन्न शैलियों में लिखे जाने लगे। इस युग में इनकी संख्या बहुत बढ़ गई। विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, कथात्मक और आत्मव्यंजक निबन्धों के उत्कृष्ट उदाहरण हमें इस युग में देखने को मिलते हैं।

द्विवेदी-युग के कथात्मक निबन्धों में हमें तीन प्रकार के निबन्ध दिखाई देते हैं। पहले प्रकार के कथात्मक निबन्ध वे हैं, जिन में लेखक स्वप्नों की कथा के रूप को लेकर चले हैं। वैसे तो इस प्रकार के निबंधों का श्रीगणेश भारतेन्दु-युग से ही हो गया था, जैसे राजा शिवप्रसाद द्वारा लिखित 'राजा भोज का सपना', भारतेंदु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न', आदि, लेकिन ये निबन्ध साहित्य की दृष्टि से बहुत ही निम्न कोटि के थे। द्विवेदी-युग में आकर बहुत से लेखकों ने

इस प्रकार के उत्कृष्ट निबंध लिखे, जिनमें केशवप्रसादसिंह का 'आपत्तियों का पहाड़', लल्लीप्रसाद पांडेय का 'कविता का दरबार' (सन् १६०६ ई०), कमलाप्रसाद का 'क्या था ?' (सन् १६११ ई०) वेंकटेश नारायण तिवारी का 'एक अशरफ़ी की आत्मकहानी' (सन् १६०६ ई०), लक्ष्मीधर वाजपेयी का 'विद्यारण्य' (सन् १६०७ ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। ये निबन्ध समय-समय पर 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित होते रहे। केशवप्रसादसिंह के 'आपत्तियों का पहाड़' ने विशेष ख्याति प्राप्त की। इन निबंधों पर पाश्चात्य निबंध-साहित्य की छाप है, लेकिन साहित्यिक रूप और शैली की दृष्टि से इनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन निबंधों की भाषा सरल है, और उनमें एक के बाद एक घटना क्रम-बद्धरूप में रक्खी गई है। साथ ही लेखकों का झुकाव संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर अधिक है। ...कमलाप्रसाद के 'क्या था ?' का एक उदाहरण देखिए—

'मैं कह नहीं सकता, पर आह ! वह विलक्षण अलौकिक छबि अवश्य ही नंदन-कानन-विहारिणी अप्सराओं की प्रतिमूर्ति थी। सौन्दर्य की आजतक कोई परिभाषा नहीं बनी, उसकी कोई सीमा नहीं उपस्थित हुई, उसकी कोई तुलना नहीं, फिर कैसे कहूँ वह छबि सुंदर थी ! जो हो मैं उसे सुंदर समझता था !'......

दूसरे प्रकार के कथात्मक निबंध वे हैं, जिनमें निबंधों को आत्म-चरितों का रूप दिया गया है। 'इत्यादि की आत्म-कहानी', 'दीपक देव का आत्म-चरित', गिरिजाकुमार घोष 'पार्वतीनन्दन' का 'तुम हमारे कौन हो ?' (सन् १६०४ ई०), चतुर्भुज औदीच्य का 'कवित्त्व' आदि इसी श्रेणी के निबन्ध हैं। इस प्रकार के निबन्धों में लेखकों ने चरित्रांकण पर विशेष ध्यान दिया और निबंध को प्रथम पुरुष से आरंभ किया है। साथ ही स्थान-स्थान पर लेखकों ने अपने हृदयगत भावों तथा विचारों का मानवीकरण भी किया है। जहाँ तक भाषा का संबंध है, इन निबंधों की भाषा शुद्ध है, कहीं-कहीं अत्यंत प्रचलित

उर्दू शब्दों का प्रयोग भी कर दिया गया है। उदाहरण के लिए 'पार्वतीनन्दन' के निबंध 'तुम हमारे कौन हो' का यह उदाहरण देखिए—

'मेरा नाम सूर्य है! मेरे और भी नाम हैं—दिनकर, दिवाकर, प्रभाकर, रवि, भानु, आदित्य, अंशुमाली वग़ैरह—पर सरकारी नाम मेरा सूरज है।'...

तीसरे प्रकार के कथात्मक निबन्ध वे हैं, जिनमें कहानियों की शैली का अनुकरण किया गया है। रूपकों का आश्रय इस प्रकार के निबंधों की विशेषता है। 'राजकुमारी हिमांगिनी', बदरीदत्त पांडेय का 'महाराज सूरजसिंह और बादलसिंह की लड़ाई', (सन् १६०० ई०), लक्ष्मण-गोविंद-आठले का 'वर्षा विजय' आदि। इस प्रकार के निबंधों की भाषा बड़ी ही कवित्त्वपूर्ण है। 'राजकुमारी हिमांगिनी' का यह उदाहरण देखिए—

'जलेन्द्र बहादुरसिंह तक हिमांगिनी के प्रेम के भिखारी हुए। उन्होंने उसके पास कई दूतियाँ भी भेजीं। उन्होंने उसकी विरह-कथा की कहानियाँ खूब ही नमक मिर्च लगाकर कहीं।'......

उपरोक्त तीनों प्रकार के कथात्मक निबन्ध सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। पुस्तक रूप में इन निबन्धों का कोई संकलन देखने को नहीं मिलता। हाँ, पद्मसिंह द्वारा लिखित 'पद्म-पराग' में ऐसे कुछ निबन्ध अवश्य पाये जाते हैं। निबन्धों के साहित्यिक रूप और शैली के विकास में इनका बहुत बड़ा हाथ है।

वर्णनात्मक निबन्धों में वर्णन की प्रधानता पाई जाती है—वर्णन चाहे किसी वस्तु, स्थान, प्रान्त, दृश्य आदि का क्यों न हो, हम उसे वर्णनात्मक निबंध ही कहेंगे। इस श्रेणी के निबंधों में जगमोहनसिंह का 'श्यामा-स्वप्न', कृष्णबलदेव वर्मा का 'बुंदेलखंड पर्यटन', मिश्रबंधु का 'रूस-जापानी युद्ध' (सन् १६०४ ई०), जी० पी० श्रीवास्तव का 'चुम्बन' (सन् १६१७ ई०) आदि मुख्य हैं। इन निबन्धों की भाषा

बड़ी ही कवित्वपूर्ण और व्यंजनायुक्त है। उदाहरण देखिए। 'रूस-जापानी युद्ध' में मिश्रबन्धु लिखते हैं—

'अंधकार प्रगाढ़तर होता जाता है और हिमोपल वृष्टि का भी प्रारम्भ हो चलता है। अवश्य ही ऐसे आपत्काल में किसी जलयान का समुद्र में लंगर उठा देने का विचार भी होना असंभव प्रतीत होता है। परन्तु एडमिरल टोजो और अन्य जापानी शूरवीर यदि ऐसे समय में भी भयभीत होने वाले होते तो जापान अपने महा प्रबल शत्रु ज़ार से कदाचित् सामना करने का साहस ही न करता'।

द्विवेदी-युग में वर्णनात्मक निबन्ध बहुत थोड़े लिखे गए, लेकिन चिन्तनात्मक निबन्धों की तो भीड़ लग गई। इस प्रकार के निबन्धों में लेखकों की दृष्टि चिन्तन की ओर अधिक गई, वे खूब सोच-विचार कर, विषय की तह में पहुँचकर निबंध लिखने लगे। इन चिन्तनात्मक निबन्धों में भी तरह-तरह के निबन्ध हैं। जो लेखक गंभीर विचारों की व्यंजना करने लगे, उनके निबन्ध विचारात्मक कहलाये, जिन लेखकों ने रस और भावों पर अधिक ध्यान दिया, उनके निबन्ध भावात्मक निबन्धों के नाम से पुकारे जाने लगे और इसी प्रकार जिन निबन्धों में भावना और विचार अर्थात् हृदय और बुद्धि दोनों का मेल देखने को मिला वे उभयात्मक निबन्ध कहे जाने लगे। निबन्धों के इन प्रकार-विशेषों में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कौन से निबंध में किस बात की प्रधानता है? वैसे तो एक कुशल निबन्धकार में प्रायः ये तीनों बातें विद्यमान रहती हैं, लेकिन उनका वर्गीकरण करते समय हमें प्रधानता की ओर दृष्टि ले जानी चाहिए और उसी के अनुसार उसका वर्गीकरण होना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि किसी निबन्ध में विचारों की प्रधानता है और भावों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है तो वह विचारात्मक श्रेणी में ही आयेगा, किसी और श्रेणी में नहीं। अस्तु, यदि हम इस दृष्टि से विचार करें तो महावीर-प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, माधवराव सप्रे,

बालाप्रसाद शर्मा आदि के निबंध विचारात्मक हैं। द्विवेदी जी, श्यामसुन्दरदास और पंडित रामचंद्र शुक्ल के निबन्ध पुस्तकों के रूप में हमारे सामने हैं, शेष लेखकों के निबन्ध उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में देखे जा सकते हैं । भावात्मक निबन्ध-लेखकों में पद्मसिंह शर्मा, मातादीन शुक्ल, गोपालराम गहमरी, ब्रजनंदनसहाय, बालमुकुन्द गुप्त आदि के नाम लिये जा सकते हैं । उभयात्मक निबंधों में माधव मिश्र, सरदार पूर्णसिंह आदि के निबन्ध उल्लेखनीय हैं । चिन्तनात्मक निबंधकारों में सर्वप्रथम हम महावीरप्रसाद द्विवेदी को लेते हैं, क्योंकि उनके प्रताप से ही आज निबन्धों के ये भिन्न-भिन्न भेद हमें देखने को मिलते हैं ।

इस युग के आदि-काल में निबन्ध का पथ-प्रदर्शन करने वाले श्रद्धेय महावीर प्रसाद द्विवेदी थे, जिन्होंने सन् १९०३ ई० में 'सरस्वती' का सम्पादन-भार अपने ऊपर लेकर यह कार्य करना आरम्भ किया। सर्वप्रथम उन्होंने 'बेकन-विचार-रत्नावली' नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें लार्ड बेकन के निबन्धों का अनुवाद है। इस प्रकार अंग्रेज़ी गद्य के आदर्श का अनुशीलन कर द्विवेदीजी ने हिंदी-गद्य को सुधारने की चेष्टा की। विराम-चिन्हों और पैराग्राफ़ बनाकर लिखना प्रत्येक लेखक के लिए आवश्यक हो गया। द्विवेदी जी ने व्याकरण की अशुद्धियों को दूर कर भाषा को एक स्थिर रूप प्रदान किया और नये-नये शब्द लाकर हिन्दी को दिये। लेखकों को व्यापक शब्दों के प्रयोग करने के लिए उत्साहित किया, साथ ही अश्लील शब्दों से बचने के लिए आदेश भी दिया। द्विवेदी जी ने कई महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे, जैसे 'आकाश की निराधार स्थिति', 'एक योगी की साप्ताहिक समाधि', 'दिव्य-दृष्टि', 'अंध-लिपि', 'अद्भुत इंद्रजाल'। द्विवेदी जी के ये निबन्ध विचारात्मक हैं, जिनमें विचार सीधे-सादे और स्पष्ट शब्दों में अंकित किये गये हैं। मौलिक निबन्धकार की दृष्टि से यद्यपि द्विवेदी जी का स्थान ऊँचा नहीं है, परन्तु एक ऐसे समय में

हिंदी-गद्य की स्थिति बड़ी डाँवा-डोल हो रही थी और लेखकों के सामने शैली का कोई आदर्श नहीं था, उन्होंने हिन्दी-गद्य को एक नवीन शैली दी। इस दृष्टि से वे एक सर्वश्रेष्ठ प्रथम शैलीकार हैं। उन्होंने साहित्यिक गद्य में कहानी कहने की शैली को अपनाया। द्विवेदी जी के विचार से एक लेखक की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह कठिन से कठिन विषय को सरल से सरल रूप में हमारे सामने रख सके, जिससे सामान्य पाठक की समझ में वह विषय आ जाय। द्विवेदी जी की सफलता की कुञ्जी यही गद्य-शैली है। उन्होंने जिस विषय को उठाया, उसका सरलतापूर्वक निर्वाह किया। सीधे और सरल शब्दों द्वारा वे कहानी सुनाते हैं, पाठक की दृष्टि उनके विचारों पर से हटती ही नहीं। देखिए—

'उस समय तो उसकी कदर न हुई। पर जब वह मर गया और उसके काव्य का महत्त्व लोगों ने समझा, तब एक ही साथ कितनी ही रियासतें उसकी जन्मभूमि होने का दावा करने लगीं। प्रमाण माँगा गया तो सभी ने उत्तर दिया—'क्या तुम नहीं जानते, होमर ने इसी रियासत में अपनी कविता गाई थी?' तब तो उसे किसी ने न अपनाया। बेचारा होमर माँगता-खाता ही मर गया।'

गम्भीर विषयों पर लिखते समय द्विवेदी जी की भाषा तत्समता की ओर अधिक झुकी हुई रहती है। ऐसे विषयों पर भी उनकी भाषा में छोटे छोटे वाक्यों ही का प्रयोग देखने को मिलता है। जैसे—'अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग हैं। उनका सम्बन्ध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसीलिए प्रतिभावान् पुरुषों में कभी-कभी विक्षिप्तता के कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते'। इस प्रकार यदि द्विवेदी जी को कोई गंभीर

बात भी कहनी पड़ती तो बीच-बीच में घुमा फिराकर ऐसी बातें कहने लगते कि जिससे पाठक उस निबन्ध का सरलतापूर्वक आनन्द उठा सकते थे। वाक्य प्रायः सरल और गम्भीर दोनों स्थलों पर छोटे-छोटे होते थे।

द्विवेदी जी में कहीं-कहीं व्यंग्य और हास्य भी देखने को मिलता है। उनकी व्यंग्यात्मक शैली की भाषा भी व्यावहारिक है। अल्प से अल्प ज्ञान रखने वाला पाठक भी उसे अच्छी तरह समझ सकता है। भाव-व्यंजना ऐसे स्थलों पर अपेक्षाकृत सरल होती है और भाषा में एक प्रकार का मसख़रापन पाया जाता है। एक उदाहरण देखिए—

'इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं, श्रीमान बूचाशाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ़ इसलिये हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेण्ट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से'।

'कुरसीमैन', 'बूचाशाह', 'राम का नाम' आदि शब्दों से व्यंग की सुन्दर और शिष्ट झाँकी देखने को मिलती है। आलोचनात्मक रचनाओं में भी, यदि हम उनका उपर्युक्त मसख़रापन निकाल दें, तो शैली का वास्तविक रूप देखने को मिल सकता है। इस प्रकार की रचनाओं में गम्भीर और संयत भाव से ही काम लिया गया है, जैसे—'उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसी कि हिंदी से संस्कृत के धन, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश करना है। अँग्रेज़ी में हज़ारों शब्द ऐसे हैं, जो लैटिन से आये हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है'। इस प्रकार साहित्य की प्रायः सभी रचनाओं में द्विवेदी जी ने अपनी कथात्मक शैली और

सरल भाषा को ही अपनाया, जो ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है।

पंडित माधवप्रसाद मिश्र ने होली, श्रीपंचमी, रामलीला, व्यास-पूजा, यात्रा, राजनीति, तीर्थ-यात्रा, हिन्दू पर्वों और त्यौहारों पर अनेक निबन्ध लिखे। मिश्र जी जोशीले लेखक थे। जोश में आने पर आप इनसे जो चाहिए लिखा दीजिए। इसीलिए 'समालोचक' के सम्पादक पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने आपके विषय में एक स्थल पर लिखा—'मिश्रजी बिना किसी अभिनिवेश के लिख नहीं सकते। यदि हमें उनसे लेख पाने हैं, तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ ही रक्खा करें'। लोक-सामान्य स्थायी विषयों पर आपके दो निबन्ध 'धृति' और 'क्षमा' सुन्दर बन पड़े हैं। मिश्र जी के अधिकांश निबन्ध भावात्मक हैं और सर्वत्र धारा शैली का अनुशीलन किया गया है। भाषा गंभीर और शान्त है। विषय-प्रतिपादन में समुचित पदावली का प्रयोग इनकी प्रमुख विशेषता है। भावों के उपयुक्त ही भाषा का प्रयोग देखने को मिलता है। मिश्रजी ने उर्दू शब्दों से दूर रहने का प्रयत्न किया है और निबन्धों में नाटकों की सम्भाषण-प्रणाली का अनुशीलन कर उसमें चमत्कार और सजीवता भर दी है। लेकिन खेद का विषय है कि मिश्रजी अधिक दिनों तक निबन्ध-रचना नहीं कर सके। उनके निबन्ध का एक उदाहरण देखिए—

'यह वही स्थान है, जहाँ सर्वप्रथम कविता का जन्म हुआ था, यहीं हिंदुओं के, नहीं नहीं—संपूर्ण जगत के परमोत्तम काव्य रामायण की उत्पत्ति हुई थी। यह वही स्थल है, जहाँ एक दिन महर्षि मनु ने आर्यावर्त की पवित्र सीमा निर्धारित की थी। इसी स्थल पर रोती हुई अन्तः सत्वा पतिप्राणा जनकनन्दिनी को दासरथी की आज्ञा से लक्ष्मण छोड़कर गये थे। यहीं के वृक्ष एक दिन लौ कुश के समान जनक दुलारी के द्वारा पालित और परिवर्द्धित हुए थे'।

बाबू गोपालराम गहमरी यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं में लेख और निबन्ध भी दिया करते थे। इनके निबन्धों की भाषा बड़ी ही चंचल,

चटपटी और मनोरंजक है। निबन्ध प्रायः भावात्मक हैं और भाषा विषय के अनुकूल ही परिवर्तित होती रहती है। कहीं-कहीं लेखक ने भाषा का चमत्कारिक रूप भी खड़ा कर दिया है। इनके निबन्धों के चमत्कारपूर्ण और कुतूहलजनक चित्रों पर से पाठकों का हटने को जी नहीं करता। 'ऋद्धि और सिद्धि' नामक निबन्ध से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

'बरहे पर चलने वाला नट हाथ में बाँस लिये हुए बरहे पर दौड़ते समय, 'हाय पैसा, हाय पैसा' करके चिल्लाया करता है। दुनिया के सभी आदमी वैसे ही नट हैं। मैं दिव्य दृष्टि से देखता हूँ कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर 'हाय पैसा, हाय पैसा' करती हुई सूर्य की परिक्रमा कर रही है।'

इस समय के लेखकों में बाबू बालमुकुंद गुप्त का नाम भी आदर के साथ लिया जा सकता है। 'बंगवासी' और 'भारतमित्र' के सम्पादन-काल में आपने अनेक उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध लिखे हैं, जिनका एक संग्रह 'गुप्त-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। कुछ प्रबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें 'शिवशंभु का चिट्ठा' विशेष प्रसिद्ध है। इन सब में आपने सामयिक परिस्थितियों की व्यंजना मनोरंजक ढंग से की है। निबंध प्रायः उभयात्मक हैं। गुप्त जी निबन्ध 'शिवशंभु' और 'नवाब साइस्ताखाँ' के नाम से लिखते थे। उर्दू से हिंदी में आने के कारण गुप्त जी की भाषा चलती हुई, सजीव और विनोदपूर्ण है। साधारण प्रचलित उर्दू शब्दों को लेकर उन्हें संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम शब्दों के साथ मिलाकर भाषा को एक सुन्दर और स्वाभाविक रूप देना गुप्तजी पूर्णतया जानते थे। भाषा की चुलबुलाहट के साथ उनके निबन्धों में परिहास का पुट भी बराबर है। यह परिहास कभी अश्लील नहीं होने पाता। उनकी भाषा में मुहावरों का सुंदर और उपयुक्त प्रयोग भी देखने को मिलता है। वाक्य छोटे-छोटे हैं और विचारों का स्पष्टीकरण बड़े ही सरल ढंग से हुआ है। सुन्दर चित्रों

को खड़ा करने में गुप्तजी विशेष प्रवीण हैं। 'शिव शंभु का चिट्ठा' से एक उदाहरण देखिए—

'शर्माजी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलबट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम, इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील-छील कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें उतर रही हैं। तबीअत भुरभुरा उठी। इधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं, अंधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़ धड़धड़ होने लगा, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई, बम भोला कह शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल डिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने वंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्त्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु के बरामदे के छत पर बूंदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।'

पंडित गोविंद नारायण मिश्र शैली की दृष्टि से महावीरप्रसाद द्विवेदी से ठीक विपरीत हैं। आपके निबन्ध सामयिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से लिखे गए हैं। 'कवि और चित्रकार' आपकी एक अपूर्ण पुस्तिका है, जो भाषा के शब्दाडंबर, अलंकार और वर्णन-नैपुण्य से भरी हुई है। लेखक भाव की अपेक्षा भाषा को अधिक महत्त्व प्रदान करता है और उसे अनुप्रास और यमक आदि अलंकार रूपी आभूषणों से अच्छी तरह सज्जित करता है। संस्कृत-गद्य-शैली के अनुकरण से उसमें पांडित्य-प्रदर्शन की मात्रा बढ़ गई है। पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी इसी शैली को अपनाया था, परन्तु मिश्रजी की तरह उसमें दीर्घ समासांत पदावली देखने को नहीं मिलती। बाण और दण्डी के आदर्शों को अपने सामने रखने के कारण कहीं-कहीं भाव अस्वाभाविक और अस्पष्ट हो गये हैं। इससे

शक्तिशाली गद्य का निर्माण नहीं हो सका। भाषा को कला के रूप में ग्रहण करने वाले मिश्रजी थोड़े से शब्दों से स्पष्ट की जाने वाली बात को घुमा-फिराकर अलंकृत भाषा में वर्णन करने लग जाते हैं। उच्चकोटि के विषयों पर लिखते समय तो भाषा अलंकृत होती ही है, पर साधारण से साधारण विषयों पर लेखनी चलाते हुए भी वे इसी नियम का पालन करते हैं। शब्दावली संस्कृत और व्रज-भाषा-काव्य दोनों की पाई जाती है। 'कवि और चित्रकार' का वह उदाहरण देखिए—

'सहज सुन्दर मनहर सुभाव-छवि-सुभाव-प्रभाव से सबका चितचोर सुचारु—सजीव—चित्र—रचना—चतुर—चितेरा, और जब देखो तब ही अभिनव सब नव—रस—रसीली नित नव नव भाव बरस रसीली, अनूप—रूप सरूप—गरबीली, सुजन—जन—मोहन—मंत्र की कीली, गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलंकार—सिंगार—साज—सजीली छबीली कविता—कल्पना—कुशल कवि, इन दोनों का काम ही उस अग—जग—मोहिनी, बला की सबला, सुभाव-सुन्दरी अति सुकोमला अबला की नबेली, अलबेली, अनोखी छवि को आँखों के आगे परतच्छ खड़ी सी दरसाकर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनों को लुभाना, तरसाना हरसाना और रिझाना ही है।'

द्विवेदी-युग के लेखकों में बाबू ब्रजनंदनसहाय ने उच्चकोटि के अनुभूतिमय लेखों की सृष्टि की। आपके निबन्ध भावात्मक हैं, जिनमें सजीवता और सत्यता दोनों का पर्याप्त-मात्रा में सामञ्जस्य दिखाई देता है। भाषा में काव्य की-सी मनोहरता आ गई है। शब्द शुद्ध संस्कृत तत्सम हैं। इनके निबन्धों की भाषा पर बंगला के शब्दों और पदावली का प्रभाव पड़ा है। 'श्मशान' नामक निबंध में वे लिखते हैं—

'यह संसार एक महा श्मशान है। जो चिताग्नि यहाँ धधक रही है, उसमें जो न जले, ऐसी चीज ही दुनिया में नहीं है। जड़ प्रकृति किसी का मुंह नहीं देखती। जो सामने आता है, उसी को जलाती

हुई, पहिले की तरह धधकती हुई हँसती और किलकारिती हुई चली जाती है। यह जो नक्षत्रों का समूह अल्पांधकार में झिलमिला रहा है, वह इस विश्वव्यापी महावह्नि की चिनगारियाँ हैं। इस संसार में अग्नि कहाँ नहीं है ? निर्मल चंद्रिका में, प्रफुल्ल मल्लिका में, कोकिल की काकली में, कुसुम के सौरभ में, मृदुल पवन में, पक्षियों के कूजन में, रमणी के मुखड़े में, पुरुष के हृदय में—कहाँ आग नहीं धधक रही है। किस आग में आदमी नहीं जलता ?'

भावात्मक निबंधों में पंडित पद्मसिंह शर्मा का विशेष महत्त्व है। उन्होंने पंडित गणपति शर्मा की मृत्यु पर जो निबंध लिखा, उसमें अपना हृदय निकालकर रख दिया है। ऐसा मालूम पड़ता है मानो लेखक का सब कुछ लुट गया है और वह अपनी पीड़ा को नहीं सम्हाल सकता। उसकी भावनाओं में सागर की लहरों-सी एक हलचल होने लगती है। इन भावों का सीधा संबंध उसके हृदय से है और किसी से नहीं। लेखक की भावना का स्रोत देखिए, उसकी भाव-तरंगों की व्याकुलता, अधीरता आदि सब कुछ ध्यान में रखने योग्य है—

'हा पंडित गणपति शर्माजी हमको व्याकुल छोड़ गए। हाय ! हाय ! क्या हो गया। यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक जैसे सिर पर टूट पड़ा। यह किसकी वियोगाशनि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राणपखेरु के पंख जलाए डालती हैं ? हा ! निर्दय कालयवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्त्ति को तोड़कर हृदय-मंदिर सूना कर दिया ?'

द्विवेदी-युग के निबन्ध-लेखकों में बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम भी सगर्व लिया जा सकता है। वे एक ऐसी गद्य-शैली के जन्मदाता हैं, जिसका अनुकरण उस काल के बहुत से लेखकों ने किया। द्विवेदी जी के विचार से, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, एक ऐसी भाषा व्यावहारिक मानी जाती थी, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ उर्दू और अंग्रेज़ी शब्दों का भी प्रयोग होता था। श्यामसुंदर-

दास जी ने उसके विपरीत संस्कृत पदावली से परिपूर्ण भाषा को स्वीकार किया और यह बात सिद्ध कर दी कि कठिन से कठिन और नवीन से नवीन विचार-परम्परा को इसी भाषा में अभिव्यक्त किया जा सकता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को लिये हुए भी बाबूजी व्यावहारिक हैं, यह उनकी एक विशेषता है। इसका कारण यह है कि उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग तद्भव रूप में किया है। आपके निबंध अधिकांश विचारात्मक हैं और इनमें कहीं-कहीं पुनरावृत्ति का दोष भी पाया जाता है, लेकिन विषय को स्पष्ट और बोधगम्य बनाने के लिए ही ऐसा किया गया है। समीकृत और मिश्र दोनों प्रकार के वाक्य बाबू जी सफलतापूर्वक लिख सकते हैं। उर्दू शब्दों के प्रयोग से आप कोसों दूर हैं। यद्यपि मुहावरों का प्रयोग भाषा में नहीं हुआ है, लेकिन इतना हम निःसंकोच कह सकते हैं कि भाषा बिल्कुल साहित्यिक है। ओज और गम्भीरता सर्वत्र लक्षित होती है। बाबूजी की शैली में एक विशेषता यह भी है कि वे एक भाषण देने वाले व्यक्ति के समान सीधी और सरल भाषा में अपने विचार प्रकट करते चलते हैं। कठिन विषयों पर लिखते समय आपकी भाषा सरल और सरल विषयों पर लिखते समय कभी-कभी कठिन होती है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि सरल विषय से पाठक परिचित होता ही है, अतः उसे सरल रूप में अंकित करने से क्या लाभ? हाँ, कठिन विषय पाठकों की आसानी के लिए सरल बना दिया जाता है। बाबूजी ने गद्य-क्षेत्र में जो कार्य किया, साहित्य की दृष्टि से उसका मूल्य आँकना कोई सहज काम नहीं है। जो कार्य हिंदी के निर्माण और स्थिरीकरण के हितार्थ द्विवेदी जी ने किया, उसके प्रचार और परिवर्धन का श्रेय बाबूजी को ही है। 'साहित्य का विवेचन' तथा 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' में से कठिन और सरल विषय की दृष्टि से आपके गद्य के दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

(१) 'साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को संतुष्ट

करना नहीं है, वह तो मनुष्य-जीवन को अधिक सुखी और अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है। साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दुःख और संकटों को क्षण भर के लिए भूल सकता है, वह आपदाओं से भरे हुए वास्तविक संसार को छोड़कर कल्पना और भावना के सुन्दर लोक में भ्रमण कर सकता है। वास्तव में साहित्य की सीमा के अन्तर्गत उन्हीं पुस्तकों की गणना हो सकती है, जो इस महान् उद्देश्य की पूर्ति करती हैं या इस पूर्ति के आदर्श को सामने रखकर लिखी गई हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे बेकारी के क्षण काटने के लिए जो कुछ भी लिख दिया जाय, वह साहित्य हो जायगा। साहित्य और सुरुचि का अभेद्य सम्बन्ध है और साहित्य को हमारी उस रुचि को तृप्त करने में समर्थ होना चाहिए जिसको हम अपने या किसी दूसरे के सामने प्रकट करने में लज्जित न हों। तोता-मैना के किस्से के समान गंदी किताबें न जाने कितने अर्द्ध-शिक्षित लोगों को अनंत आमोद प्रदान करती हैं किंतु वे साहित्य के अन्तर्गत नहीं आतीं, क्योंकि वे कुरुचि की द्योतक और विधायक हैं।'

(२) 'भारत की सस्यश्यामला भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ से लम्बे २ पेड़ों में ही सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं, तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर सन्ध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिनी तथा उसकी समीपवर्त्तिनी लताओं की बसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं,

उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा।'

शैली की दृष्टि से चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का नाम भी उल्लेखनीय है। बाबू श्यामसुन्दरदास की तरह भाषा को चमत्कारपूर्ण बनाने की प्रवृत्ति इनमें भी नहीं है, लेकिन जहाँ बाबू साहब संस्कृत के तत्सम रूपों की ओर अधिक ध्यान देते हैं, वहाँ गुलेरी जी एक उच्च कोटि के पंडित होते हुए भी सामान्य भाषा को लेकर लिखने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं। उनकी शैली में वार्त्तालाप का-सा आनन्द प्राप्त होता है। भाषा सरल, स्पष्ट और स्वाभाविक है। उसमें उर्दू, अंग्रेज़ी आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। मुहावरों के प्रयोग ने तो उनकी भाषा को और भी व्यावहारिक बना दिया है। गुलेरी जी की लेखन-शैली बड़ी ही अनूठी है। इनके जैसा गंभीर और पांडित्य-पूर्ण हास्य अब तक के लेखकों में देखने को नहीं मिलता। अत्यंत गूढ़ शास्त्रीय विषयों पर भी लिखते समय आप हास्य और विनोद के फ़व्वारे छोड़ते चलते हैं। गुलेरीजी की इस शैली ने, जिसमें एक प्रकार की विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता देखने को मिलती है, उसने हिंदी-गद्य के विकास में एक प्रशंसनीय योग दिया। 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोंहि कुठाँव', और 'संगीत' आदि निबंधों के पढ़ने से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। 'कछुआ धर्म' का यह उदाहरण देखिए—

'अच्छा, अब उसी पंचनद में 'वाहीक' आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षि देश और आर्यावर्त्त की महिमा हो गई; और वह पुराना देश—न तत्र दिवसं वसेत्। बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के से चले। वे लूटते मारते तो थे ही; वे धरम भी कर देते थे। बस, समुद्र-यात्रा बंद। वही कछुआ धर्म! ढाल के अन्दर बैठे रहो।'

महावीरप्रसाद द्विवेदी की कहानी कहने की शैली के विपरीत पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने एक नितान्त गम्भीर शैली का अनुकरण किया। द्विवेदी-युग के सबसे गम्भीर विचारशील लेखक पंडित रामचन्द्र शुक्ल हैं। उन जैसा मौलिक लेखक हिंदी-संसार में कोई नहीं हुआ। 'चिंतामणि' के दो भागों में उनके निबन्ध देखने को मिलते हैं। इन निबंधों द्वारा हिंदी-गद्य का जो विकास हुआ, वह सर्वथा देखने योग्य है। उनके आरंभिक निबन्ध क्रोध, श्रद्धा, ग्लानि, करुणा आदि भाव तथा मनोविकार संबंधी हैं। ये निबन्ध बाद के निबंधों की तरह गहन नहीं हैं, पर उनमें जीवन और समाजगत व्यावहारिक बातों का ध्यान अवश्य रक्खा गया है। इनकी शैली व्याख्यानात्मक है। भाषा और विचारों की विधान-पद्धति अत्यंत सरल है। द्विवेदी जी ने भी शुक्ल जी की भाँति 'कवि और कविता' नामक निबन्ध अवश्य लिखा था, लेकिन उसमें भारतीय काव्य-शास्त्रियों के मतों का ही समर्थन किया गया है, लेखक की स्वतंत्र रूप से कोई सूझ नहीं दिखाई देती। इस कोटि के शुक्लजी के निबन्ध अनुपम सूझों से भरे पड़े हैं। सच्चे निबन्ध की प्रायः समस्त विशेषताएँ उनमें पाई जाती हैं। निबंध में संघटित विचारों की अभिव्यक्ति, व्यक्तित्व की निहति, संयत, परिष्कृत और प्रौढ़ भाषा प्रायः सभी गुणों के दर्शन होते हैं। अंग्रेज़ी के निबन्धों की भाँति उनमें एक नूतन आत्माभिव्यक्ति देखने को मिलती है। ऐसे प्रसंग, जिनमें शुक्लजी से सम्बंधित घटनाओं अथवा व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, प्रायः सप्रसंग और विषय की स्पष्टता तथा रोचकता के लिए किया गया है। शुक्लजी की शैली में हास्य, व्यंग्य और विनोद की ऊँची और शिष्ट प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है और इस दृष्टि से वे अपने समकालीन बहुत से लेखकों से आगे निकल जाते हैं। बुद्धि और हृदय का जैसा योग इनके निबन्धों में दिखाई देता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। उनकी शैली में एक भव्यता, विशालता और गंभीरता है, जो सहज ही में उन्हें श्रेष्ठ लेखक कहने को अग्रसर करती

है। उनके गम्भीर और समीक्षात्मक निबंधों को देखकर यह कह डालना कि वे रूखे और नीरस हैं, हमारी भयंकर भूल है। ऐसे निबन्ध उस समय में हमारे गद्य-साहित्य में एक दम नई चीज़ थी। शुक्लजी के अधिकांश निबन्ध विचारात्मक हैं और उनमें निगमन शैली अपनाई गई है। इसके अनुसार पहले संक्षेप में वे कुछ कह जाते हैं, आगे चलकर उसी तथ्य की भाँति-भाँति से व्याख्या करते रहते हैं। विषय की स्पष्टता के लिए शुक्लजी 'साराँश यह कि' का प्रयोग प्रायः करते रहते हैं। मनोविकारों तथा भावों को लेकर जो निबंध लिखे गये हैं, उनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल है। उनमें तद्भव शब्दों तथा प्रचलित मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है। साहित्यिक निबन्धों की भाषा अपेक्षाकृत क्लिष्ट है और उनमें तत्सम शब्दों का आधिक्य है। भाषा दोनों प्रकार के निबन्धों की बड़ी ही गठी हुई, मँजी हुई, प्रौढ़ और विषयों के अनुरूप ही बन पड़ी है। उनकी शैली का चरम लक्ष्य प्रभावोत्पादन है और इसमें वे पूर्ण सफल भी हुए हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में चुस्ती है, बड़े-बड़े वाक्यों से भी जी ऊबने नहीं पाता। वाक्य के भीतर एक ही तुक के कई शब्दों और वाक्यों की प्रवृत्ति भी कहीं-कहीं देखने को मिल जाती है। यथास्थान हिंदी तथा अरबी-फ़ारसी के तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है। अंग्रेज़ी भाषा के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हुए भी शुक्लजी ने उसे उसके प्रयोगों से बचाया है। संक्षेप में, अपने अध्ययन, मनन और चिन्तन के द्वारा उन्होंने हिंदी-निबन्ध-साहित्य की पर्याप्त उन्नति की। उनके भाव तथा मनोविकार और साहित्यिक निबंध के दो उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(१) 'हमारे अन्तःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का संघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाये हुए कर्म तन्तु के उपादान से होता है। प्रिय का चिंतन हम आँख मूँदे हुए, संसार को भुलाकर, करते हैं, पर श्रद्धेय का चिंतन हम आँख खोले हुए, संसार का कुछ अंश

सामने रखकर, करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय के बीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं; पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए। इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जायगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनन्दान्तर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा। यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुन्दर जँचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृद्-भाव उत्पन्न हुआ तो वह भाव श्रद्धा है; क्योंकि यह काव्य वा चित्र-रूप मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआ है।'

'वनों, पर्वतों, नदी-नालों, कछारों, पट परों, खेतों की नालियों, घास के बीच से गई हुई ढुर्रियों, हल-बैलों, झोपड़ों और श्रम में लगे हुए किसानों इत्यादि में जो आकर्षण हमारे लिए है, वह हमारे अन्तःकरण में निहित वासना के कारण है, असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा के कारण नहीं। जो केवल पावस की हरियाली और वसन्त के पुष्प-हास के समय ही वनों और खेतों को देखकर प्रसन्न हो सकते हैं, जिन्हें केवल मंजरी-मंडित रसालों, प्रफुल्ल कदंबों और सघन मालती-कुंजों का ही दर्शन प्रिय लगता है, ग्रीष्म के खुले हुए पट पर, खेत और मैदान, शिशिर की पत्र-विहीन नंगी वृक्षावली और झाड़-बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी स्पर्श नहीं करते, उनकी प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए। वे केवल अपने विलास या सुख की सामग्री प्रकृति में ढूँढते हैं। उनमें उस 'सत्त्व' की कमी है, जो सत्ता-मात्र के साथ एकीकरण की अनुभूत द्वारा लीन करके आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास देती है।'

द्विवेद-युग के दो लेखक ऐसे हैं, जिन्होंने लिखा तो बहुत कम है, लेकिन जो कुछ लिखा है, निबन्ध की दृष्टि से उसका महत्त्व

बहुत अधिक है। अध्यापक पूर्णसिंह के 'आचरण की सभ्यता', 'नयनों की गंगा (कन्यादान), 'मज़दूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता तथा पवित्रता' आदि ने निबन्ध-साहित्य को धनी बना दिया। हिंदी-संसार ने इन निबन्धों को पढ़कर उनकी लेखन-शैली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। पूर्णसिंह के इन निबंधों ने गद्य को विचारों और भावों की एक अनूठी शैली प्रदान की। भाषा की ऐसी नवीन गति-विधि उनके पूर्व किसी लेखक में ढूँढने से भी नहीं मिलती। सभी निबन्धों की भाषा अत्यंत सुन्दर और प्रौढ़ है। आपके निबन्ध गद्य-काव्य की विशेषताओं से अलंकृत हैं। पूर्ण-सिंह जी अपने विषय को मूर्त्तिमत्ता के साथ प्रतिपादित करने की एक विशेष क्षमता रखते हैं। इनकी कला प्रयत्न में नहीं, स्वाभाविकता में है, इसलिए कहीं भी किसी प्रकार की कृत्रिमता अथवा बनावटीपन का नाम-निशान तक नहीं है। विषय के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों पक्षों के चित्र सजीव और स्पष्ट होते हैं। उनकी लेखनी में हमें आधुनिकतम शैली के दर्शन होते हैं। एक साधारण वाक्य को लिखकर उसी की जोड़-तोड़ के अनेक वाक्य बनाकर भाषा को आकर्षक तथा चमत्कारपूर्ण बना देना उन्हें खूब आता है, जैसे—'पशुओं का चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की, अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुज़ार देना क्या स्वाध्याय से कम हैं?' 'भाषा और भाव की एक नवीन विभूति इन निबन्धों के द्वारा गद्य-साहित्य में आई। कहीं-कहीं इन्होंने अपनी भावनाओं को रहस्यमय रूप में व्यक्त किया है, इससे भाषा में एक प्रकार की लाक्षणिकता आ गई है। उनकी यह लाक्षणिकता निबन्ध-साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। 'नयनों की भाषा', 'ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया', 'प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं, आदि इसके उदाहरण हैं। भाषा की विशुद्धता की ओर अध्यापक जी का विशेष झुकाव है। वर्णन करते समय भाषा सरल और व्यावहारिक होती है तथा विचार-प्रकाशन के समय क्लिष्ट और

प्रचण्ड। जहाँ विवेचना करने की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ गम्भीरता आ गई है। उनके इन निबंधों से उनके व्यक्तित्व का सहज ही में परिचय प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं 'यह वह आम का पेड़ नहीं है जिसको मदारी एक क्षण में तुम्हारी आँखों में धूल झोंक अपनी हथेली पर जमा दे,' जैसे व्यंग्य के उदाहरण भी देखने को मिल जाते हैं। वैसे तो उर्दू, अरबी, फ़ारसी आदि शब्दों का प्रयोग निःसंकोच किया गया है, लेकिन कहीं-कहीं विषय को उर्दू की शायरी से भी जोड़ दिया गया है। इससे विषय का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं, फिर भी लेखक की मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। उनके निबंध निम्नवर्ग को अपना विषय बनाकर चले हैं, इसलिए वे विशेष रूप से हृदयग्राही हुए हैं। ये निबन्ध भावात्मक श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं, साथ ही उनकी स्निग्ध विचार-धारा भी प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। 'आचरण की सभ्यता' तथा 'मज़दूरी और प्रेम' के दो उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(१) 'आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफ़िर में मौमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंक-कर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तो हिन्दू चकित हो गये कि वह नग्न करने अथवा नग्न होने वाला उनका कौन-सा शिव था।'

(२) 'एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिये को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफ़ेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किये हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह निरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सफ़ेद होते हैं। और, क्यों न सफ़ेद हों? सफ़ेद भेड़ों का

मालिक जो ठहरा। परंतु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफ़ानी देशों में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्यायें उनके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने और किसी को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है; इनका घर बेघर है; ये लोग बेनाम और बेपता हैं।'

दूसरे लेखक हैं गुलाबराय। इनकी तुलना हम श्रेष्ठ निबन्धकारों से कर सकते हैं। बाबू श्यामसुंदरदास जी और पंडित रामचंद्र शुक्ल की शैली पर लिखे गये इनके निबंधों में गम्भीरता और न्यायपूर्णता दृष्टिगत होती है। इनकी दो शैलियाँ देखने को मिलती हैं—जहाँ तक विचारात्मक निबन्धों का सम्बन्ध है, वहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों और प्रचलित मुहावरों का प्रयोग किया गया है। अँग्रेज़ी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग इनकी विशेषता है जैसे—'Monarch of all I survey' 'Relativity of ethics' 'Personality' 'Respect for life' 'charity begins at home, but it should not end there.' पर इसके साथ ही साथ उन्होंने हिंदी के पर्यायवाची शब्दों को रखकर उन्हें सदैव के लिए हिंदी के शब्द और मुहावरे बना दिये हैं। भावात्मक निबन्धों में भी इन निबंधों की भाँति एक सुन्दर रूप देखने को मिलता है। इन निबन्धों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। बोधगम्यता इनकी शैली की प्रमुख विशेषता है। विषय का प्रतिपादन गुलाबराय जी मनोवैज्ञानिक ढंग से करते हैं। विषय की तह में पैठकर सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का विवेचन करने में भी नहीं चूकते। विचार स्पष्ट हैं और उन्हें सुचारु रूप से सजाया गया है। वाक्यों में सरसता है और क्रमबद्ध रूप से रक्खे गये हैं। इनके निबंधों में कहीं-कहीं संस्कृत के श्लोक और उक्तियाँ भी देखने को मिलती हैं। यह उनके विषयों का परिणाम समझना चाहिए। गुलाबराय जी ने पाश्चात्य साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है, इसलिए कहीं-कहीं उसकी

छाप भी इनकी शैली पर पड़ गई है। 'समाज और कर्त्तव्य-पालन' से एक उदाहरण देखिए—

'अपनी रक्षा कुटुम्ब की रक्षा से है, कुटुम्ब की रक्षा देश की रक्षा से है, देश की रक्षा मानव-जाति की रक्षा से है और मानव-जाति की रक्षा विश्व की स्थिति में है, उसका कारण यह है कि मानव-समाज में अभी भिन्न-भिन्न आदर्श वर्तमान हैं। जैसे-जैसे आदर्शों की एकता होती जायगी और जैसे-जैसे मनुष्य-समाज एक प्रेम-सूत्र में बँधता जायगा, वैसे ही वैसे देश-भक्ति और विश्व-प्रेम में विरोध घटता जायगा। मानव-जाति का एक बड़ा साम्राज्य बन जायगा, जिसमें पशु-पक्षी आदि भी अपना उचित स्थान पावेंगे।'

द्विवेदी-युग में तार्किक और व्याख्यात्मक निबंध भी लिखे गये, यद्यपि इनकी संख्या बहुत ही कम है। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक अपनी तर्क-शक्ति के द्वारा अपने विषय की व्याख्या करता रहता है। इस प्रकार के निबन्धों में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'हमारी शिक्षा किस भाषा में हो ?', गुलाबराय का 'सर्वोत्तम काव्य' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि इनमें तरह-तरह की युक्तियों से काम लिया गया है। भाषा में तत्सम शब्दों की बहुलता है और वाक्य-विन्यास सुन्दर बन पड़ा है। निबन्ध में सर्वत्र क्रमबद्धता के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए गुलाबराय के 'हास्य रस' नामक निबन्ध का यह नमूना देखिए—

'चाहे मनुष्य मात्र के जीवन में होने वाली भाव-जागृति के विचार से देखिये, अथवा उससे होने वाले आनंद और उसके उपयोग की दृष्टि से देखिये, हास्य, करुणा और वीर के तीनों रस शृंगार रस की अपेक्षा अधिक महत्त्व के प्रमाणित होंगे, क्योंकि प्रायः हास्य और शोक में ही मनुष्य-मात्र का अनुभव बँटा हुआ है।'

द्विवेदी-युग के निबंधों के विकास में आत्मव्यंजक निबन्ध भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन निबंधों में लेखक का व्यक्तित्व प्रधान रूप से व्यंजित

होता रहता है। चाहे वर्णन के लिए कोई भी विषय लिया जाय, निबन्धकार अपने व्यक्तित्व का समावेश कर उसे रोचक बना डालता है। आत्मव्यंजक निबंधों के भी दो रूप होते हैं। एक तो वह, जिसमें लेखक वर्ण्यविषय का लेश-मात्र भी ध्यान नहीं रखता, केवल अपने मन की बात कहता जाता है। दूसरा रूप वह है जिसमें विषय का भी ध्यान रक्खा जाता है और अपने मन की बात भी कही जाती है। प्रथम प्रकार के आत्मव्यंजक निबन्धों में पद्मसिंह शर्मा का 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' और गणेश शंकर विद्यार्थी का 'कर्मवीर प्रताप' आदि तथा दूसरे प्रकार में सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध लिये जा सकते हैं, लेकिन आत्मव्यंजक निबंधों का विशुद्ध रूप पूर्णसिंह में नहीं, शेष दो लेखकों में है। इनमें लेखक अपने ही भावों और रुचि के अनुसार विचार प्रकट करते जाते हैं। इन निबन्धों का रूप स्वगत भाषणों से मिलता-जुलता है। इनमें व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया गया है, लेकिन उसमें सजीवता, चंचलता और मार्मिकता रहती है। मूर्त्ति-मत्ता इनकी प्रधानता विशेष है, पढ़ते-पढ़ते आँखों के सामने एक चित्र खड़ा हो जाता है। उदाहरण के लिए 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' का यह अंश देखिए, लेखक का कितना आत्म-चिंतन इसमें प्रदर्शित किया गया है—

'और लीजिए, दूसरे मित्र विश्वनाथ हैं। यह बाल बच्चों वाले आदमी हैं, और रात दिन इन्हीं की चिंता में रहते हैं। जब कभी मिलने आते हैं तो तीसरे पहर के क़रीब आते हैं, जब मैं काम से निबट चुकता हूँ। पर इस कदर थका हुआ होता हूँ कि जी यही चाहता है कि एक घंटे आराम कुरसी पर चुपचाप पड़ा रहूँ। पर विश्वनाथ आये हैं, उनसे मिलना ज़रूरी है, उनके पास बातें करने के लिए सिवा अपनी स्त्री और बच्चों की बीमारी के और कोई मज़मून ही नहीं। मैं कितनी ही कोशिश करूँ, पर वह उस विषय से बाहर नहीं निकलते। यदि मैं मौसम का ज़िक्र करता हूँ तो वह कहते हैं, हाँ बड़ा ख़राब मौसम है। मेरे छोटे

बच्चे को बुख़ार आ गया, मंझली लड़की खांसी से पीड़ित है। यदि पोलिटिक्स या साहित्य-संबंधी चर्चा प्रारंभ करता हूँ तो वह (विश्वनाथ जी) फौरन फरमाते हैं कि भाई आजकल घर-भर बीमार है। मुझे इतनी फुर्सत कहां कि अख़बार पढ़ूँ।'

इन भिन्न-भिन्न निबन्धों के साथ पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तथा जी० पी० श्रीवास्तव द्वारा हास्य-प्रधान निबन्धों की भी सृष्टि हुई। चतुर्वेदी जी का 'अनुप्रास-अन्वेषण' नामक निबन्ध इस दिशा में अच्छा प्रयास है। उसमें शिष्ट हास्य के साथ-साथ गंभीरता भी देखने को मिलती है। श्रीवास्तव के निबन्ध अपेक्षाकृत कम महत्त्व के हैं। शर्मा जी के हास्य-प्रधान निबंध सुंदर हैं। इसी प्रकार बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री ने और बाबू कार्तिकप्रसाद ने भी कुछ फुटकर निबन्ध लिखे हैं। द्विवेदी - युग के इन विभिन्न निबन्धों से गद्य-साहित्य धनी हो गया, उसका पर्याप्त विकास होने लगा और साथ ही साथ नई-नई शैलियों का भी जन्म हुआ।

(२) कवित्वमय निबन्ध : गद्य-गीत—

जब हिंदी-गद्य-शैली का पर्याप्त विकास हो गया तो अनेक कवित्व-मय निबन्धों की सृष्टि होने लगी, जिनमें नाटक, उपदेश और व्याख्यानों का सा आनन्द आने लगा। भुजंगभूषण भट्टाचार्य के 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' नामक निबंध में नाटकों के, माधव मिश्र के 'श्रीपंचमी' नामक निबंध में उपदेश के और सरदार पूर्णसिंह के 'सच्ची वीरता' नामक निबन्ध में व्याख्यान के गुण पाये जाते हैं। निबन्धों के विकास में एक ध्यान देने योग्य बात लेखकों के व्यक्तित्व का समावेश है। पद्मसिंह शर्मा के निबन्ध 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' तथा गणेश शंकर विद्यार्थी के निबन्ध 'कर्मवीर प्रताप' में व्यक्तित्व की झलक पाई जाती है। लेकिन ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि इनमें लेखकों ने अपने निजी विचारों की व्यंजना 'मैं' का प्रयोग कर की है। इसके अतिरिक्त उनका कोई अधिक मूल्य नहीं है। हाँ, दृश्य-

विशेष आँखों के सामने झूलने अवश्य लग जाता है। कुछ लेखकों ने अपने निबंधों में खंड-काव्यों की सी विशेषता लाने का प्रयत्न किया, जिनमें लक्ष्मण गोविन्द आठले का 'वर्षा-विजय', (सन् १६०८ ई०) चतुर्भुज औदीच्य का 'कवित्त्व' (सन् १६०७ ई०) और रामशंकर शुक्ल विशारद का 'वर्षा-काल' (सन् १६१८ ई०) उल्लेखनीय हैं। इन निबन्धों के भाव खूब ही अनूठे होते थे और शैली भी अलंकृत होती थी। आगे चलकर इन्हीं कवित्वमय निबंधों का विकास गद्य-गीतों के रूप में हुआ, जिनमें गीति-काव्य की कला का पूरा-पूरा अनुकरण किया गया। चित्र-चित्रण, नाद-ध्वनि और लय इस प्रकार के निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। हिंदी-गद्य में इस प्रकार के गद्य-गीतों की प्रधानता और उनके प्रचलन के दो कारण दृष्टिगत होते हैं। प्रथम तो स्वच्छंदवाद का प्रभाव था, जिसके परिणाम स्वरूप हिंदी-गद्य की शैली, उसके रूप और उपादानों में नये-नये परिवर्तन होने लगे। द्वितीय, रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'गीतांजलि' ने अनेक लेखकों को इस दिशा की ओर अग्रसर किया। उनके नोबेल पुरस्कार से प्रभावित होकर लेखक-वृंद उनका अनुकरण करने लगे। सन् १६१५ ई० में मदनमोहन मिहिर ने 'गीतांजलि' का पूरा अनुवाद गद्य में किया, फिर तो अनेक लेखक इस क्षेत्र में उतर पड़े। जिन प्रमुख लेखकों द्वारा गद्य-गीतों में हिंदी-गद्य का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा उनमें वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास आदि का नाम सगर्व लिया जा सकता है। अंग्रेज़ी-साहित्य के गद्य-गीतों में भाव, विचार, कला तथा आदर्श की दृष्टि से तो गद्य-गीत महत्त्वपूर्ण होते ही हैं, लेकिन साथ ही उनमें हास्य, व्यंग्य और व्यक्तिगत विशेषताएँ भी होती हैं। हमारे यहाँ कला की दृष्टि से गद्य-गीतों ने पर्याप्त उन्नति की, लेकिन उनमें हास्य और व्यंग्य रत्ती भर भी नहीं हैं।

रायकृष्णदास जी एक समर्थ और सशक्त भाषा के प्रतिष्ठापक हैं, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता। गद्य-गीत लिखने में आपका कोई

शानी नहीं। अतः हिंदी के गद्य-लेखकों में आपका स्थान बहुत ऊँचा हो जाता है। आपकी शैली में अनुभूति और कल्पना दोनों का पर्याप्त मात्रा में सामञ्जस्य देखने को मिलता है। भावनाओं की गंभीरता के साथ उनकी भाषा में एक संयत रूप भी पाया जाता है। इनकी सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि गद्य-गीतों में आपने व्यावहारिक और नित्य की चलती-फिरती सीधी-सादी भाषा का प्रयोग किया है, जिससे भाव-प्रकाशन में स्पष्टता आ गई है, उसमें किसी प्रकार का कोई रहस्य नहीं। भाषा और भाव का ऐसा संयोग अन्य लेखकों में नहीं पाया जाता। वाक्य छोटे-छोटे और प्रवाहपूर्ण हैं। शब्दों का चुनाव बड़ा ही मनोहर है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्दों का प्रयोग तो निस्संदेह दर्शनीय है। कहीं-कहीं प्रांतीय शब्द भी आ गये हैं, लेकिन बहुत कम। भाषा विषय के अनुरूप अपने स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन करती चलती है। वर्णन में चित्रोपमता है। प्राकृतिक दृश्यों के प्रति आपका अनुराग 'प्रसाद' से किसी अंश में कम नहीं। नाद-ध्वनि और लय का बराबर ध्यान रखा गया है। शैली कवित्वपूर्ण है, उसकी सजावट तथा भाव-भंगी ही निराली है। 'साधना' और 'प्रवाल' आपके दो सफल गद्य-काव्य हैं। 'साधना' की शैली में रूपक की अपनी निजी विशेषता है—अन्योक्ति से पृथक् एक विशेष प्रकार की शैली से, जिसे हम प्रतीकात्मक कह सकते हैं, काम लिया गया है। उन पर यह प्रभाव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ही पड़ा, जो शैली पश्चिम से सर्वप्रथम बंगला में आई थी। 'प्रवाल' वात्सल्य रस से लबालब भरा पड़ा है। 'साधना' और 'प्रवाल' में से पृथक्-पृथक् उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(१) 'नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्मदाता पहाड़ों की गोद में रक्खा है, जहाँ वे एक चट्टान से कूदकर दूसरी पर जाती हैं, जहाँ वे ढोकों के संग खेल-कूद मचाती हैं और छींटे उड़ाती हैं तथा प्रसन्न होकर फेन-हास्य हँसती हैं, जहाँ वे अपनी ओर झुकी लता-

अलियों का हाथ पकड़कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं, जहाँ उनके बाल-संघाती छुप अंकुरांगुलियों से गुदगुदाते हैं और वे तनिक-सा उचककर तथा बंक होकर बढ़ जाती हैं, जहाँ वे लड़कपन से भोले-भाले मनमाने गीत गाती हैं और उनके पिता उनके प्रेम से उन्हें दुहराते हैं, और जहाँ वे पूरी ऊँचाई से वेग के साथ कूदकर गढ़ों में आती हैं और आप ही अपना दर्पण बनाती हैं।'

(२) 'मेरे नाच में न लय है, न भाव। लेकिन तो भी तुम्हें उसी में खूबी मिल जाती है। मेरी पैजनी कभी एक दम से बज उठती, कभी मंद पड़ जाती है। मेरा कठुला मेरे वक्ष पर हिलोरें मार रहा है और उसके घुँघरू चुनमुन-चुनमुन ध्वनि करते हैं। मेरे झगा के छोर छहर रहे हैं और मेरे कोमल, कुटिल, स्वर्ण-धूसर केशों के सिरे जरा जरा उड़ रहे हैं, मेरे चक्कर काटने से आंदोलित पवन द्वारा उत्कंपित हो रहे हैं। माँ! सब छोड़कर तुम मेरी यह लीला क्यों देखती हो।'

रायकृष्णदास जी की तरह श्री वियोगीहरि ने भी रवीन्द्रनाथ टैगोर से प्रभावित होकर उत्कृष्ट कलापूर्ण गद्य-गीतों की सृष्टि की। 'भावना' में उनके अनेक गद्य-गीत देखने को मिलते हैं। लेकिन राय-कृष्णदास और वियोगीहरि की शैली में अन्तर है। वियोगीहरि के गद्य-गीतों की शैली में लम्बी-लम्बी समास-पदावली के दर्शन होते हैं। अनुप्रासिकता की बहार इनकी प्रमुख विशेषता है। उर्दू और संस्कृत के शब्दों का बेमेल संयोग भी स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होता है। गद्य-पद्य-मिश्रित निबंधों के संग्रह 'साहित्य-विहार' तथा 'प्रेम-योग' ने हिंदी-गद्य में विशेष ख्याति प्राप्त की है। इनमें दीर्घ समासों का अभाव है। वियोगी जी एक भावुक लेखक हैं। इनके भक्ति के उद्गारों में जितनी भावुकता, सरसता और सत्यता रहती है, उतनी अन्य लेखकों में नहीं। विषयों के अनुसार भाषा बदलती रहती है। गद्य-गीतों में आपका व्यक्तित्व सर्वत्र देखा जा सकता है। भावपूर्ण गद्य-गीतों में भाषा के दो स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। एक में पांडित्य-प्रदर्शन, अलंकार,

अनुप्रास इत्यादि की ओर प्रवृत्ति अधिक लगी हुई है। दूसरी शैली में हृदय के भावों को सीधे-सादे ढंग से घरेलू मीठी भाषा से व्यक्त किया गया है। भावावेश की शैली में भावुकता की मात्रा अधिक है, वाक्य छोटे-छोटे हैं। शब्द ऐसे हैं, जिनसे हम पूर्ण परिचित हैं। इसमें कहीं-कहीं विदेशी शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिल जाता है। प्रथम शैली की भाषा मस्ती के साथ झूमती हुई आगे बढ़ती है। पद्य की सरस उक्तियों को गद्य की लड़ी में पिरोकर गद्य और पद्य के भेद को नष्ट करने वाली आपकी शैली बड़ी ही मार्मिक और आकर्षक होती है। लम्बे-लम्बे सांग रूपकों की योजना का निर्वाह बड़े सुंदर ढंग से किया गया है। उनकी दोनों शैलियों के उदाहरण देखिए—

(१) 'प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन-घन-तमाच्छन्न-कृष्ण-वसन-लसित-निशि-समय सुजन-मन-मोहिनी रसिक-रस-सोहिनी वेणु बजाता है; माधवी-मल्लिका-मकरंदलोलुप-मलिंद-गुंजार-समुल्लसित, नवरस-पूरित, सुप्रेम-प्रतिभा-समुदित-कवि-हृदय द्वारा स्वच्छंद-आनंद-कंद-संदेश भेजता है, और कभी-कभी विरह-दग्ध-उर-निस्सरित-प्रेमाश्रु-वर्षण वा संयोग-गत-प्रगाढ़ालिंगन-रोम-हर्षण में अपनी सुप्रीति-मय झलक दिखा जाता है।'

(२) 'दया-धाम। काँटा निकालकर क्या करोगे? चुभा सो चुभा। उसकी कसकीली चुभन ही तो अब तक मेरे इन अधीर प्राणों को धैर्य बँधाती आई है। सच मानो, प्रीति-गली के इस काँटे की कसकीली चुभन या चुभीली कसक ही मेरे जीर्ण-शीर्ण जीवन का एक मधुरतम अनुभव है। सो, नाथ यह काँटा अब ऐसा ही चुभा रहने दो।'

कहीं-कहीं शैली में व्यंग और वक्रता भी आ गई है, जहाँ पर कि लेखक उल्टी कैंची चलाना शुरू कर देता है, लेकिन ऐसे प्रसंग बहुत ही कम हैं, जैसे—

'पुरुष ने स्त्री के साथ और भी अनेक उपकार किये हैं। क्या यह

साधारण बात है कि वह वेद-पाठ इत्यादि के भारी भार से सदा के लिए मुक्त कर दी गई है ? उसे अक्षर-शत्रु बनाकर क्या बुद्धिमान् पुरुष ने व्यभिचार आदि पापों से नहीं बचा लिया है ? गृहिणी से उसे रमणी में परिणत कर लेना क्या कोई मामूली बात है ? सहस्रों कुल-वधुओं को मंगला मुखियाँ बना डालना पुरुष की कम सहृदयता नहीं है। बेचारे पुरुष को आज भी अहोरात्र रमणी की ही चिंता रहती है। उसके स्तनों और नितंबों की नई-नई उपमाएँ खोजते-खोजते ग़रीब हैरान हो रहा है। कवि-हृदय पुरुष ने उस महा अपवित्र नारी की कटि को, जो अनिर्वचनीय परब्रह्म की कोटि का मान लिया है, सो क्या कोई मामूली समझ का काम है ?'

चतुरसेन शास्त्री के गद्य-गीतों में भी लय और संगीत के स्पष्ट दर्शन होते हैं। शब्दों के तोड़-मरोड़ और उतार-चढ़ाव में तो शास्त्री जी ने कमाल कर दिया है। शास्त्रीजी प्रायः मधुर तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हैं। व्यावहारिकता और अकृत्रिमता आपकी सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा विषय के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। कहीं-कहीं उनमें वर्णनात्मक और संलाप-शैलियों का सुन्दर सामंजस्य देखने को मिलता है। 'प्यार', 'रूप', 'लालसा', 'आशा' आदि में यह सामंजस्य देखा जा सकता है। 'अन्तस्तल' में उत्कृष्ट कोटि के गद्य-गीत पाये जाते हैं। सन् १९२२ ई० में लिखे गये एक गद्य-गीत 'कहाँ जाते हो ?' का यह अंश देखिए—

'और एक बार तुम आये थे, यही तुम्हारा ध्रुव श्याम–रूप था; यही तुम्हारा विनिन्दित अभ्यस्त हास्य था, अक्षुण्ण मस्ती थी। इसी तरह तुमने तब भी भारत के नर-नारी—सब लोगों को मोह लिया था, कृष्ण यमुना इस साक्षी है।'

द्विवेदी-युग के ये गद्य-गीत हिंदी-साहित्य को एक नवीन देन हैं। आज भी गद्य-गीतों का यह क्रम अप्रतिहत रूप से चला आ रहा है।

(३) समालोचना

प्राचीन भारतीय साहित्य में समालोचना का जो रूप पाया जाता है, वह दूसरे प्रकार का है। उस समय सूत्र-रूप में अथवा एकाध श्लोक के द्वारा कवियों पर विचार प्रकट किये जाते थे। लक्षण-ग्रंथों में भी कहीं-कहीं आलोचना के दर्शन अवश्य होते हैं, लेकिन उनमें गांभीर्य, बुद्धि-पक्ष की प्रधानता तथा अध्ययन-शीलता जैसे आज के आवश्यक गुणों का सर्वथा अभाव है। वह पंडित-शैली की आलोचना थी, जिनमें एक आचार्य दूसरे आचार्य के लक्षणों वा उदाहरणों का खंडन-मंडन करता था। इस प्रकार की व्यावहारिक आलोचना से कोई लाभ नहीं हुआ, हाँ, सैद्धांतिक आलोचना का जिसके अन्तर्गत भारतीय रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि का स्थान है और जिसे पाश्चात्य देशों ने भी माना है, इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे यहाँ आज की आलोचना का इतिहास भारतेन्दु-युग से आरम्भ होता है। गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'समालोचना' (सन् १८९६ ई०) नामक पुस्तिका में लिखा है—'हमारे देश में यह (समालोचना) प्राचीन समय में जैसी चाहिए वैसी न थी और अर्वाचीन काल में तो लुप्त-प्राय हो गई थी पर अभी दस पंद्रह वर्षों में ही अंग्रेज़ी ग्रंथकर्ताओं के परिचय से केवल कहीं-कहीं इसका प्रारंभ हो चला है'। हिंदी में सच्ची समालोचना के प्रारंभकर्ता उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और बालकृष्ण भट्ट हैं। प्रेमघन ने अपने पत्र 'आनंद-कादंबिनी' में गदाधरसिंह द्वारा अनूदित पुस्तक 'वंग-विजेता' की आलोचना सन् १८८४ ई० में और भट्टजी तथा प्रेमघन जी ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना क्रमशः 'हिन्दी-प्रदीप' और 'आनंद-कादंबिनी' में सन् १८८६ ई० में सर्वप्रथम पुस्तकावलोकन के रूप में की थी। इनमें आलोचकों की दृष्टि गुण-दोष-दर्शन पर ही थी, आजकल की कोई विशेषता उनमें दृष्टिगत नहीं होती। इनके द्वारा कुछ काम अवश्य हुआ, लेकिन अग्निहोत्री की 'समालोचना' पुस्तिका तथा

'सरस्वती' के कुछ निबन्धों से आगे चलकर पता चलता है कि लेखक मनमाना पक्षपात करने लग गये थे—जिसको चाहते उड़ा देते। मिश्र-बंधुओं ने इस पक्षपातपूर्ण नीति का कड़े शब्दों में विरोध किया। कहने का अभिप्राय यह है कि हिंदी-साहित्य में समालोचना सर्वप्रथम गुण-दोष के रूप में प्रकट हुई, पर आगे चलकर जब उसकी स्थिति शोचनीय हो गई, तो महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आकर उसे सम्हाल लिया।

अब तक जितनी आलोचनाएँ हुईं, वे प्रायः पुस्तकों को लेकर पत्रिकाओं में सम्पादकों द्वारा की जाती थीं। आलोचना जन-साधारण से दूर की वस्तु थी। पुस्तक-रूप में आलोचना करने का श्रेय सर्वप्रथम द्विवेदी जी को है। उन्होंने सन् १९०१ ई० में 'हिंदी कालीदास की समालोचना' लिखी, जिसमें लाला सीताराम बी० ए० द्वारा अनुवादित कालीदास के ग्रंथों—कुमार-संभव, ऋतु-संहार, मेघदूत और रघुवंश—पर भाषा तथा भाव सम्बंधी दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। हिन्दी-समालोचना में यह अपने समय की पहली पुस्तक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनमें हमें दो बातें देखने को मिलती हैं। प्रथम, अनुवादों की समालोचना होने के कारण भाषा-सम्बंधी त्रुटियों के अतिरिक्त और अधिक टीका-टिप्पणी की गुंजायश भी नहीं थी, इसलिए आलोचना एक प्रकार से गुण-दोष-दर्शन ही है। द्वितीय, इसके द्वारा वे संस्कृत रचनाओं का परिचय हिंदी-जगत् को देना चाहते थे। इसलिए हम सच्ची आलोचना की आशा इसमें नहीं कर सकते। आगे चलकर द्विवेदी जी ने कुछ संस्कृत कवियों को लेकर दूसरे ढंग की समीक्षाएँ प्रकाशित कीं। इनमें लेखकों की विशेषताओं का भी परिचय दिया गया है। 'विक्रमांक-देव-चरित-चर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' इस दृष्टि से उनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। द्विवेदी जी का एक और भी ग्रंथ देखने को मिलता है—'कालीदास की निरंकुशता'। द्विवेदी जी के इन ग्रंथों में यद्यपि हमें स्वतंत्र समालोचना का रूप देखने को नहीं मिलता, लेकिन इतना तो निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि उनके

नेतृत्त्व में ही समालोचना का वृक्ष पनपा। उनकी इन समीक्षाओं ने आने वाले लेखकों के लिए रास्ता साफ़ कर दिया। फिर तो इसका क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि केवल थोड़े समय के भीतर ही मिश्रबंधु, पद्मसिंह, किशोरीलाल गोस्वामी, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुंदर-दास और रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक इस क्षेत्र में विशेष रुचि दिखाने लगे। अस्तु, द्विवेदी-युग के समालोचना-साहित्य को समझने के लिए हम उसे चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) साहित्य-समीक्षा (२) खोज और अध्ययन (३) समालोचना-सिद्धांत और (४) गम्भीर समालोचना।

साहित्य-समीक्षाओं का आरम्भ पत्र-पत्रिकाओं से हुआ। 'समालोचना' (जयपुर, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, सन् १९०२ ई०), 'सुदर्शन' (बनारस, माधव मिश्र, सन् १९०० ई०), 'सरस्वती' (प्रयाग, महावीरप्रसाद द्विवेदी, सन् १९०० ई०) आदि में उस समय इस प्रकार की समीक्षाएँ प्रकाशित होती रहती थीं। पुस्तकों की संख्या अधिक बढ़ जाने के कारण इन सम्पादकों ने अपने-अपने पत्रों में एक अलग स्तंभ बना दिया था, जिसके अन्तर्गत वे पाठकों को अच्छी पुस्तकों के पढ़ने और बुरी पुस्तकों से बचने के लिए संकेत करते रहते थे। आज भी हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रकार के स्तम्भ देखे जा सकते हैं। इन समीक्षाओं का एक उद्देश्य और भी था। इसके द्वारा प्रकाशकों को अपनी पुस्तकों के विज्ञापन का सुन्दर अवसर हाथ लग गया। 'सरस्वती, सन् १९०५ ई० में द्विवेदी जी द्वारा लिखी गई एक समीक्षा का उदाहरण देखिए—

'विघ्न–दर्शन'। इसका दूसरा नाम 'राक्षसी माया का परिचय' है। टाइटिल पेज इस पर नहीं है। इसके कर्त्ता बरेलीनिवासी खुन्नीलाल शास्त्री हैं। इसमें सूत्र हैं। जैसे संस्कृत के प्राचीन पुस्तकों में सूत्र हैं, वैसे ही इसमें भी हैं। उनका भाष्य भी है। वह भी हिंदी में है। नग्न रहने वाले भूत, प्रेत इत्यादि सिद्ध करने का यत्न करने वाले तथा अघोर-

पंथी मत के अनुयायियों के प्रतिकूल बहुत-सी बातें इसमें शास्त्री जी ने लिखी हैं।'

एक समालोचक के लिए जिन प्राथमिक बातों की आवश्यकता होनी चाहिए, वे ये हैं कि वह उच्चकोटि का विद्वान् हो, गुण को ग्रहण करने वाला हो और सदैव निष्पक्ष भाव से ग्रंथ के प्रति अपने विचार प्रकट करता रहे। साहित्यिक समीक्षाओं के आदि-काल में इन बातों का पूर्ण निर्वाह किया गया, लेकिन कालान्तर में खेद के साथ लिखना पड़ता है कि एक ओर विज्ञापन-प्रवृत्ति की अभिवृद्धि और दूसरी ओर दलबन्दी के बढ़ जाने के कारण समालोचना का आदर्श गिरने लगा। सम्पादक-वृंद अपने-अपने पिट्ठुओं को आगे लाने के लिए झूठ बोलने लगे, जिसके परिणाम-स्वरूप इन समीक्षाओं का मूल्य घटने लग गया।

द्विवेदी-युग में अध्ययन और खोज का कार्य भी ज़ोरों से चलने लगा। बहुत से अज्ञात कवियों और लेखकों के जीवन-वृत्त की उत्कण्ठा इसका मूल स्रोत है। कहने का अभिप्राय यह है कि द्विवेदी-युग का पाठक केवल काव्यगत विशेषताओं से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, वह इस बात का पता लगाने के लिए सदैव तत्पर रहा कि अमुक लेखक के जीवन की प्रमुख घटनाएँ कौन-कौन-सी थीं, किन विशिष्ट घटनाओं से प्रभावित होकर उसने अपने ग्रंथ की सृष्टि की? इसके फलस्वरूप सरयूप्रसाद मिश्र ने बंगला से 'भारतवर्षीय-संस्कृत-कवियों का समय-निरूपण' और गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी से 'संस्कृत-कवि-पंचक' नामक अनुवाद प्रस्तुत किये। द्विवेदी जी 'नैषधचरित-चर्चा' नामक ग्रंथ द्वारा लेखक का जीवन-चरित्र और परिचयात्मक आलोचना लिख ही चुके थे। इस प्रकार की दूसरी रचना उनकी 'कालीदास की निरंकुशता' थी, जिसमें उन्होंने लेखक के समय और विशेषताओं आदि का विवेचन किया है। इनसे प्रभावित होकर किशोरीलाल गोस्वामी ने 'अभिज्ञान-शाकुंतल और पद्म-पुराण' नामक सन् १९०० ई० के लेख में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि 'शकुंतला' का कथानक पद्मपुराण से लिया गया है। इसी प्रकार

चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'विक्रमोर्वशी की मूल-कथा' नामक लेख में यह बात सिद्ध की कि 'विक्रमोर्वशी नाटक' की कथा वेदों से लेकर लिखी गई है। ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि इस प्रकार की समस्त समालोचनाएँ प्राचीन संस्कृत लेखकों पर लिखी जाती थीं।

खोज और अध्ययन के लिए 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा' से जो सहायता मिली, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। सभा की 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में कितने ही महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होने लगे। इस दृष्टि से सबसे अधिक तत्परता बाबू श्यामसुंदरदास ने दिखलाई। उनके अथक परिश्रम से पत्रिका को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता भी मिलने लगी। उन्होंने (सन् १९००–१९०९ ई० तक) बराबर खोज सम्बन्धी कार्य जारी रक्खा और प्रतिवर्ष जो सामग्री उपलब्ध होती जाती थी, उसका नियमित रूप से इस पत्रिका में प्रकाशन होता रहता था। बाबू जी के पश्चात् पंडित श्यामबिहारी मिश्र ने (सन् १९०९–१९२० ई०) तक यह खोज का कार्य किया। उनके पश्चात् उनके भाई पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र ने (सन् १९२०–२२ ई०) तक खोज का कार्य बड़े उत्साह के साथ जारी रक्खा। इन विविध खोजों का शुभ परिणाम यह हुआ कि हिंदी के अनेक अज्ञात कवि और लेखकों की रचनाएँ, उनका जीवन-वृत्त, काव्यगत विशेषताएँ आदि हमारे सामने आईं। हमारे प्राचीन साहित्य की रक्षा करने वाले हिंदी-हितैषियों में इन साहित्यकारों का स्थान बहुत ऊँचा है। सन् १९०० से लगाकर सन् १९२२ ई० तक की उक्त सभा की पत्रिकाएँ उठाकर देखी जाएँ तो हमें यह ज्ञात हो सकता है कि उनके द्वारा साहित्य की कितनी अमूल्य सेवा हुई है।

'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में गंभीर और विद्वत्तापूर्ण लेखों की भी कमी नहीं है। राधाकृष्णदास ने 'नागरीदास का जीवन-चरित्र', 'मुसलमानी दफ़्तरों में हिंदी' और 'सूरदास का जीवन-चरित्र' एडविन ग्रीव्स ने 'गोसाईं तुलसीदास का चरित्र', श्यामसुंदरदास ने 'बीसलदेव

रासो', 'हिंदी का आदि कवि', मुंशी देवीप्रसाद ने 'पृथ्वीराजरासो' आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित कराये। महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा का 'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता के संबंध में एक निबन्ध इसी समय प्रकाशित हुआ। इसी सम्बंध में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या तथा श्यामसुंदरदास के लेखों का ताँता लग गया। इसी प्रकार मिश्रबंधुओं तथा इंद्रदेवनारायण ने 'तुलसीदास के जीवन-चरित्र', शुकदेव बिहारी मिश्र ने 'हिंदी का महत्त्व', जगन्मोहन वर्मा ने 'हिंदी पर प्राकृत भाषाओं का प्रभाव', 'अशोक के अभिलेख' और 'विवाह का इतिहास', गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' और पूर्णचंद्र नाहर ने 'प्राचीन-जैन-हिंदी-साहित्य' आदि महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित कराये। इन सब निबन्धों का परिणाम यह हुआ कि आगे के लिए जिन विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखना आरम्भ किया, उनके लिए यह सामग्री बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। सन् १९१३ ई० में प्रकाशित 'मिश्रबंधु-विनोद' (३ भाग) इस दृष्टि से एक सराहनीय कार्य है।

द्विवेदी-युग में समालोचना-सिद्धांत की दृष्टि से भी अनेक पुस्तकें लिखी गईं। पहले प्रकार की पुस्तकें वे हैं जिनमें संस्कृत-समालोचना-सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। बाबूराम बित्थरिया ने संस्कृत रसों के आधार पर 'नवरस', अलंकारों के आधार पर कन्हैयालाल पोद्दार ने 'अलंकार-प्रकाश', अर्जुनदास केडिया ने 'भारती-भूषण', और लाला भगवानदीन ने 'अलंकार-मंजूषा' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। इसी प्रकार छंदों के लिए जगन्नाथप्रसाद भानु ने 'छंद-प्रभाकर' नामक पुस्तक प्रकाशित कराई। शालिग्राम शास्त्री ने कविराज विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' का अनुवाद किया। केशव की 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' की टीकाएँ भी इस समय प्रकाशित हुईं। श्यामसुंदरदास जी ने 'भारतीय नाट्य-शास्त्र' पर अनेक उच्च कोटि के लेख लिखे। दूसरे प्रकार की पुस्तकें वे हैं, जिनमें पाश्चात्य समालोचना

के सिद्धांतों का अनुकरण किया गया है। पंडित जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'समालोचनादर्श' नामक अनुवाद तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी का 'विश्व-साहित्य' इसी कोटि के हैं। तीसरे प्रकार की पुस्तकें वे हैं, जिनमें संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धांतों का मेल देखने को मिलता है। बाबू श्यामसुंदरदास का 'साहित्यालोचन' (सन् १९२२ ई०) इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल आदि लेखकों के फुटकर समालोचनात्मक निबन्धों में इसी मेल के दर्शन होते हैं। इस प्रकार हम देखेंगे कि समालोचना-सिद्धांतों को लेकर अनेक पुस्तकें लिखी गईं।

समालोचना साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गम्भीर विषय है। मिश्रबंधुओं ने सर्वप्रथम हिंदी-लेखकों की कृतियों को अपनी आलोचना का विषय बनाया। वे संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्धारित कसौटी पर घिसकर किसी कृति का मूल्यांकन करते थे। उन्होंने सन् १९०० ई० में 'हम्मीर-हठ' और 'श्रीधर पाठक' की समालोचना सरस्वती में प्रकाशित करवाई और सन् १९०४ ई० में 'समालोचक' में 'महाकवि भूषण' पर समालोचना लिखी। आगे चलकर सन् १९११ ई० में 'हिन्दी नवरत्न' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा, जिसमें हिंदी के नौ कवियों पर समालोचना की गई है। आगे चलकर इसमें और कवियों की समालोचनाएँ भी सम्मिलित कर दी गईं। समालोचना-साहित्य में मिश्रबंधुओं का यह ग्रंथ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके पूर्व लिखे गये ग्रंथों में उन्होंने प्राचीन परम्परा का ही अनुशीलन किया है, लेकिन इसमें उन्होंने कवियों के बाह्य एवं आंतरिक दोनों रूपों की विशद तथा भव्य विवेचना की है। आगे चलकर स्वच्छंदवादी काल आया और पाश्चात्य विचार-धारा से हिंदी-गद्य प्रभावित होने लगा, तब समालोचकों ने स्वतंत्र समालोचना करना आरम्भ किया। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्मति को महत्त्व मिलने लगा। समालोचकों की इच्छा होती तो वे किसी लेखक को आकाश में पहुँचा देते और यदि किसी

को किसी से द्वेष होता तो उसे रसातल में भेज देते थे। तात्पर्य यह है कि कृतियों का अच्छा और बुरा होना लेखक की मनोवृत्ति पर निर्भर होने लगा। एक ही चीज़ विभिन्न दृष्टिकोणों से देखी जाने लगी। प्रायः सभी अपने-अपने तर्क लेकर आये। 'बिहारी सतसई' पर लिखी गई टीकाओं की ही बात लीजिए, यह बात स्पष्ट हो जायगी। गम्भीर समालोचना-साहित्य में पंडित रामचंद्र शुक्ल की समालोचनाएँ अद्वितीय हैं। उनके सदृश प्रतिभा-सम्पन्न समालोचक आज भी देखने को नहीं मिलता। शुक्ल जी ने 'जायसी-ग्रंथावली' (सन् १६२२ ई०), 'तुलसी-ग्रंथावली' (सन् १६२३ ई०) और भ्रमर-गीत-सार' (सन् १६२५ ई०) का सम्पादन किया और संपादकीय भूमिकाओं या प्रस्तावनाओं के रूप में समालोचनात्मक निबंध लिखे हैं। इसमें उन्होंने काल और परिस्थिति, परम्परा और संप्रदाय, कवि-परिचय, काव्य-वस्तु, मत और सिद्धांत, आदर्श भावना, काव्य-पद्धति, भावुकता और स्वभाव-चित्रण, कवि-कर्म, भाषा और उस पर अधिकार, काव्य के विशेष गुण और दोष, साहित्य में काव्य और कवि का स्थान आदि विषयों पर प्राचीन तथा वैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से अपने विचार प्रकट किये हैं। इन निबंधों में काव्यों का एक व्यापक विचार हुआ है और इनमें समालोचना का एक सामान्य रूप पाया जाता है। मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक या साहित्यिक समीक्षाओं के द्वारा उन्होंने जो विवेचन किया है, वह हमारे सामने एक आदर्श है। विवेचन की शैली, समीक्षा की पद्धति यद्यपि पाश्चात्य ढंग की हैं, तथापि भारतीय रस, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि का विवेचन करना भी वे नहीं भूले हैं। उनको समीक्षा-प्रणाली तो पाश्चात्य साहित्य की देन है, काव्य-विवेचन प्रधानतः भारतीय-पद्धति के अनुसार हुआ है। शुक्लजी के इन निबंधों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने सर्वत्र निष्पक्ष और न्याययुक्त भावना का परिचय दिया है। शुक्लजी अपने समय के सबसे योग्य और कुशल साहित्यिक न्याया-धीश थे, जिन्होंने कृतियों के अन्तराल में प्रवेश कर सही-सही फ़ैसला

दिया है। निबंधों की तरह इन समालोचनाओं में भी शुक्लजी के हृदय और मस्तिष्क का पर्याप्त-मात्रा में सामञ्जस्य दृष्टिगत होता है। भाषा निबन्धों की तरह गठी हुई है। तत्सम और तद्भव दोनों रूपों की प्रधानता है। संक्षेप में, हिंदी-समालोचना के आधुनिक आदर्श की प्रतिष्ठा का श्रेय शुक्लजी को ही है। उनकी समालोचनाओं की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। यहाँ उनकी समालोचनाओं में से कौन-सा उदाहरण दिया जाय, उसका निर्णय करना भी कठिन हो रहा है, क्योंकि प्रायः सभी अंश महत्त्वपूर्ण हैं। सूरदास के संप्रदाय के परिचय में विचार के साथ उनकी भावात्मकता और गद्य की सालंकारता का यह उदाहरण देखिए, कितना उत्कृष्ट है—

'जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिलकंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करीलकुंजों के बीच फैल मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।'

रामचंद्र शुक्ल के अतिरिक्त पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, कृष्णबिहारी मिश्र, गिरधर शर्मा, श्यामसुंदरदास आदि ने भी गंभीर समालोचनाएँ लिखकर हिंदी-गद्य की अभूतपूर्व उन्नति की है। श्यामसुंदरदास को छोड़कर शेष सभी समालोचक प्राचीन पद्धति के आराधक हैं, उनमें वैज्ञानिकता के दर्शन नहीं होते, अतः उनका स्थान उच्च नहीं है। पुनः ये लोग फुटकर रूप में हिंदी की मासिक पत्र-पत्रिकाओं में अपनी समालोचनाएँ प्रकाशनार्थ भेजते थे, शुक्लजी अथवा बाबूजी की भाँति इनमें से किसी ने कोई ठोस कार्य नहीं किया। द्विवेदी-युग के इस समालोचना-साहित्य ने ठोस साहित्य के निर्माण में जो योग दिया,

वह सर्वथा स्तुत्य है।

तुलनात्मक समालोचना—

हिंदी-गद्य में तुलनात्मक समालोचना का आरम्भ पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी और फ़ारसी कवि सादी की तुलनात्मक समालोचना', (सन् १६०७ ई०) से होता है। सन् १६१२ ई० तक शर्माजी ने तुलनात्मक समालोचना को लेकर जो निबन्ध लिखे, वे ये हैं—'भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य', 'संस्कृत और हिंदी कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव' तथा 'भिन्न भाषाओं की कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव'। ये निबन्ध नियमित रूप से 'सरस्वती' में प्रकाशित होते रहे। ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि यद्यपि इन निबन्धों में तुलनात्मक समालोचना के बीज पाये जाते हैं, लेकिन इन्हें हम तुलनात्मक समालोचना नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ, उनकी प्रथम समालोचना से गद्य में एक प्रकार का झगड़ा खड़ा हो गया। सादी बड़ा था या बिहारी, इस बात को लेकर वाद-विवाद बहुत समय तक चलता रहा। लेकिन शर्माजी की इस प्रकार को गद्य-रचनाओं में लेखकों को एक नवीन वस्तु दिखाई दी। वे इसके पीछे पड़ने लगे। कृष्णबिहारी मिश्र, मिश्रबंधु, लाला भगवानदीन आदि लेखकों ने इसके महत्त्व को समझा और अपनाया। मिश्रबंधुओं ने 'हिंदी नवरत्न' में कवियों की तुलनात्मक जाँच की और कवियों को एक-एक से बढ़कर सिद्ध करने का प्रयत्न किया। पद्मसिंह शर्मा अपनी समालोचना में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बिहारी श्रृंगार रस के सर्वोत्तम कवि हैं, उनकी बराबरी और कोई कवि नहीं कर सकता। कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक में इसका मुँहतोड़ उत्तर देते हुए लिखा कि ऐसा कहना असत्य है, बिहारी से देव अधिक श्रेष्ठ कवि है। इसको पढ़कर लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नाम की एक अलग पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने बिहारी को देव से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध किया। इस प्रकार यह

झगड़ा अपनी-अपनी रुचि और मनोवृत्ति के आधार पर बढ़ता गया, लेकिन हर्ष का विषय है कि लाला भगवानदीन की पुस्तक के थोड़े दिनों बाद यह ठंडा पड़ गया। लेकिन तुलनात्मक समालोचना का आनन्द, जो लेखक देख चुके थे, कैसे बन्द हो सकता था। यह पद्धति हिंदी-गद्य में स्वच्छंद रूप से चलती रही और इस प्रकार के निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे।

तुलनात्मक समालोचना का विकास एक दूसरे स्रोत से भी हुआ, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों जैसे जार्ज ग्रियर्सन, एडविन ग्रीन्स आदि ने गोस्वामी तुलसीदास पर स्वतंत्र रूप से आलोचना की थी और यह सिद्ध किया था कि वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इधर हमारे लेखकों ने पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन कर वहाँ तुलसी का साथी शेक्सपियर ढूँढ निकाला। फिर क्या था, वे अपनी-अपनी समालोचनाओं में इन दोनों की तुलनात्मक जाँच करने लगे। मिश्रबंधुओं ने अपने 'हिंदी-नवरत्न' में इसी बात का प्रयत्न किया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि तुलसी शेक्सपियर से बड़े हैं। उनके देखा-देखी अन्य लेखकों ने भी 'मानस' के अंश-विशेषों को लेकर अन्य कवियों के अंश-विशेषों से तुलना करना आरम्भ किया। सन् (१९२३ ई०) की 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'तुलसी-ग्रंथावली' इसी का शुभ परिणाम था। इस प्रकार तुलसी पर एक अच्छा खासा मसाला तैयार हो गया। इस प्रकार हम देखेंगे कि तुलनात्मक समालोचना में 'मिश्रबंधुओं' का स्थान बहुत ऊँचा है, वे ही इसके वास्तविक जन्मदाता हैं। लेकिन दुख के साथ लिखना पड़ता है कि जिस अंग की नींव इतनी सुदृढ़ रही, जिसके आदि-काल में लेखकों ने अपनी विशेष रुचि दिखलाई, आगे चलकर उसका पर्याप्त विकास नहीं हो सका।

(४) उपन्यास—

कहने के लिए हम भले ही कह दें कि हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास

श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' (सन् १८८२ ई०, द्वितीय संस्करण) और इससे भी पूर्व मौलिक उपन्यास सदानंद मिश्र तथा शंभुनाथ मिश्र द्वारा संपादित 'मनोहर उपन्यास' (सन् १८७१ ई०) है, लेकिन हिंदी का सर्वप्रथम साहित्यिक मौलिक उपन्यास भारतेंदु-युग में देवकीनंदन खत्री का 'चंद्रकांता' (सन् १८९१ ई०) ही माना जाता है। इस स्थल पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि खत्री जी से भी पूर्व किशोरी-लाल गोस्वामी ने सन् १८८९ ई० में 'कुसुम-कुमारी' की रचना कर दी थी, लेकिन उसका प्रकाशन 'चंद्रकांता' के बाद ही हुआ, पहिले नहीं। इसलिए प्रथम मौलिक उपन्यासकार होने का श्रेय खत्री जी को ही मिला, इसमें कोई संदेह नहीं। भारतेंदु-युग में जो उपन्यास लिखे गये, वे प्रधानतः विलास-प्रधान थे। ऐय्यारी-तिलस्मी और जासूसी उपन्यास जनता में लोक-प्रिय तो ख़ूब हुए, लेकिन उनका एक-मात्र उद्देश्य मनोरंजन था; उनमें मानवी भावनाओं को कोई स्थान नहीं मिल सका। इसलिए शिक्षित लोग इन्हें पढ़ तो अवश्य लेते थे, परन्तु उनसे वे सन्तुष्ट कदापि नहीं हुए। द्विवेदी-युग में आकर उपन्यासों की संख्या बहुत बढ़ गई। प्रायः सभी प्रकार के उपन्यास लिखे जाने लगे। भारतेंदु-युग के अधिकांश लेखकों ने इस युग में भी अपने विलास-प्रधान उपन्यासों के लिखने का क्रम जारी रक्खा, लेकिन उनके द्वारा उत्कृष्ट कोटि के साहित्यिक उपन्यास नहीं लिखे जा सके। सन् १९१६-२५ ई० तक जो उपन्यास लिखे गये, वास्तव में साहित्य की दृष्टि से उनका स्थान बहुत ऊँचा है। इस समय के बीच प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों ने मौलिक चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान उपन्यासों की सृष्टि की। इस प्रकार हम देखेंगे कि द्विवेदी-युग में घटना-प्रधान अथवा कथा-प्रधान उपन्यासों के अन्तर्गत ऐय्यारी-तिलस्मी, जासूसी, प्रेमाख्यानक, ऐतिहासिक तथा अन्य कोटि के उपन्यास, चरित्र-प्रधान उपन्यासों के अन्तर्गत उपदेशात्मक, गार्हस्थ्य, प्राकृतवादी तथा अन्य और भाव-प्रधान उपन्यास, प्रायः सभी प्रकार के उपन्यास लिखे गये। वास्तव

में कथा-साहित्य की दृष्टि से यह युग और प्रधानतः इसके पिछले वर्ष विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि उनमें न केवल उपन्यासों की ही संख्या बढ़ी, वरन् उनके कला-रूप तथा नवीन शैलियों का भी विकास हुआ। वे मनोरंजन के साथ-साथ हमें साहित्यिकता भी प्रदान करने लगे।

द्विवेदी-युग में नवीन लेखकों के कार्य-क्षेत्र में आने पर उपन्यासों के कला-रूप का विकास हुआ। रामलाल वर्मा के 'गुलबदन उर्फ़ रज़िया बेगम' (१९२३) ने पारसी थियेटरों और उर्दू काव्यों से प्रभावित होकर उपन्यासों में अतिनाटकीय रोमांचकारी प्रसंग भरने की चेष्टा की। लाला भगवानदीन पाठक के 'सती सामर्थ्य' के द्वारा प्राचीन उपकरणों के आधार पर उपन्यासों में नाटकीय तत्त्वों का सन्निवेश होने लगा। पाठक जी के देखा-देखी जयगोपाल ने भी 'उर्वशी' (१९२३) में अपने उपन्यास में नाटकीय तत्त्वों का समावेश किया। इससे नाटकों में अतिनाटकीय प्रसंगों वा संलापों का महत्त्व बढ़ने लगा और उपन्यासों में नाटक का-सा सजीव और स्वाभाविक वर्णन होने लगा। नाटकीय कला और गुणों के अतिरिक्त आगे चलकर प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' (१९२१), 'रंगभूमि' (१९२२) आदि ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की एक अद्भुत पिटारी खोल दी, जिससे पात्रों का मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण होने लगा। व्रजनंदनसहाय ने 'राधाकांत' और 'सौंदर्योपासक' (१९१२), जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' तथा चंडीप्रसाद 'हृदयेश' के मनोरमा आदि उपन्यासों से गीति-कला का महत्त्व बढ़ने लगा और इसलिए कवित्वमय उपन्यासों की सृष्टि होने लगी। संक्षेप में, उपन्यासों के कला-रूप का पर्याप्त विकास होने लगा।

कला-रूप के विकास के साथ ही साथ नई-नई शैलियों का जन्म हुआ। प्रथम, एक दृष्टा द्वारा कही हुई कथा के रूप में (वर्णनात्मक शैली) जैसे प्रेमचंद के 'सेवासदन' (१९१८), रामजीदास वैश्य के 'धोखे की टट्टी' (१९०६) और प्रियम्वदा देवी के 'कलियुगी परिवार का एक दृश्य में'। द्वितीय, आत्मकथा के रूप में (आत्मचरित शैली) जैसे

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'माँ', ब्रजनंदनसहाय के 'सौंदर्योपासक', रामचंद्र वर्मा के 'कलंक', इलाचंद्र जोशी के 'घृणामयी' और चन्द्रशेखर पाठक के 'वारांगना-रहस्य' में। तृतीय, पत्रों के रूप में (पत्र-शैली) जैसे पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'चंद हसीनों के ख़तूत' और अनूपलाल मंडल के 'समाज की वेदी पर' में। कहने का अभिप्राय यह है कि आज की प्रायः समस्त शैलियों के दर्शन हमें द्विवेदी-युग के उपन्यासों में हो जाते हैं।

ऐय्यारी-तिलस्मी उपन्यास—

द्विवेदी-युग में सन् १९००-१९१५ ई० तक ऐय्यारी-तिलस्मी उपन्यास अधिक संख्या में लिखे गये। 'तिलस्म' शब्द का अर्थ है—जादू, चमत्कार अथवा करामात। हिंदी-उपन्यासों में तिलस्म का भाव उर्दू से आया और उर्दू में फ़ारसी कहानियों से। अमीर हमज़ा साहब फ़ारसी से इसे सर्वप्रथम उर्दू में ले गये और देवकीनंदन खत्री ने उर्दू से लेकर हिंदी-उपन्यासों में इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया। इस प्रकार के सभी उपन्यासों का कथानक प्रायः एक-सा है। नायक और नायिका में प्रथम दर्शन में प्रेम होता है, विवाह के समय कुछ कारणों से बाधाएँ आ खड़ी होती हैं। पारस्परिक मिलन के लिए फिर दोनों ओर से ऐय्यार छोड़े जाते हैं, जो इस काम में सहायक होते हैं। अनेक घात-प्रतिघातों के बाद नायक-नायिका में विवाह हो जाता है। इन उपन्यासों का कथानक बड़ा ही जटिल होता है और उसमें उलझनें इतनी रहती हैं कि लेखक उन्हें सुलझाने के लिए तिलस्मों का आश्रय लेता है। इन उपन्यासों में कहीं-कहीं अनुपम सूझ दिखाई देती है और कहीं-कहीं साधारण लेखकों के द्वारा अतिप्राकृत प्रसंगों का भी आरोप कर दिया गया है। ऐय्यारों की अवतारणा इनकी प्रमुख विशेषता है, जो ग़ज़ब का काम कर दिखाते हैं, साथ ही नैतिकता और वीरता की दृष्टि से ये ऐय्यार भले मानुष होते हैं। खत्री जी के आरम्भिक 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' की लोकप्रियता देखकर

अनेक लेखकों ने उनका अनुकरण किया। उस समय तिलस्म से रहित कोई उपन्यास उच्चकोटि का नहीं समझा जाता था। पढ़ने वाले भी तिलस्मी उपन्यासों के शौक़ीन हो गये थे। वे पढ़ते-पढ़ते ही इधर-उधर देखने लगते—उन्हें इस बात का भय लगा रहता था कि तिलस्म का भूत कहीं उनके ऊपर सवार होने तो नहीं आ गया है। इस प्रकार लेखकों और पाठकों की विकृत रुचि के परिणाम-स्वरूप इनको प्रोत्साहन मिलता गया। यदि कोई लेखक दूसरे प्रकार के उपन्यास लिखने का प्रयास भी करता, तो उसमें यह भाव आये बगैर नहीं रहता था। खत्री जी के अनुकरण पर द्विवेदी-युग में जो उपन्यास लिखे गये, वे ये हैं—

हरेकृष्ण जौहर के 'भयानक भ्रम' (१९००), 'नारी-पिशाच' (१९०१), 'मयंक-मोहनी' (१९०१), 'जादूगर' (१९०१), 'कमल कुमारी' (१९०२), 'निराला नक़ाबपोश' (१९०२) तथा 'भयानक ख़ून' (१९०३), सरस्वती गुप्ता का 'राजकुमार' (१९००), बालमुकुंद वर्मा के 'कामिनी' (१९००) तथा 'राजेन्द्रमोहिनी' (१९०१); देवकीनंदन खत्री के 'गुप्तगोदान' (१९०२), 'काजर की कोठरी' (१९०२) तथा 'अनूठी बेगम' (१९०५); मदनमोहन पाठक का 'आनंद सुंदरी' (१९०२), मुन्नीलाल खत्री 'सच्चा बहादुर' (१९०२); किशोरीलाल गोस्वामी के 'कटे मूड़ की दो-दो बातें' (१९०५) तथा 'याक़ूती तख़्ती' (१९०६), विश्वेश्वरप्रसाद वर्मा का 'वीरेन्द्र कुमार' (१९०६) और रामलाल वर्मा का 'पुतली महल' (१९०८ ई०)। लेकिन आगे चलकर ऐय्यारी-तिलस्मी उपन्यासों की यह धारा थोड़े समय तक और चलकर लुप्त हो गई। केवल इने-गिने उपन्यास ही लिखे गये, जिनमें देवकीनन्दन खत्री का 'भूतनाथ' (१९०९); रूपकिशोर जैन का 'सूर्यकुमार संभव' (१९१२); चतुर्भुज औदीच्य का 'हवाई महल' (१९१४) और अंत में चन्द्रशेखर पाठक का 'हेमलता' (१९१५) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सन् १९१५ ई० के बाद यह

धारा रुक गई, इसका प्रधान कारण प्रेमचंद का प्रभाव था। उन्होंने हिंदी-उपन्यासों को तिलस्म के दलदल से निकालकर साफ़-सुथरी भूमि पर ला खड़ा किया।

जासूसी उपन्यास—

द्विवेदी-युग में जासूसी उपन्यास भी पर्याप्त संख्या में लिखे गये, जिनमें चोरी, डाका अथवा हत्या के विविध वर्णन देखने को मिलते हैं। हिंदी में जासूसी उपन्यासों का भाव अँग्रेज़ी से आया और मध्य-कालीन अतिरंजित बुद्धिवाद के प्रभाव से यह धारा बहुत समय तक चलती रही। जासूसी उपन्यासों के अन्तर्गत बहुत से उपन्यास साहसिक उपन्यास भी कहे जा सकते हैं। इनमें डकैती होने पर जासूस और पुलिस डाकुओं का पीछा करते हैं और अनेक घात-प्रति-घातों तथा साहसिक कार्यों के बाद वे अपने उद्देश्य में सफल भी हो जाते हैं। इन उपन्यासों के ढंग बुरे और भले दोनों प्रकृति के होते हैं। कहीं-कहीं डाकुओं का झुन्ड पुलिस के हाथ में पड़ जाता है, तो कहीं हाथ में आकर डाकू पुनः भाग जाते हैं। किसी-किसी उपन्यास में भारत की स्वतन्त्रता के लिए गुप्त संस्थाओं द्वारा हिंसात्मक आंदोलनों का भी विशद वर्णन किया गया है। इन उपन्यासों का रूप जासूसी उपन्यासों से ही मिलता-जुलता है, इसलिए दोनों प्रायः एक से ही हैं। तिलस्मी उपन्यासों की भाँति जासूसी उपन्यासों के कथानक में भी कोई विभिन्नता दृष्टिगत नहीं होती। जासूस घटनास्थल की वस्तुओं और निशानों के सहारे अपराधी की खोज करता है। जासूसी उपन्यासों में गोपालराम गहमरी के उपन्यास सर्वोत्कृष्ट हैं। उनका कथानक स्वाभाविक और यथार्थवादी है और कथा-वस्तु की उलझनों को बड़ी ही सरलता के साथ सुलझाया गया है। साथ ही इनमें अतिप्राकृत प्रसंग भी नहीं है। हिंदी-उपन्यासों में गहमरी जी के ही जासूसी उपन्यास सबसे अधिक संख्या में हैं। वे ही इस धारा के प्रतिनिधि-लेखक हैं। इस प्रकार के उपन्यासों का अंत भी उनके

अंतिम जासूसी उपन्यास से हुआ। सन् १९१८ ई० तक, अर्थात् प्रेमचन्द के उपन्यास-क्षेत्र में आने के पूर्व यह धारा अप्रतिहत रूप से चलती रही, लेकिन उनके मनोवैज्ञानिक और चरित्र-प्रधान उपन्यासों में हिंदी-जनता को एक नई चीज़ पढ़ने को मिली। धीरे-धीरे रुचि इतनी कम हो गई कि पाठकों ने इन उपन्यासों को पढ़ना ही बन्द कर दिया। इस युग में जो-जो जासूसी उपन्यास लिखे गये, वे इस प्रकार हैं—रुद्रदत्त शर्मा का 'वीरसिंह दारोगा' (१९००), गोपालराम गहमरी के सन् १९०० ई० में लिखे गये 'बेक़सूर की फाँसी', 'सरकती लाश', 'ख़ूनी कौन है ?', 'बेगुनाह का ख़ून', 'जमुना का ख़ून', 'डबल जासूस', सन् १९०१ ई० में लिखे गये 'मायाविनी', 'जादूगरनी मनोरमा', 'लड़की की चोरी', 'जासूस की भूल', 'थाना की चोरी' 'भयंकर चोरी', सन् १९०२ ई० में लिखे गये 'अंधे की आँख', 'जालराजा', 'जालीकाका', 'जासूस की चोरी', 'मालगोदाम की चोरी' तथा सन् १९०३ ई० में लिखे गये 'डाके पर डाका', 'डाक्टर की कहानी', 'घर का भेदी', 'जासूस पर जासूस', 'ख़ूनी का भेद' (१९१०), 'भोजपुरी की ठगी' (१९११), 'बलिहारी बुद्धि' (१९१२), 'योगमहिमा' (१९१२) तथा 'गुप्त भेद' (१९१३)। सन् १९१३–१८ ई० तक उन्होंने जो उपन्यास लिखे वे ये हैं—'अद्भुत ख़ून', 'आँखों देखी घटना', 'इन्द्रजालिका जासूस', 'कटा सिर', 'क़िले में ख़ून', 'केतकी की शादी', 'ख़ूनी का भेदी', 'ख़ूनी की खोज', 'लाइन पर लाश', 'चक्करदार चोरी', 'चोरों की लीला' तथा 'मृत्यु विभीषिका'। इसी प्रकार किशोरीलाल गोस्वामी का 'ज़िन्दे की लाश' (१९०६), जयरामदास गुप्त का 'लँगड़ा ख़ूनी' (१९०७), माधव के सीट का 'अद्भुत रहस्य' (१९०७), ईश्वरीप्रसाद शर्मा का 'कोकिला' (१९०८), जंगबहादुरसिंह का 'विचित्र ख़ून' (१९०९), शेरसिंह का 'विलक्षण जासूस' (१९११), चंद्रशेखर पाठक के 'अमीर अली ठग' (१९११) तथा 'शशिबाला' (१९११) और शिवनारायण द्विवेदी का 'अमरदत्त'

(१६१५) इसी श्रेणी के उपन्यास हैं।

प्रेमाख्यानक उपन्यास—

द्विवेदी-युग में प्रेमाख्यानक उपन्यासों की कोई कमी नहीं है। इनमें प्रेमी और प्रेमिकाओं के हाव-भाव और संयोग-वियोग का सुन्दर और विस्तृत वर्णन किया गया है। इन प्रेम-प्रधान उपन्यासों पर दो प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, एक तो रीतिकालीन-कवियों की शृंगार-भावना का और दूसरा उर्दू और फ़ारसी कवियों के प्रेम का। रीतिकालीन-कवियों की शृंगार-भावना को अपनाते हुए इन लेखकों ने विविध नायिकाओं के हाव-भावों का परम्परागत वर्णन किया है। इनमें ऊहात्मक पद्धतियों की भरमार है। प्रायः प्रथम दर्शन में ही प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इनमें दैवी-घटनाओं का भी प्रयोग किया गया है। उर्दू और फ़ारसी कवियों के प्रेम का अनुकरण करते हुए कुछ लेखकों ने नायक और नायिका को बड़े-बड़े दुस्तर कार्यों का सामना कराया है। प्रेम की समस्त शरारतें इनमें देखने को मिल जाती हैं। इनमें अस्वाभाविक और अतिप्राकृत प्रसंगों की प्रधानता है, लेकिन प्रेम का चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। रीतिकालीन कवियों की शृंगार-भावना को लेकर इस युग में अधिक उपन्यास लिखे गये हैं और उर्दू तथा फ़ारसी काव्य के आधार पर बहुत ही कम। किशोरी-लाल गोस्वामी के 'लीलावती' (१६०१), सन् १६०५ ई० में लिखे गये 'चंद्रावली', 'हीराबाई' और 'चंद्रिका', 'तरुण तपस्विनी' (१६०६), 'माधवी माधव' (१६०६) तथा 'अंगूठी का नगीना' (१६१८), वासुदेव मोरेश्वर पोतदार का 'प्रणयि माधव' (१६०१), हरिहरप्रसाद जिज्जल के 'शीला' (१६०१) तथा 'कामोदकला' (१६०३), श्यामजी शर्मा का 'प्रियावल्लभ-प्रेममोहिनी' (१६०२), शिवचंद्र भरतिया का 'कनक-सुंदर' (१६०४), शीतलप्रसाद का 'मनमोहिनी' (१६०५), गिरिजानंद तिवारी का 'सुलोचना' (१६०६) और लक्ष्मीनारायण गुप्त का 'नलिनी' (१६०८), नामक उपन्यास ऐसे हैं, जिनमें प्रेम वासनामय

रूप में चित्रित किया गया है। इन पर बिहारी और उसके समकालीन कवियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। झाबर मल्लदास का 'चंद्रकुमारी' (१९१०), परानमल सारस्वत ओझा का 'चपला' (१९१०), जगन्नाथ मिश्र का 'मधुप लतिका' (१९१२), कृष्णलाल वर्मा का 'चंपा' (१९१६), शिवनारायण द्विवेदी का 'चंपा' (१९१८) और कृष्णलाल गोस्वामी का 'माधवी' (१९१८), भी इसी श्रेणी के उपन्यास हैं, जिनमें वासनापूर्ण चित्र अधिक हैं। हिंदी-गद्य के विकास में इन उपन्यासों का महत्त्व नहीं के बराबर है। आगे चलकर जो उपन्यास लिखे गये, उनमें हमें प्रेम की बहुमुखी व्यंजना देखने को मिलती है। इनमें लेखकों ने फ़ारसी कवियों की प्रेम-पद्धति का अनुसरण किया है। इस कोटि के उपन्यासों में रामलाल का 'गुलबदन' (१९०८), काशीप्रसाद का 'गौहरजान' (१९११), रामगोपाल मिश्र का 'माया' (१९१७), चतुरसेन शास्त्री का 'हृदय की परख' (१९१८) तथा 'व्यभिचार' (१९२४); अंबिकाप्रसाद चतुर्वेदी का 'कोहेनूर' (१९१९), जयगोपाल लाला का 'भयानक तूफ़ान' (१९१९), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव का 'गंगा-जमुनी' (१९२०), और शिवदास गुप्त का 'उषा' (१९२५); नामक उपन्यास आते हैं। जी० पी० श्री वास्तव के 'गंगा-जमुनी' में एक नई बात देखने को मिलती है, जो और उपन्यासकारों में नहीं है। इसमें प्रेम-प्रसंगों और भावनाओं का विशद एवं हास्यमय चित्रण किया गया है। नायक के प्रेम-प्रसंगों को हास्यपूर्ण शैली में लिखकर श्रीवास्तवजी ने पाठकों को एक नवीन वस्तु प्रदान की, इसमें कोई सन्देह नहीं।

ऐतिहासिक उपन्यास—

द्विवेदी-युग में ऐतिहासिक उपन्यास पर्याप्त संख्या में देखने को मिलते हैं, लेकिन ऐसे उपन्यास जिनमें ऐतिहासिक तत्वों का निर्वाह किया गया हो, केवल इने-गिने ही हैं। ध्यान पूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि इस समय के प्रतिभा सम्पन्न लेखक ठोस साहित्य के सृजन की ओर

ही लगे हुए थे, कथा-साहित्य जैसी हल्की वस्तु की ओर उनका ध्यान लगा हुआ नहीं था। ऐसी अवस्था में अल्प शिक्षित लेखक ही उपन्यास लिखते थे, जिनमें न तो प्रतिभा थी और न मौलिक साहित्यिक उपन्यास के सृष्टि करने की शक्ति। उन्हें युग और प्रांत विशेष की संस्कृति, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति तथा रहन-सहन और चाल-ढाल से कोई प्रयोजन नहीं था, न वे कल्पना-शक्ति का ही आरोप करते थे। इसका फल यह हुआ कि ऐतिहासिक उपन्यास केवल इतिहास-मात्र रह गये। पुनः साहित्य में विगत तीन-सौ वर्षों की अविच्छिन्न मुक्तक-काव्य-धारा ने लेखकों को इतना मुग्ध कर दिया और उनके मानसिक संतुलन को एक ऐसे साँचे में ढाल दिया कि उनका ध्यान जीवन के सर्वांगीण चित्र की ओर न जाकर एक अंग विशेष की ओर ही जाता था। इन समस्त कारणों से उत्कृष्ट कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखे गये, हाँ, नाम-मात्र के लिए वैसे बहुत से गिनाये जा सकते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों का सर्वप्रथम रूप उन उपन्यासों में पाया जाता है, जिनमें इतिहास की ओट में तिलस्म, ऐय्यारी और रीति-कालीन प्रेम-प्रसंगों को सृष्टि की गई है। इनमें ऐतिहासिक वातावरण का प्रायः अभाव है और नायिका-भेद वाले प्रेम की प्रधानता है। युद्धादि का वर्णन करते समय लेखकों ने तिलस्मी-भावों का आश्रय लिया है। इसलिए ये केवल नाम-मात्र के ऐतिहासिक उपन्यास हैं, कोई अन्य विशेषता दृष्टिगत नहीं होती। उदाहरणार्थ: बलदेवप्रसाद मिश्र के 'अनारकली' (१६०० ई०), 'पृथ्वीराज चौहान' (१६०२ ई०) तथा 'पानीपत' (१६०२ ई०); किशोरीलाल गोस्वामी के 'कुसुम कुमारी' (सन् १६०१ ई०), 'राजकुमारी' (१६०२), 'तारा' (१६०२), 'चपला' (१६०३), 'कनक-कुसुम' (१६०३) और 'लखनऊ की कब्र' (१६०६ ई०); गंगाप्रसाद गुप्त के 'नूरजहाँ' (१६०२), 'वीरपत्नी' (१६०३), 'हम्मीर' (१६०४); रामप्रताप शर्मा का 'नरदेव' (१६०३), विट्ठलदास नागर का 'पद्मकुमारी' (१६०३); कुमारसिंह के 'सेनापति'

(१९०३), 'पूना में हलचल' (१९०३); मिट्ठूलाल मिश्र का 'रणधीर सिंह' (१९०४ ई०); श्यामसुंदर वैद्य का 'पञ्जाब पतन' (१९०४); भगवानदास का 'उरदू बेगम' (१९०५); मथुराप्रसाद शर्मा का 'नूरजहाँ' (१९०५); लालजी सिंह का 'वीरबाला' (१९०६); जयरामलाल रस्तोगी का 'सौतेली माँ' (१९०६); देवीप्रसाद मुंशी का 'रूठीरानी' (१९०६); जैनेन्द्रकिशोर का 'गुलेनार' (१९०७); जंगबहादुर सिंह का 'राजेन्द्र कुमार' (१९०७) और जयरामदास गुप्त के 'काश्मीर-पतन' (१९०७), 'रंग में भंग' (१९०७), 'मायारानी' (१९०८), 'नवाबी परिस्तान' (१९०९), 'कलावती' (१९०९) तथा 'मल्का चाँद बीबी' (१९०९)।

ऐतिहासिक उपन्यासों का द्वितीय रूप उन उपन्यासों में निहित है, जिनमें औपन्यासिकता की अपेक्षा इतिहास की मात्रा अधिक है। फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से विदित होगा कि सन् १९०९ ई० के पश्चात् ऐतिहासिक उपन्यासों की प्रवृत्ति में कुछ अन्तर आना अवश्य लग गया था। लेखकों का ध्यान तिलस्म, ऐय्यारी और रीतिकालीन प्रेम-प्रसंगों से दूर हटकर ऐतिहासिक उपन्यासों के आदर्शों की ओर लग गया। इसलिए इधर के लिखे गये उपन्यासों को हम ऐतिहासिक उपन्यासों के समीप पाते हैं। उदाहरणार्थ: रामप्रसाद सत्याल का 'अनंत' (१९०९); बलभद्रसिंह के 'सौंदर्य कुसुम' (१९१०), 'जयश्री' (१९११) तथा 'सौंदर्य प्रभा' (१९११); किशोरीलाल गोस्वामी के 'सोना और सुगंध' (१९११), 'लालकुँवर' (१९१२), 'रज़ियाबेगम' (१९१५) तथा 'गुप्तगोदना' (१९२३); कृष्णप्रकाशसिंह अखौरी का 'वीर चूड़ामणि' (१९१५), ब्रजनंदनसहाय का 'लालचीन' (१९१६); मुरारीलाल पंडित का 'विचित्र वीर' (१९१६), दुर्गाप्रसाद खत्री का 'अनंगपाल' (१९१७), मिश्रबंधु का 'वीरमणि' (१९१७), शेरसिंह का 'दुर्गा' (१९१८), हरिदास माणिक के 'चौहानी तलवार' (१९१८) तथा 'राजपूतों की बहादुरी' (१९२०); गोविंदवल्लभपंत का 'सूर्यास्त'

(१६२२) और विश्वंभरनाथ जिज्जा का 'तुर्क तरुणी' (१६२५ ई०)। इनमें से वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी के समीप आने वाले केवल इने-गिने उपन्यास ही हैं। इस दृष्टि से ब्रजनंदनसहाय का 'लालचीन', 'मिश्रबंधु का 'वीरमणि' और गोविंदवल्लभ पंत का 'सूर्यास्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'लालचीन' विकसित परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाला प्रथम उपन्यास है। इसमें मध्यकालीन मुसलमान राज्य का एक सुन्दर वातावरण तैयार किया गया है। नायक लालचीन ग़यासुद्दीन बलबन का एक गुलाम है, जिसको लेकर उपन्यास की कथावस्तु का विकास हुआ है। कहीं-कहीं कल्पना-शक्ति का भी प्रयोग किया गया है, लेकिन कुछ अंश में शेक्सपियर के 'मैकबेथ' नाटक की छाप इस पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र के द्वारा लिखा हुआ 'वीरमणि' भी एक सुन्दर उपन्यास है, जिसमें अलाउद्दीन ख़िलजी के प्रसिद्ध चित्तौर के आक्रमण को पृष्ठभूमि में रखते हुए कथावस्तु की रचना बड़ी ही कुशलता के साथ की गई है। पद्मिनी को प्राप्त करने के उद्देश्य से अलाउद्दीन चित्तौर पर चढ़ाई करता है, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, लेकिन मिश्रबंधुओं ने उसमें एक काल्पनिक प्रसंग का भी सुन्दर समावेश किया है। साथ ही हिन्दू धर्म के आदर्शों और धार्मिक भावनाओं की भी भव्य व्यंजना हुई है। इसी प्रकार गोविंदवल्लभ पंत के 'सूर्यास्त' में इतिहास के साथ कला का सुन्दर सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि बंगला-साहित्य के ऐतिहासिक उपन्यासों के समान इस युग में हमें एक भी उपन्यास देखने को नहीं मिलता। बाबू राखालदास वंद्योपाध्याय के 'करुणा' और 'शशांक' जैसे उपन्यासों की यदि हमें कोई सुन्दर झाँकी मिल जाती, तो हमारा चित्त कितना प्रसन्न होता!

चरित्र-प्रधान उपन्यास—

द्विवेदी-युग के चरित्र-प्रधान उपन्यासों में हमें सर्वप्रथम रूप उपदेश-उपन्यासों का दिखाई देता है। उपदेश-उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य समाज-सुधार था, इसलिए इन उपन्यासों को हम उद्देश्य-प्रधान सामाजिक उपन्यास भी कह सकते हैं। तत्कालीन कुरीतियों पर प्रकाश डालकर जनता को सही रास्ते पर लाना ही इनका लक्ष्य था। भारतवासी आर्य समाज तथा पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति में बहे जा रहे थे, उन्हें किनारे लगाना ही इन लेखकों ने अपना कर्त्तव्य समझा। पुरुषों के साथ-साथ ये लेखक स्त्रियों को भी उपदेश देते थे। द्विवेदी-युग में यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़ गई। ध्यान में रखने की बात यह है कि उद्देश्य-प्रधान होने के कारण इन उपन्यासों में साहित्यिकता का अभाव है। साहित्य में जब कोई रचना का प्रयोग कर अपना मतलब सिद्ध किया जाता है, तो उसमें कला का गला घोंट दिया जाता है। ये उपन्यास अत्यंत ही साधारण कोटि के हैं, जिनमें वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण की केवल सूक्ष्म झाँकी देखने को मिलती है। उपन्यास में गंभीर परिस्थितियों और नाटकीय तत्त्वों का होना नितान्त आवश्यक है, लेकिन इन उपन्यासों में इनका सर्वथा अभाव है। लेखकों ने अपने उपदेशों और संदेशों में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी है। चूँकि ऐसे उपन्यास बहुत साधारण होते हैं और उन्हें हर कोई लिख सकता है, इसलिए इनकी संख्या भी बहुत है। द्विवेदी-युग में इस प्रकार के उपन्यास ये हैं—मुरलीधर शर्मा का 'सत्कुलाचरण' (१६००), अमृतलाल चक्रवर्ती का 'सती सुखदेवी' (१६०२), शारदा प्रसाद शर्मा का 'प्रेम-पथ' (१६०३), लज्जाराम शर्मा के 'आदर्श-दंपति' (१६०४), 'बिगड़े का सुधार' (१६०७) तथा 'आदर्श हिंदू' (१६१५); राम चीज़-सिंह का 'कुलवन्ती' (१६०४), कमलाप्रसाद का 'कुलकलंकिनी' (१६०५), लोचनप्रसाद पाण्डेय का 'दो मित्र' (१६०६), गोकुल-प्रसाद का 'पवित्र जीवन' (१६०७), अयोध्यासिंह उपाध्याय का

'अधखिला फूल' (१९०७), बलदेव-प्रसाद मिश्र का 'कलियुगी संसार' (१९०७), लालजीदास का 'धोखे की टट्टी' (१९०७), गयाचरण त्रिपाठी का 'सती' (१९०७), लोलाराम शर्मा का 'सुशीला विधवा' (१९०६) और महादेव प्रसाद मिश्र का 'झाडलाल की करतूत' (१९०८)। इन उपन्यासों में कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। साहित्यिकता की दृष्टि से महादेवप्रसाद मिश्र के 'झाडलाल की करतूत' का कुछ महत्त्व अवश्य है। इसमें चरित्र अथवा समाज-सुधार को ध्यान में रखते हुए कुछ हास्य और व्यंग्य-प्रधान चित्रों की सृष्टि की गई है। समाज-सुधार की यह भावना सन् १९१८ ई० तक बिना किसी रुकावट के चलती रही। अस्तु, ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'स्वर्णमयी' (१९१०), रामनरेश त्रिपाठी ने 'मारवाड़ी और पिशाचिनी' (१९१२), ओंकारनाथ ने 'शांता तथा लक्ष्मी' (१९१२), शिवनाथ शर्मा ने 'मिस्टर व्यास की कथा' (१९१३), जगतचंद रमोला ने 'सत्यप्रेम' (१९१३), योगेंद्रनाथ ने 'मानवती' (१९१४); हरस्वरूप पाठक ने 'भारत माता' (१९१५), ब्रजनंदनसहाय ने 'आरण्यबाला' (१९१५), चाँदकरण सारड़ा ने 'कॉलेज-होस्टल' (१९१६), श्रीकृष्ण मिश्र ने 'प्रेम' (१९१७) और राधिकाप्रसादसिंह अखौरी ने 'मोहिनी' (१९१८); नामक उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों के सम्बन्ध में भी कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं, वही पुराना राग अलापा गया है। हाँ, शिवनाथ शर्मा के 'मिस्टर व्यास की कथा' में एक बार पुनः हास्य-व्यंग्य का पुट देखने को मिलता है। इन उपदेशात्मक उपन्यासों के अन्तर्गत स्त्रियों के जीवन-सुधार के उद्देश्य से जो उपन्यास लिखे गये, उनकी कथा-वस्तु पुराणों से ली जाती थी। इन उपन्यासों को हम पौराणिक उपन्यास भी कह सकते हैं। इस प्रकार के उपन्यास जनता बड़े चाव और आदर के साथ पढ़ती थी। इससे धर्म के प्रति उनकी अटल श्रद्धा और विश्वास बना रहता था। शेष उपदेश-प्रधान उपन्यासों में उपदेश की मात्रा इतनी अधिक है कि चरित्रों अथवा समाज का जो चित्र हमारे सामने

आता है, वह प्रायः विकृत और अस्वाभाविक-सा जान पड़ता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों तक इस प्रकार के उपन्यासों की प्रधानता रही। अस्तु, दुर्गाप्रसाद खत्री ने 'बलिदान' (१६१८), नित्यानंद देव ने 'भाई-भाई' (१६२४), रामनरेश त्रिपाठी ने 'लक्ष्मी' (१६२४); नवजादिकलाल श्रीवास्तव ने 'शांति-निकेतन' (१६२४) और श्रीनाथसिंह ने 'क्षमा' (१६२५ ई०) नामक उपन्यासों की सृष्टि की। लेकिन प्रेमचन्द के पूर्व और बाद के इन उपदेश-प्रधान उपन्यासों में (सन् १६१८ ई० से पूर्व और बाद के) एक अन्तर दिखाई देता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों से प्रभावित होकर इन बाद के उपन्यास-लेखकों ने सामाजिक जीवन की समस्याएँ समाज की वास्तविक परि-स्थितियों के बीच रखकर चित्रित करना आरम्भ किया। इतना ही नहीं, अब साधारण समस्याओं से ध्यान हटकर लेखकों की दृष्टि गम्भीर समस्याओं और गूढ़ रहस्यों की ओर जाने लगी। इस दृष्टि से 'सेवासदन' के बाद के ये उपन्यास कुछ महत्त्वपूर्ण हैं।

द्वितीय रूप घरेलू उपन्यासों का है, जिनमें कथा-वस्तु का ध्यान अपेक्षाकृत अधिक रक्खा जाता था। शेष तत्त्वों की सर्वथा अवहेलना कर दी जाती थी। इसीलिए इस प्रकार के उपन्यासों में प्रभावशाली चरित्रों का चित्रण नहीं हो सका है। पात्र साधारण हैं, वे हमारे साथ-साथ नहीं चलते। जहाँ उन्हें दुःख होता है, वहाँ हमें सुख और जहाँ हमें दुःख होता है, वहाँ उन्हें सुख इस प्रकार का चरित्र-चित्रण कदापि सफल नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि इनमें गार्हस्थ्य जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है और उसमें प्रधानतः पारस्परिक झगड़ों का अधिक चित्रण किया गया है। प्रथम तो, इन सब झगड़ों का वर्णन इतना पुरानापन लिये हुए है कि पाठकों की उत्सुकता जागृत ही नहीं होती; द्वितीय, जहाँ कहीं वर्तमान समस्याओं से उत्पन्न झगड़ों का चित्रण किया गया है, उसका स्वरूप नितान्त भद्दा और विकृत है। लेकिन

इतना होते हुए भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस प्रकार के उपन्यासों में हमारे जीवन का यथा-तथ्य चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया गया है, इसलिए उपदेश-उपन्यासों की अपेक्षा ये उपन्यास वास्तविकता के अधिक समीप पहुँच गये हैं। कला के अभाव में भी वे पाठकों को प्यारे हैं। इस प्रकार के उपन्यास ये हैं—गोपालराम गहमरी के 'डबल बीबी' (१९०९), 'देवरानी-जेठानी' (१९०२), 'दो बहन' (१९०३), तीन-पतोहू' (१९०५); 'अर्थ का अनर्थ' (१९१३), तथा 'प्रेमभूल' (१९१४); विट्ठलदास नागर का 'किस्मत का खेल' (१९०५), हज़ारीलाल का 'तीन बहिन' (१९०५), किशोरीलाल गोस्वामी का 'पुनर्जन्म' (१९०७); रामचीज़सिंह का 'वन-विहंगिनी' (१९०९), जमुनाप्रसाद का 'दुर्भाग्य-परिवर्तन' (१९१२), राधिकारमण प्रसादसिंह का 'तरंग' (१९२१); इस प्रकार हम देखेंगे कि घरेलू उपन्यास द्विवेदी-युग में आदि से लेकर अन्त तक लिखे जाते रहे, लेकिन जो उत्कर्ष आरम्भ में दृष्टिगत होता है, वह अन्त में आकर कुछ-कुछ शिथिल अवश्य पड़ जाता है।

तृतीय रूप उन उपन्यासों का है, जिनमें हमें चरित्र-चित्रण की एक सूक्ष्म झाँकी के दर्शन होते हैं, इसके अन्यत्र और कुछ नहीं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों का यह एक प्रकार से प्रयोगात्मक युग कहा जा सकता है। चरित्र अत्यंत ही निम्नकोटि के हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में ब्रजनंदनसहाय का 'अद्भुत प्रायश्चित' (१९०६); नवलराय का 'प्रेम' (१९०७), और सकलनारायण पाण्डेय का 'अपराजिता' (१९०७); नामक उपन्यासों के नाम लिये जा सकते हैं। यद्यपि ये उपन्यास संख्या में बहुत ही कम हैं, लेकिन इनके द्वारा आगे के लेखकों को प्रेरणा मिली और उपन्यासों में चरित्र-चित्रण के लिए इन्होंने अच्छी भूमि तैयार कर दी। इन सभी उपन्यासों में प्रेम की प्रधानता है, लेकिन वह प्रेम वासनामय नहीं, जीवन की साधना के रूप में है, इसलिए मानव-जीवन के लिए उपयोगी है। आगे

चलकर इस प्रकार के उपन्यासों का विकास होने लगा। पीड़ितों और अत्याचारियों के चित्र उपन्यासों में खींचे जाने लगे। कहीं-कहीं तो लेखकों के रेखा-चित्र बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। इस दृष्टि से ब्रजनंदनसहाय का 'राधाकांत' (१६१२), मन्नन द्विवेदी के 'रामलाल' (१६१७) तथा 'कल्याणी' (१६२१); अवधनारायण का 'विमाता' (१६२३) तथा शिवपूजनसहाय का 'देहाती दुनिया' (१६२६) नामक उपन्यास विशेष स्थान रखते हैं। इन लेखकों के पात्रों में यद्यपि व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाया है, तदपि रेखा-चित्र सफल हुए हैं। अस्तु, 'राधाकांत' में चरित्र की उस विशेषता का विकास किया गया है, जिसे लगन कहते हैं। 'मन्नन द्विवेदी ने 'रामलाल' में संयुक्त प्रांत के पूर्वी ज़िलों के ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है। 'विमाता' में सौतेली माँ के चरित्र का सुन्दर विकास किया गया है। इसी प्रकार 'देहाती दुनिया' में देहातों की समस्याओं और उनकी शोचनीय अवस्थाओं पर सुन्दर रेखा-चित्र खींचे गये हैं। इतना होने पर भी हम इन उपन्यासों को साहित्यिक दृष्टि से शुद्ध चरित्र-प्रधान उपन्यास नहीं कह सकते, क्योंकि इनमें किसी न किसी चीज़ का अभाव खटकता ही रहता है। हाँ, इस दिशा में लेखकों का प्रयत्न और प्रयोग प्रशंसनीय अवश्य है।

कला-पूर्ण चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखने में प्रेमचंद जी का स्थान बहुत ऊँचा है। हिंदी-उपन्यास-क्षेत्र में आने के पूर्व प्रेमचंद जी 'नवाबराय' के नाम से सन् १६०४ ई० में 'हमखुर्मा व हम सवाब, (प्रेमा) और सन् १६१२ ई० में 'जलवये ईसार' (वरदान) नामक उपन्यास उर्दू में लिख चुके थे, हिंदी-क्षेत्र में आने के बाद इनके अनुवाद हुए थे। हिन्दी में प्रेमचंद ने 'सेवासदन' (सन् १६१८ ई०); 'प्रेमाश्रम' (सन् १६२१ ई०), 'रंगभूमि' (सन् १६२२ ई०)

और 'कायाकल्प' (सन् १६२४ ई०) नामक उपन्यास लिखे। ये चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं, जिनमें लेखक ने शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण नायकों की कल्पना कर उपन्यासों को श्रेष्ठ रूप दिया है। प्रेमचंद के पूर्व उपन्यास-साहित्य केवल नाम-मात्र का है। यदि है भी तो वह विलास-प्रधान है। अधिक लेखकों का ध्यान केवल मनोरंजन देना ही रहा, साहित्यिकता प्रदान करना नहीं। भाषा, भाव आदि की दृष्टि से प्रेमचन्द प्रथम मौलिक उपन्यासकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। चरित्र-चित्रण का पूर्ण विकास सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही किया, यह निर्विवाद सत्य है। उन्होंने पात्रों की बाह्य एवं आभ्यंतरिक विशेषताओं की ओर ध्यान देकर उनकी व्यक्तिगत रुचि, भावना तथा दुर्बलताओं का चित्र हमारे सामने रक्खा। प्रेमचंद के इन उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण भी ख़ूब देखने को मिलता है। वस्तु-विविधता की दृष्टि से ये उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं। 'सेवा-सदन' में समाज में प्रचलित रूढ़ियों के मार्मिक चित्र खींचे गये हैं। 'प्रेमाश्रम' में गरीब कृषकों और अमीर ज़मींदारों के मध्य उत्पन्न होने वाली उलझनों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। 'रंगभूमि' में राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। 'कायाकल्प' चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक अद्वितीय उपन्यास है। यह बात अवश्य है कि कथा-वस्तु में आध्यात्मिकता का पुट होने के कारण बड़ी कष्ट कल्पना की आवश्यकता पड़ी है। यदि इस समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इन उपन्यासों की समीक्षा की जाय तो हम देखेंगे की प्रेमचंद ने हिंदी-उपन्यासों को चरम विकास पर पहुँचा दिया। प्रेमचंद की सबसे बड़ी विजय उनकी भाषा है। उनके वर्णन की, मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण तथा परिस्थिति-चित्रण की, कथोपकथन की, प्रकृतिवर्णन की, मन के तत्त्व-प्रधान वर्णन की चाहे किसी भी भाषा को देखिए, उसमें भाव और शैली का सुन्दर समन्वय किया

गया है। भाषा का एक चलता हुआ रूप उनके उपन्यासों में पाया जाता है, जो कथा-साहित्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। अनुभूति की सच्चाई होने के कारण भाषा सरल, स्वच्छ, सबल है और शैली कवित्व-पूर्ण। सुन्दर-सुन्दर मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा अमर सारगर्भित वाक्य प्रेमचन्द की ही देन हैं। संक्षेप में, उनके द्वारा उपन्यासों का जो साहित्यिक विकास हुआ, उसका अनुमान लगाना कठिन है।

उपर्युक्त उपन्यासों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द तक आते-आते (सन् १९१८ ई० तक) हिन्दी-उपन्यासों की विचार-धाराएँ मंद पड़ जाती हैं। प्रेमचन्द इन-इन विचार-धाराओं के एक केंद्र-बिन्दु हैं, जिन्होंने वस्तु का संगठन किया। 'सेवासदन' के बाद उनसे प्रभावित होकर (सन् १९१८-२५ ई० तक) अन्य कई प्रतिभासम्पन्न लेखकों ने उत्कृष्ट कोटि के उपन्यास लिखे। ऐसे लेखकों में चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', इलाचन्द्र जोशी, चन्द्रशेखर पाठक, वृंदावनलाल वर्मा, जयशंकरप्रसाद, ब्रजनंदनसहाय और चंडीप्रसाद 'हृदयेश' के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं। इनको इस स्थल पर पृथक् रूप से उल्लेख करने की चेष्टा इसलिए की गई है कि वस्तु, पात्र, शैली आदि की दृष्टि से ये विशेष महत्त्व रखते हैं। आगे चलकर प्रसाद-युग में इन्हीं लेखकों के द्वारा गद्य की चरम उन्नति हुई है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में प्रेमचंद का अनुशीलन करने वाले ब्रजनंदन-सहाय, अवधनारायण और जगदीश झा 'विमल' थे, जिनके उपन्यासों का उल्लेख हो चुका है। प्रेमचंद की भाँति इनके उपन्यासों का कथानक भी सामयिक होता था, लेकिन इनमें कोई शक्तिशाली पात्र देखने को नहीं मिलता। इसी प्रकार प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'विदा', यदुनंदनप्रसाद ने 'अपराधी', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'माँ' और शिवनारायण द्विवेदी ने 'छाया' नामक उपन्यास लिखे। इनकी कथा-वस्तु भी सामयिक है और चरित्र-चित्रण पर अधिक ज़ोर दिया गया है। यथा 'माँ' में मनुष्य का भावी जीवन किस प्रकार

माँ की योग्यता पर निर्भर होता है, इसका इसमें सुंदर चित्रण किया गया है। साथ ही 'सुलोचना' और 'सावित्री' के चरित्रों की तुलना कर लेखक ने प्रेमचंद की तरह आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद की भावना का परिचय दिया है। यह सब प्रेमचंद की प्रेरणा के फलस्वरूप हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं।

चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की परख' और 'व्यभिचार', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'दिल्ली का दलाल', चन्द्रशेखर पाठक ने 'वारांगना-रहस्य' तथा इलाचन्द्र जोशी ने 'घृणामयी' नामक उपन्यासों की सृष्टि कर चरित्र-प्रधान उपन्यासों में विशेष ख्याति प्राप्त की। वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये उपन्यास उच्चकोटि के हैं और प्रेमचन्द तथा उनके वर्ग के लेखकों से भी अधिक सफल बन पड़े हैं, लेकिन इनका कथानक घृणित और दूषित वर्ग से लिया गया है। इसलिए इनमें साहित्यिक सौंदर्य और गुणों का सर्वथा अभाव है। लेखकों की दृष्टि जीवन के यथार्थ सत्य की ओर अधिक लगी हुई है, इसलिए उसमें कुछ ऐसे चित्र आ गये हैं, जिनसे समाज घृणा करता है। यह अँग्रेज़ी उपन्यासों का प्रभाव था, अँग्रेज़ी उपन्यासों में इस प्रकार की भावना फ्रांस से आई थी। शास्त्री और उग्र के उपन्यासों में विधवाओं की दुर्दशा का जो चित्र खींचा गया है उसमें अस्वाभाविकता और अश्लीलता अधिक है, जिनसे पाठकों की सुरुचि जाग्रत नहीं होती। इसी प्रकार 'घृणामयी' घृणा करने योग्य सिद्ध हुआ, उससे लेखक को अधिक सफलता नहीं मिल सकी। पाठक ने अपने उपन्यास में वेश्याओं का जो चित्र खींचा है, वह भी सर्वसाधारण के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। अभिप्राय यह कि कला की दृष्टि से इनका महत्त्व अधिक है, साधारण जनता की रुचि की दृष्टि से इनका कोई महत्त्व नहीं है। इस प्रकार के उपन्यासों को प्राकृतवादी उपन्यास कह सकते हैं।

प्रेमचंद के समकालीन जयशंकरप्रसाद ने 'कंकाल', ब्रजनंदनसहाय

ने 'सौंदर्योपासक' और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मनोरमा' नामक उपन्यास लिखकर भाव-प्रधान उपन्यासों की सृष्टि की। इन उपन्यासों में कथा-वस्तु का सरल ढंग से निर्वाह किया गया है। उनमें न तो उलझने हैं, न गंभीर परिस्थितियाँ और न कोई विकास। लेखकों का ध्यान एक-मात्र कवित्त्वपूर्ण शैली में अपने हृदय की भावनाओं को चित्रित करने की ओर लगा हुआ है। 'कंकाल' में 'दिल्ली का दलाल' की भाँति मर्यादा का उल्लंघन नहीं पाया जाता। उसमें वासनामय कुत्सित चित्रों का नग्न प्रदर्शन नहीं है। उसमें कवित्त्वपूर्ण शैली के द्वारा दलितों और दुखियों के विभिन्न अंगों को चित्रित कर अभिमानी वर्ग को चेतावनी दी गई है। प्रसाद ने अपने नाटकों की तरह इसमें आशावादी संदेश दिया है। दोष केवल इतना ही है कि उसमें जीवन के एक पक्ष का ही चित्रण किया गया है। इसी प्रकार 'सौंदर्योपासक' केवल एक मनुष्य की अनुभूतियों की व्यंजना करता है। एक व्यक्ति के हृदय में सौंदर्य-प्रेम की लालसाएँ उठती रहती हैं और वह उनसे सुख की साँस नहीं ले पाता, सदैव उसका हृदय छटपटाता रहता है। केवल इसी भाव पर सारा उपन्यास खड़ा है। भाव-प्रधान होने के कारण इसमें भी घटनाओं और चरित्रों का सम्यक् योग नहीं दिखाई देता। 'मनोरमा' की शैली भी कवित्त्वपूर्ण है, उसमें चरित्र-चित्रण भावुक हृदय की निशानी है। साथ में और पात्रों को लेकर मनोरमा के चरित्र पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। वह अनेक प्रलोभन मिलने पर भी अपने स्थान पर दृढ़ है। इस पक्ष को लेकर लेखक ने वस्तु का विकास किया है।

अन्त में, वृंदावनलाल वर्मा के 'गढ़-कुंडार' का उल्लेख किये बिना हम नहीं रह सकते। वर्मा जी का 'गढ़-कुंडार' एक उत्कृष्ट कोटि का ऐतिहासिक उपन्यास है। अब तक के ऐतिहासिक उपन्यासों में इसका स्थान सबसे ऊँचा है। वैसे तो उन्होंने 'सेनापति उदाल', 'लगन', 'कोतवाल की करामात', 'प्रेम की भेंट' आदि उपन्यास लिखे

हैं, परन्तु 'गढ़-कुंडार' ही उनको अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। इसमें मध्यकालीन बुंदेलखंड की संस्कृति, उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति और वातावरण का बहुत ही सुंदर चित्र खींचा गया है। वातावरण, घटनाएँ और प्रधान पात्र इतिहास-सम्मत हैं। कुछ घटनाएँ कल्पित हैं। वर्माजी एक भावुक और सहृदय लेखक हैं, उनमें उच्चकोटि की कल्पना-विधान की शक्ति है। यही कारण है कि वे कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानकर एक हृदयग्राही चित्र उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। वर्माजी के इस सफल ऐतिहासिक उपन्यास पर हम सबको गर्व है।

द्विवेदी-युग के इन विविध उपन्यासों को देखकर हमें प्रसन्नता होती है, लेकिन कुछ दोष ऐसे हैं, जो हमें खटकते रहते हैं। प्रेमचन्द तक के उपन्यासों में हमें परम्परागत प्रेम का अत्यधिक वर्णन देखने को मिलता है। लेखकों ने अनावश्यक प्रसंगों का अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया है, और महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर, जिन पर विस्तार के साथ लिखना आवश्यक था, बहुत ही कम लिखा है। किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी आदि में यह बात अधिक देखने को मिलती है। अधिकांश में प्रेम-प्रसंगों पर ही यह बात घटित होती है। कहीं-कहीं अपनी विद्वत्ता का उद्घाटन करने की इच्छा में काल, पात्र और स्थान का बिल्कुल ध्यान नहीं रक्खा गया है। पात्रों के मुँह से जो वार्ता सुनने को प्राप्त होती है, वह भाषण का रूप ही नहीं लेती, वरन् समय और स्थल के बिल्कुल विपरीत है। ऐसा होना उचित नहीं। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि वह अब काफ़ी परिमार्जित और परिष्कृत हो चुकी थी, लेकिन उपन्यासों में रूपकों की अवतारणा करना उचित नहीं। आख़िर उपन्यास उपन्यास है, कविता कविता। चाँदकरण के 'कॉलेज होस्टल' में रूपक अखरते हैं। कहीं-कहीं अस्वाभाविक और अयथार्थ बातों से भी उपन्यासों का स्वरूप विकृत हो गया है। स्वयं प्रेमचंद ने भी

ऐसी त्रुटिएँ की हैं। यथा, 'प्रेमाश्रम' में सुक्खू चौधरी के रुपयों का ठीकरी हो जाना, राय कमलानन्द का विष हज़म कर जाना, तेजू और पद्म का तन्त्र-ग्रन्थ पढ़कर अमर हो जाने की लालसा आदि। यदि इन दोषों का निराकरण हो गया होता तो कितना उत्तम होता ?

कहानी—

'नदी जैसे जल-स्रोत की धारा है, मनुष्य वैसे ही कहानी का प्रवाह'। कहानियों की उत्पत्ति सर्वप्रथम कहाँ और किस रूप में हुई, इस बात का निर्णय करना कठिन है। कुछ विद्वानों का मत है कि मिस्र देश में कहानी रूपी लता सर्वप्रथम लहलहाई। आधुनिक कहानियों की सादृश्यता अनेकांश में वहाँ की प्रसिद्ध कहानी 'अनपू और बाटा' में देखी जा सकती है, जो वहाँ के पंचम राजवंश के समय में लिखी गई थी। कुछ विद्वान् इसे तमसा के किनारे उर्वर भूमि की उपज मानते हैं। कुछ भी हो, यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि संसार के प्रायः सभी देशों में और सब कालों में कहानी के तत्त्व विद्यमान थे। कहानी की उत्पत्ति मानव-सृष्टि में उसकी भाषण-शक्ति से आरम्भ होती है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य अन्य प्राणी से जीवन-जगत् के अनुभवों को अवकाश के क्षणों में सुनाने के लिए एक स्वाभाविक अभिरुचि रखता था। मनुष्य का यह आत्मानुभव कहानी की उत्पत्ति का मूल कारण हुआ और श्रोताओं का मनोरंजन इसका प्रधान उद्देश्य। लेखन-कला के अभाव में यह साहित्य सर्वप्रथम पद्य में ही लिखा जाता रहा, लेकिन कालान्तर में लेखन-कला के आविष्कार होते ही पद्य के साथ व्यावहारिक कार्यों के लिए गद्य का आविर्भाव होने लगा। कल्पना का प्रयोग कर मनुष्य ने अपने आत्मानुभवों को लिपिबद्ध किया, जो सभ्यता और संस्कृति के साथ विकसित होते गये। कहानी का यह विकसित रूप हमें प्रत्येक साहित्य में देखने को मिलता है, जिसका आदिम

स्वरूप मौखिक था। बूढ़े दादा और नानियाँ घर में बच्चों के मन-बहलाव के लिए कहानियाँ सुनाती थीं। कहानियों को सुनते-सुनते ही श्रांत बटोही लम्बी रातें और कठिन मार्ग सहज ही में काट देते थे। संक्षेप में, कहानियाँ बालक, युवा और वृद्ध सबके हृदय में समान रूप से रस-संचार करती हुई उनका मनोरंजन करती थीं। इस प्रकार यदि क्रम-विकास के अनन्त काल पर दृष्टि डाली जाय तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कहानी की उत्पत्ति अनन्त काल से हुई है, लेकिन यह भारतवर्ष का ही सौभाग्य था कि लिपिबद्ध होकर साहित्यिक रूप में कहानी का निर्माण सर्वप्रथम उसके द्वारा हुआ।

हिंदी के विद्वानों की सम्मति है कि आधुनिक कला-पूर्ण कहानियों का इतिहास उसके विगत ३०—३५ वर्षों का ही इतिहास है। ऐसा कहना न्यायसंगत नहीं जान पड़ता। हाँ, यह बात अवश्य है कि आज कहानी ने अपने निश्चित लक्ष्य और प्रभाव के द्वारा अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली है, परन्तु प्राचीन कथा-साहित्य इतना उपेक्षणीय नहीं, जितना कि हम समझ बैठे हैं—उसमें कहानी के 'कीटाणु' अवश्य देखने को मिलते हैं। वैदिक काल को ही लीजिए, उसमें अनेक प्रकार की दंत-कथाएँ प्रचलित थीं और लेखन-कला के अभाव में इन्हीं दन्त-कथाओं के सहारे जनता को उपदेश दिया जाता था। फिर लिपिबद्ध होकर कहानी अपना साहित्यिक रूप लेकर हमारे सामने आई। ऋग्वेद की स्तुतियों में आज की कहानी के अंकुर पाये जाते हैं। वे ही पुराणों में उर्वशी और पुरुरुवा आदि आख्यानकों के रूप में पाये जाते हैं। ऋग्वेद में मानव स्वभाव की विशेषताओं और उनके गुण अमानव स्वभाव में प्रकट किये गये हैं। मानव और अमानव के पारस्परिक सम्बन्ध की झाँकी उपनिषदों और विशेषतः छांदोग्य में देखने को मिलती है। शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषद् और तैत्तरीयोपनिषद् में महर्षियों के विचार-विमर्श के समय अनेक आख्यानकों का प्रसंग आता है, जिनमें कहानी के बीज डाले गये हैं।

महाभारत में कौरव-पाण्डव की कथा मुख्य है। पंचतंत्र की कथाओं में शेर, चूहे, हरिण, भेड़िये आदि की कथाओं को लेकर कौरव-पाण्डव-कथा की सादृश्यता दिखाई गई है। बाद में जातक-कथाओं में आकर कहानी का रूप विकसित होने लगता है। इनमें पशु-पक्षियों को कहानी के पात्रों की तरह लाकर कथाओं में रोचकता और चमत्कार लाने का प्रयत्न किया गया है। बौद्ध-भिक्षुओं ने इन जातक-कथाओं का प्रचार धर्म के उद्देश्य से सुदूर देशों में भी किया। ईसप की कहानियों (Aesop's Fables), फ़ारस और अरब के ओडासियस और सिन्दबाद सेलर (sindbad the sailor) आदि विदेशी कहानियों के जातक-कथाओं से मिलने-जुलने का यही कारण है। कहानी-साहित्य में जातक-कथाओं का विशेष महत्त्व है। यद्यपि इन विभिन्न कथाओं में आज की कहानियों-सी विशेषता नहीं है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से ये उल्लेखनीय हैं। इनका प्रधान उद्देश्य मनोरंजन न होकर नीति, उपदेश और धर्म सम्बंधी शिक्षा अथवा आलोचना था।

आगे चलकर, जैसा कि हम संस्कृत-कथा-साहित्य में देख चुके हैं, गुणाढ्य की बृहत्कथा, सुबन्धु की वासवदत्ता, दण्डी के दशकुमार तथा बाण की कादम्बरी और हर्षचरित का उल्लेख आता है। इनमें भाषा का आडम्बर, अद्भुत शब्द-जाल, विस्तृत वर्णन और अवान्तर कथाओं की भरमार है, लेकिन चरित्र-चित्रण और कथोपकथन का रूप इनमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। आख्यायिकाएँ प्रथम पुरुष में लिखी गई हैं और उनमें जीवन की नाना स्थितियों का वर्णनात्मक ढंग से प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार ये आख्यायिकाएँ आगे के लिए कहानी को पृथक् सत्ता प्रदान करने में बड़ी लाभदायक सिद्ध हुईं।

मध्य-काल में मुसलमान-राज्य की स्थापना हो जाने के पश्चात् कथा-साहित्य की गति मंद पड़ गई, इसका प्रमुख कारण साहित्य में मुक्तक गीतों की प्रधानता थी। जो लोग कथा-साहित्य से प्रेम रखते थे, वे पुराने किस्से-कहानियों से ही अपनी जिज्ञासा-वृत्ति को शांत कर

लेते थे। अकबर के राज्य-काल में प्रेम-मार्गी सूफ़ी कवियों के प्रेमाख्यानों और बीरबल की विनोदपूर्ण कथाओं की लहर अवश्य आई, लेकिन उनके द्वारा कहानियों के कला-रूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भारतीय साहित्य में गोकुलनाथजी ने 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' लिखी, जिसमें उन्होंने वैष्णव धर्म की महत्ता गाई है। इसके पश्चात् जटमल रचित 'गोराबादल की कथा' देखने को मिलती है। आगे चलकर लल्लूलाल ने 'प्रेम-सागर', सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' और इंशाअल्लाखाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखकर कथा-साहित्य के भण्डार को भरना आरंभ किया। लल्लूलाल और सदलमिश्र की कथाएँ ऐतिहासिक और धार्मिक हैं। कहानी की कुछ पूर्ति 'रानी केतकी की कहानी' से अवश्य होती है। उसकी शैली कहानी के उपयुक्त है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने 'राजा भोज का सपना' लिखकर अपनी धार्मिक अभिरुचि का परिचय दिया, कहानी के विकास का नहीं। भारतेंदु के 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' ने लेखकों का ध्यान हास्य-रस-प्रधान कहानियों की ओर अवश्य आकर्षित किया। उपन्यास और कहानी दोनों ही एक वृक्ष की दो शाखाएँ हैं—एक बड़ी, दूसरी छोटी, इसलिए उपन्यासों के विकास में भी इन सब का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। इन सबमें 'रानी केतकी की कहानी' (१८०२ ई०) हिंदी की प्रथम कहानी कही जा सकती है, लेकिन आज की सीमा और निश्चित मर्यादा की दृष्टि से बहुत से विद्वान् इस कथन से सहमत नहीं हैं। मध्य-काल का यह कथा-साहित्य प्रेम-प्रधान है। इन कहानियों के परिणाम-स्वरूप आगे चलकर वासनाजनित अश्लील प्रेम को लेकर कहानियाँ लिखी जाने लगीं, जैसे छबीली भटियारिन, तोता-मैना, गुलबकावली आदि। साथ ही मध्य-कालीन कथा-साहित्य में अस्वाभाविक प्रसंगों की भरमार है। आगे चलकर इनसे दो लाभ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम—हास्य और विनोद की अवतारणा तथा द्वितीय—परिष्कृत भाषा और रोचक शैली। ये दोनों लाभ 'रानी

केतकी की कहानी' से हुए, यह हमें नहीं भूलना चाहिए।

अस्तु, आधुनिक ढंग की कहानियों का आरम्भ, जिसमें कल्पना-शक्ति के सहारे कम से कम पात्रों और घटनाओं की सहायता से कथानक, चरित्र, वातावरण, प्रभाव आदि की सृष्टि की गई, हिंदी के मासिक और साप्ताहिक पत्रों के द्वारा द्विवेदी-युग में ही हो सका। यथार्थ में आज की कहानी प्राचीन आख्यायिकाओं का एक विकसित कलात्मक रूप ही समझना चाहिए। सन् १६०० ई० में 'सरस्वती' रूपी वीणा के बजने पर ही कहानीरूपी झंकार सुनाई दी। मौलिक कहानियों के इस आदि-काल में सर्वप्रथम अनुवाद की ही धूम रही। सन् १६००-१० ई० तक एक प्रकार से प्रयोगात्मक युग ही रहा, जिसमें लेखक अपना-अपना मार्ग ढूँढने में लगे हुए थे। विश्वविख्यात नाटककार शेक्सपियर के नाटक 'सिम्बलीन' (Cymbeline), 'ऐथेन्सवासी टाइमन' (Timon of Athens), 'पेरिक्लीज़' (Pericles), 'कौतुकमय मिलन' (Comedy of errors) आदि के अनुवाद सन् १६०० ई० से 'सरस्वती' में कहानी-रूप में होने लगे। साथ ही संस्कृत के नाटकों का भी कहानी-रूप में अनुवाद हुआ, जिनमें 'रत्नावली', 'मालविकाग्निमित्र', 'कादम्बरी' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी वर्ष किशोरीलाल गोस्वामी की हिंदी की सर्वप्रथम कहानी 'इन्दुमती' सरस्वती में प्रकाशित हुई, लेकिन इस पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' (The Tempest) की छाप होने के कारण हम उसे मौलिक नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें केवल भारतीय वातावरण ही देखने को मिलता है। गोस्वामी जी के बाद जम्बु की 'न्याय' (१६०६), विद्यानाथ शर्मा की 'विद्या-बहार' (१६०६) और मैथिलीशरणगुप्त की 'निन्नानवे के फेर' (१६१०) आदि कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं, लेकिन इन समस्त कहानियों में उपदेश की मात्रा अधिक है और प्राचीन हितोपदेश तथा ईसप की कहानियों का अनुकरण किया गया है। उधर 'सुदर्शन' पत्र में भी

इन दस वर्षों के भीतर कोई विशेष कार्य नहीं हुआ, इसी प्रकार की कहानियाँ निकलती रहीं। इसमें माधवमिश्र के द्वारा जो कहानियाँ लिखी गईं, वे प्राचीन आख्यायिकाओं की शैली की हैं। इस प्रकार ये समस्त लेखक अनुवादित, रूपांतरित और मौलिक कहानियों के द्वारा अपना-अपना पथ ढूंढने में लगे हुए थे। विदेशी कहानियों का रूपान्तर दूसरी ओर गिरिजाकुमार घोष (पार्वतीनन्दन), श्रीमती बंग महिला, स्वामी सत्यदेव, उदयनारायण वाजपेयी, विश्वम्भरनाथ जिज्जा आदि के द्वारा उपस्थित किया गया। वृंदावनलाल वर्मा ने 'राखीबंद भाई' (१६०६) तथा 'तातार और एक वीर राजपूत' (१६१०) और मैथिलीशरण गुप्त ने 'नक़ली क़िला' (१६०६) नामक कहानियाँ लिखीं, परन्तु उनमें कोई नवीनता नहीं, क्योंकि वे (प्रेमाख्यानक) अँग्रेज़ी कथाओं के आधार पर लिखी गई हैं। (सन् १६००–१० ई०) की उल्लेखनीय कहानी केवल बंग महिला की 'दुलाईवाली' (सरस्वती, १६०७) है, जिसे बहुत से लोग हिंदी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी मानते हैं। इसमें साधारण घटनाओं को लेकर एक यथार्थवादी चित्र उपस्थित किया गया है, जिससे कहानी में प्रभावोत्पादकता आ गई है। तदनन्तर हिंदी-साहित्याकाश में 'इन्दु' का उदय हुआ, जिसमें जयशंकरप्रसाद की प्रथम कहानी 'ग्राम' (१६११) और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की प्रथम कहानी 'पिकनिक' (हास्य-रस प्रधान) प्रकाशित हुई। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' (१६११) 'भारतमित्र' नामक पत्र में अलग प्रकाशित हुई। इस प्रकार 'दुलाई वाली' के बाद ये तीन लेखक अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सन् १६१२ ई० में प्रसाद की 'रसिया बालम' ने कल्पना-शक्ति के द्वारा प्राचीन प्रेमाख्यानक आख्यायिकाओं को लेकर एक आदर्शवादी चित्र उपस्थित करना आरम्भ किया। फिर तो मौलिक कहानियों का विकास बड़ी तेज़ी से होने लगा। कुछ दिनों तक दैव घटनाओं और संयोगों

के आधार पर कहानियाँ लिखी जाती रहीं, जैसे ज्वालादत्त शर्मा की 'विधवा' तथा 'तस्कर' और विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षा-बन्धन' आदि। लेकिन आगे चलकर सन् १९१६ ई० में प्रेमचन्द की प्रथम कहानी 'पंच-परमेश्वर' के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह धारा मंद पड़ गई। प्रेमचंद की 'आत्माराम' भी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से पूर्ण है। उसमें 'महादेव' की मानसिक अवस्थाओं का सुन्दर चित्रण किया गया है। हिंदी-कहानियों के इस आरम्भिक विकास में 'सुदर्शन' का भी बहुत बड़ा हाथ रहा, उन्होंने 'कमल की बेटी' की सृष्टि कर कलात्मक कहानियों की नींव डाली, जिनमें जीवन के किसी सत्य की व्यंजना पुराणों और रूपक-कथाओं को लेकर की जाती थी। 'संसार की सबसे बड़ी कहानी' भी इस दृष्टि से एक सफल रचना है। इस प्रकार हम देखेंगे कि द्विवेदी-युग के इन आरम्भिक वर्षों में तरह-तरह की कहानियाँ लिखी गईं। इस समय साहित्य और जीवन दोनों पर पाश्चात्य सभ्यता का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। यांत्रिक-युग में मनुष्यों के दैनिक-जीवन में कर्मव्यस्तता और जटिलता की जो अभिवृद्धि हुई, उसी के परिणामस्वरूप ऐसी कहानियों का सूत्रपात हुआ। मानव-जीवन मशीनों की तरह इधर-उधर द्रुत-गति से भागने लग गया था, इसलिए ऐसी कहानियों का लिखा जाना एक प्रकार से नितान्त आवश्यक हो गया, जिनके पढ़ने में कम से कम समय लगता था, मनोरंजन भी हो जाता था और साथ ही मस्तिष्क तथा हृदय को एक प्रकार की सान्त्वना भी मिल जाती थी। हिंदी-पाठकों की इस माँग को द्विवेदी-युग के इन लेखकों ने पूरा कर कहानी को पृथक् रूप दिया। यही नहीं विविध प्रकार की कहानियाँ भी लिखी जाने लगीं, उनके कला, रूप और शैली का भी आश्चर्यजनक विकास हुआ। द्विवेदी-युग की विभिन्न कहानियों को सुविधा के लिए हम आठ भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) चरित्र-प्रधान (२) वातावरण-प्रधान (३) कथानक-प्रधान (४) कार्य-प्रधान (५) हास्य-प्रधान (६) ऐति-

हासिक (७) प्राकृतवादी और (८) प्रतीक-वादी । इन्हीं के अनुसार इस प्रस्तुत साहित्य का अध्ययन किया जायगा ।

(१) चरित्र-प्रधान—

जिस कहानी में पात्र अथवा चरित्र की अन्य तत्त्वों, जैसे कार्य, घटना आदि से अधिक प्रधानता होती है, उसे चरित्र-प्रधान कहानी कहते हैं। प्रायः चरित्र-प्रधान कहानियों में लेखक का ध्यान एक-मात्र सुन्दर चरित्राङ्कन की ओर लगा रहता है । द्विवेदी-युग में इस प्रकार की अनेक कहानियाँ लिखी गईं, लेकिन ध्यान-पूर्वक देखने से विदित होगा कि उनके भी तीन उप-भेद और किये जा सकते हैं। प्रथम प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियाँ वे हैं, जिनमें लेखक किसी विशेष चरित्र को विविध घटनाओं और कार्यों के बीच छोड़कर उसके किसी प्रधान गुण की भव्य व्यंजना करता है। घटनाएँ और कार्य उसके सुन्दर चरित्र-निर्माण में सहायक होते हैं और इसी उद्देश्य से उनकी सृष्टि होती है। चतुरसेन शास्त्री और प्रेमचन्द ने इस प्रकार की कहानियाँ ख़ूब ही लिखीं। 'ख़ूनी' (१९२४) शास्त्री जी की सर्वश्रेष्ठ कहानी है, जिसमें एक ख़ूनी का सफल चरित्र-चित्रण हुआ है। इस प्रकार की कहानियों के सर्वश्रेष्ठ लेखक प्रेमचंद ही हैं। 'दफ़्तरी', 'बड़े घर की बेटी', 'बाँका गुमान', 'रानी सारंधा', 'मुक्तिमार्ग', 'अग्नि-समाधि' आदि कहानियों के द्वारा उन्होंने चरित्र-प्रधान कहानियों के इस पक्ष को सबल बना दिया। उनकी कहानियाँ दो-चार नहीं अनेक हैं, इसलिए उन सब की विशेषताओं का उल्लेख यहाँ पर करना हमारे वश की बात नहीं। उदाहरण के लिए 'दफ़्तरी' कहानी को देखिए, लेखक ने दफ़्तरी का कितना सुंदर चरित्र-चित्रण किया है। उसे पारिवारिक जीवन की आपदाओं के मध्य से निकालकर सच्चा योगी और महावीर बतलाया है। द्वितीय प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियाँ वे लिखी गईं, जिनमें पात्र के किसी अंग-विशेष का चरित्र बड़ी ही ख़ूबी के साथ किया गया है। यह विशेष पक्ष ही उसके जीवन

का आदर्श है और कहानी की सफलता केवल एक-मात्र इसी पक्ष की सुन्दर व्यंजना पर निर्भर है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'उसने कहा था', प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी' और जयशंकरप्रसाद की 'भिखारिन' इसके उदाहरण हैं। इन तीनों कहानियों में पात्रों के किसी अंगविशेष पर ही लेखकों की दृष्टि गई है। यथा 'उसने कहा था' में लहनासिंह के अपूर्व त्याग और बलिदान का सुन्दर चित्रण है, 'बूढ़ी काकी' में काकी की रसना-लिप्सा का एक बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है और 'भिखारिन' में केवल थोड़ी रेखाओं से ऐसे गुण देखने को मिलते हैं, जो अन्य किसी भिखारिन में नहीं पाये जाते। ये सब चरित्र हमारे सामने अपने गुणों अथवा अवगुणों का प्रतिनिधि-स्वरूप लेकर आते हैं, यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिए। इनकी सृष्टि केवल विशिष्ट गुणों अथवा दुर्गुणों को ही ध्यान में रखकर की जाती है। तृतीय प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियाँ वे लिखी गईं, जिनमें किसी प्रधान चरित्र के स्वभाव में आगे चलकर कोई आकस्मिक परिवर्तन दिखाया गया है। कहानी में प्रभावोत्पादकता तथा उत्सुकता बनाये रखने का यह सब से बड़ा हथियार है, जिसका प्रयोग द्विवेदी-युग के कुछ कहानीकारों ने किया। इससे कहानी में रोचकता बनी रही, पाठक उसे तल्लीनता के साथ पढ़ता रहता है। इस प्रकार की कहानियाँ प्रेमचंद ने 'आत्माराम', 'दीक्षा', 'शंखनाद' आदि लिखीं और विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'ताई' ने तो इसके सब अंगों की पूर्ति ही कर दी। 'आत्माराम' के महादेव, 'दीक्षा' के वक़ील साहब, 'शंखनाद' के गुमान पहलवान और 'ताई' की रामेश्वरी का आकस्मिक घटनाओं से चरित्र सुधर जाता है और उसी का चित्रण लेखक का लक्ष्य रहा है।

(२) वातावरण-प्रधान—

द्विवेदी-युग में वातावरण-प्रधान कहानियाँ भी लिखी गईं। इनकी संख्या चरित्र-प्रधान कहानियों से कम नहीं है। इस

प्रकार की कहानियों में लेखकों का मुख्य उद्देश्य किसी सुन्दर वातावरण की सृष्टि करना रहा है। वातावरण-प्रधान कहानी के लिए उचित परिपार्श्व की आवश्यकता होती है। लेखकों ने इसका पूरा-पूरा ध्यान रक्खा—बाह्य-वातावरण तथा परिपार्श्व के साथ मानव जीवन की किसी प्रमुख भावना को इस रूप से चित्रित किया कि उसने प्रधानता ग्रहण कर ली। कहानी का विकास केवल एक-मात्र इसी भावना के आधार पर हुआ, जिसके चतुर्दिक वातावरण रहता था। कहने का अभिप्राय यह है कि वातावरण के बीच एक मुख्य भाव इन लेखकों की कहानियों में लिपटा पड़ा रहता था। कला की दृष्टि से इन कहानियों का स्थान ऊँचा है, क्योंकि इनमें लेखकों को अपनी कला-प्रदर्शन के लिए अच्छा अवसर हाथ लग जाता है। वह कवित्त्वपूर्ण अथवा लाक्षणिक सौंदर्य से परिपूर्ण यथार्थ-वादी या आदर्शवादी किसी भी वातावरण की सृष्टि कर सकता है। इस प्रकार की कहानियों में प्रेमचंद की 'शतरंज के खिलाड़ी', विश्वम्भरनाथ जिज्जा की प्रथम कहानी 'परदेशी', राधिकारमणसिंह की प्रथम कहानी 'कानों में कँगन, (१९१३), तथा 'बिजली,' चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'प्रेम-परिणाम', 'उन्माद', 'योगिनी' आदि सुदर्शन की 'हार की जीत', गोविन्दवल्लभ पंत की 'मिलन-मुहूर्त', 'जूठा आम' आदि और जयशंकरप्रसाद की 'आकाशदीप', 'प्रतिध्वनि', 'बिसाती', 'स्वर्ग के खण्डहर में', 'हिमालय का पथिक', 'समुद्र संतरण' आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इस युग के श्रेष्ठ वातावरण-प्रधान लेखक 'प्रसाद', सुदर्शन और गोविन्दवल्लभ पंत हैं। प्रसाद ने तो कवित्त्वपूर्ण वातावरण उपस्थित करने में कमाल कर दिया है। 'आकाशदीप' की ही बात लीजिए, उसमें चरित्र की प्रधानता नहीं वरन् बुद्धगुप्त और चंपा का प्रेम और पिता की स्मृति का प्रसंग ही मुख्य भावना है और इस प्रधान भावना के चारों ओर कवित्त्वपूर्ण वातावरण तथा इतिहास का परिपार्श्व है। प्रेमचन्द और सुदर्शन का चरित्र और वातावरण

दोनों ही यथार्थवादी हैं, तथा प्रसाद, पंत और हृदयेश का आदर्शवादी।

(३) कथानक प्रधान—

ऐसी कहानियाँ जिनमें घटनाएँ और चरित्र, कार्य आदि से प्रधान होते हैं और जिन्हें हम घटना-प्रधान कहानियाँ भी कह सकते हैं, द्विवेदी-युग में अपेक्षाकृत कम लिखी गईं। इस प्रकार की कहानियों में वस्तु की ही प्रधानता रहती थी—चरित्रों के विकास की ओर ध्यान न देकर घटनाओं को रोचक और कुतूहलपूर्ण बनाकर पाठकों के मनोरंजन की चेष्टा की जाती थी। ऐसी कहानियाँ सन् १९००-१९१० ई० तक तो लिखी गईं, लेकिन आगे चलकर यह धारा मंद पड़ गई। विविध परिस्थितियों और प्रसंगों का उल्लेख अधिक होने के कारण इस प्रकार की कहानियाँ साधारण कोटि की समझी जाती हैं। कौशिक की 'पावन पतित' में इसका अच्छा उदाहरण देखने को मिलता है। ज्वालादत्त शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी तथा कौशिक इस प्रकार की कहानियों के प्रमुख लेखक हैं और उनकी अधिकांश कहानियाँ इसी कोटि के अन्तर्गत हैं। ज्वालादत्त शर्मा की 'विधवा' कहानी में घटनाओं का जाल-सा देखने को मिलता है। राधाचरण की असामयिक मृत्यु के बाद पार्वती का विधवा होना, चचिया ससुर और सास द्वारा सताया जाना, 'सेल्फ़-हेल्प' पुस्तक पढ़कर बी० ए० पास करना, २५० रुपये मासिक पर गर्ल्स स्कूल में प्रिन्सिपल होना और अन्त में चचिया ससुर का चपरासी की जगह के लिए अर्ज़ी लेकर आना विविध घटनाएँ नहीं तो और क्या हैं? इन लेखकों ने दैव घटनाओं और संयोगों का अत्यधिक वर्णन किया, जिनसे पाठकों की जिज्ञासा-वृत्ति तो अवश्य शांत हुई, लेकिन कला और चरित्र की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई।

(४) कार्य प्रधान—

कथानक-प्रधान कहानियों से मिलती-जुलती कुछ कार्य-प्रधान कहानियाँ भी प्रारम्भिक वर्षों में लिखी गईं, जिनमें चरित्र और

घटनाओं की अवहेलना कर पात्रों के कार्यों पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। पात्रों के द्वारा साहसिक कार्य करवाना ही इन लेखकों का लक्ष्य रहा। प्रायः सभी जासूसी कहानियाँ इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं, जिनमें लेखक जासूसों की विस्मयकारी निपुणताओं में ही तन्मय रहता है। कुछ हास्यास्पद कहानियाँ, जिनमें कार्यों पर ज़ोर देकर अतिनाटकीय प्रसंगों की अवतारणा की गई, इसी श्रेणी में आती हैं। अभिप्राय यह है कि इनमें केवल साहसिक, रहस्यपूर्ण और विचित्र तथा अद्‌भुत कार्यों की ही प्रधानता रहती थी। जासूसी उपन्यास-लेखक ऐसी कहानियाँ लिखने में सिद्धहस्त थे, जिनमें गोपालराम गहमरी, दुर्गाप्रसाद खत्री, मथुराप्रसाद खत्री, जी० पी० श्रीवास्तव आदि के नाम लिए जा सकते हैं। ये सब कहानियाँ 'जासूस' पत्रिका में प्रकाशित होती थीं। आरम्भ में इनकी संख्या भी अधिक थी, लेकिन बाद में प्रेमचन्द के इस क्षेत्र में आने पर यह धारा शिथिल पड़ गई। दुर्गा-प्रसाद खत्री की 'संसार-विजयी', 'रूप-ज्वाला' आदि अनेक कहानियों में साहसिक कार्यों की प्रधानता ही प्रधानता है, और कुछ नहीं।

(५) हास्य-प्रधान—

द्विवेदी-युग में हास्य-प्रधान कहानियों का अभाव रहा। ऐसी कहानियाँ जिनमें शिष्ट और सभ्य हास्य के दर्शन हो जायँ, उस युग में तो क्या आज भी देखने को नहीं मिलतीं। लेकिन फिर भी द्विवेदी-युग में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, बद्रीनाथ भट्ट, प्रेमचंद आदि के द्वारा यह कार्य होता रहा। जी० पी० श्रीवास्तव की सर्व-प्रथम कहानी 'पिकनिक' जैसा कि उल्लेख कर चुके हैं, हास्य-प्रधान ही थी। उनका एक संग्रह 'लम्बी दाढ़ी' के नाम से प्रकाशित हुआ, लेकिन एक तो उसमें अतिनाटकीय प्रसंगों की भरमार है, दूसरे हास्य निम्नकोटि का है। लेखक स्वयं हँसाने की चेष्टा अधिक करता है, पात्रों और कार्यों से हँसी नहीं निकलती। प्रेमचन्द ने मोटेराम शास्त्री को लेकर कुछ अच्छी कहानियाँ अवश्य लिखीं, जिनमें 'सत्याग्रह' सबसे

अधिक प्रसिद्ध है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि इस अन्य लेखक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

(६) ऐतिहासिक—

ऐतिहासिक कहानियाँ किसी से छिपी नहीं, जिनमें इतिहास की तरह घटनाओं की क्रम-बद्धता के साथ-साथ कथानक में प्रभावोत्पादकता लाने के लिए कल्पना का आरोप किया जाता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति वृंदावनलाल वर्मा ने इस क्षेत्र में भी विशेष ख्याति प्राप्त की। उनकी 'राखी बंद भाई' (१९०९) और 'तातार और एक वीर राजपूत' (१९१०) इस दृष्टि से उत्तम कहानियाँ हैं। 'प्रसाद' की 'ममता' ऐतिहासिक कहानियों में एक सफल कार्य है। इनके अतिरिक्त प्रेमचंद ने 'वज्रपात' और 'रानी सारंधा', चतुरसेन शास्त्री ने 'भिक्षुराज' तथा सुदर्शन ने 'न्याय-मंत्री' नामक कहानियाँ लिखीं, जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं के साथ कल्पना का सुन्दर सामञ्जस्य देखने को मिलता है। लेकिन खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हास्य-प्रधान कहानियों की भाँति इस ओर भी अन्य लेखकों ने कोई ध्यान नहीं दिया। वृंदावनलाल वर्मा से हमें इस दिशा में अधिक आशा थी, लेकिन सन् १९१० ई० के बाद उन्होंने कहानियाँ लिखना बंद कर दिया और उपन्यास लिखने में ही अपनी विशेष रुचि दिखलाई।

(७) प्राकृतवादी—

जैसा कि कहा जा चुका है, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री ने प्राकृतवादी उपन्यासों की सृष्टि कर अश्लील, लज्जाप्रद तथा घृणास्पद बातों को कलात्मक ढंग से चित्रित करना आरम्भ कर दिया था, आगे चलकर वे अपने इस प्राकृतवाद को अपनी कहानियों में भी स्थान देने लगे। उनमें कला-पक्ष के तो समस्त गुण विद्यमान हैं, पर पात्र अधिकांश में वेश्याएँ, विधवाएँ, भिखमंगे और गुण्डे ही हैं, जिनके द्वारा कुरुचिपूर्ण कार्य

कराये जाते हैं। उनकी कहानियों के साथ हम पाठकों की कोई सद्भावना नहीं, लेकिन जहाँ तक उनकी सुन्दरता तथा सत्यता, सजीवता तथा यथार्थता और चरित्र-चित्रता तथा शैली की कुशलता में हम लोग उनका लोहा अवश्य मानते हैं। साथ ही यह भी कहने को तैयार हैं कि उनमें कहानी लिखने की अपूर्व प्रतिभा थी, लेकिन साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए उसमें अश्लीलता का उल्लंघन करने वाली बातों को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। इस दृष्टि से इन कहानी-लेखकों का महत्त्व कम पड़ जाता है।

(८) प्रतीकवादी—

द्विवेदी-युग में कुछ प्रतीकवादी कहानियों को नहीं भूल जाना चाहिए, यद्यपि इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। इस प्रकार की कहानियों में किसी वस्तु को मानवीकरण का रूप दिया गया। इनमें विविध वस्तुएँ भिन्न-भिन्न भावनाओं की प्रतीक होकर हमारे सामने आती हैं। ऐसी कहानियों में कवित्वपूर्ण शैली की आवश्यकता होती है; इसलिए इस युग के ऐसे लेखकों ने, जो इस विद्या में प्रवीण थे, इस ओर अधिक ध्यान दिया। रायकृष्णदास ने 'कला और कृत्रिमता' तथा प्रसाद ने 'कला' नामक कहानियाँ लिखीं, जो इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। रायकृष्णदास जी की कहानी में 'कला' और 'कृत्रिमता' को मनुष्य का रूप देकर उसका अन्तर स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार प्रसाद की कहानी में रूपनाथ सौंदर्य का प्रतीक है तथा रसदेव रस का। कला एक स्त्री के रूप में चित्रित की गई है। कला में सौंदर्य की प्रधानता रहनी चाहिए अथवा रस की, इस उद्देश्य को लेकर ही कहानी लिखी गई है, जो निस्संदेह सुंदर बन पड़ी है।

द्विवेदी-युग की ये भिन्न-भिन्न कहानियाँ उस समय की 'सरस्वती', 'इन्दु', 'जासूस', 'भारतमित्र' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती थीं। पुस्तक रूप में इनका प्रकाशन आगे चलकर हुआ। इनके द्वारा कहानियों के रूप तथा शैली दोनों का विकास पर्याप्त-मात्रा में

हुआ। कहानी की जिन-जिन विविध शैलियों का जन्म हुआ, वे इस प्रकार हैं—

(१) साधारण वर्णनात्मक शैली—

(Descriptive) सबसे आसान, सीधी और साधारण शैली यही है, जिसके अनुसार लेखक इतिहासकार की भाँति कथा कहता जाता है। वह पात्रों तथा घटनाओं की शृंखला तैयार कर उन्हें खिलाता है और स्वयं कथानक के परदे की ओट में सारी बातें सुनाता रहता है। प्रकृति-वर्णन, मानसिक अन्तर्द्वंद्व, वातावरण आदि के समय इसी शैली को अपनाया जाता है। अधिकांश लेखकों ने इसी शैली में अपनी कहानियाँ लिखी हैं।

(२) आत्म-चरित शैली—

(Autobiographical) जिसके अनुसार लेखकों ने प्रथम पुरुष में अपनी कहानियाँ लिखीं और अपने को कहानी के किसी पात्र से सम्बद्ध कर दिया। वह स्वयं 'मैं' के रूप में कहानी में खड़ा होता है और जीवन-चरित्र की भाँति सब कुछ कहता जाता है। सुदर्शन की 'अंधेरी दुनिया' इसी शैली में लिखी गई है।

(३) संलाप-शैली—

(Conversational) इसके अनुसार कथानक और चरित्र का विकास वार्तालाप के द्वारा किया जाता है। इस शैली की कहानियों का आरम्भ प्रायः दो पात्रों की बातचीत से होता है। बीच-बीच में पात्रों तथा परिस्थितियों की जानकारी के लिए लेखक पाठकों को वर्णन देता जाता है। कौशिक की 'ताई' इसी शैली में लिखी गई है। कौशिक इस शैली के मास्टर हैं।

(४) पत्र-शैली—

(Epistolatory) इसके अनुसार लेखक सारी घटनाएँ, पत्रों अथवा डायरी के पृष्ठों के द्वारा प्रकाशित करता है। उसमें कहानी की सारी बातें पत्रों में या अवतरणों के रूप में पाई जाती हैं और वे उन्हीं

पत्रों में आदि से लेकर अन्त तक जुड़ी हुई रहती हैं। सुदर्शन की 'बलिदान' प्रसाद की 'देवदासी' तथा राधिकारमणसिंह की 'सुरबाला' नामक कहानियाँ इसी शैली में लिखी गई हैं।

द्विवेदी-युग के लेखकों द्वारा अपनाई गईं इन चारों शैलियों में से कौन-सी कहानी सर्वश्रेष्ठ है, यह कहना ज़रा कठिन है। प्रायः सभी शैलियों में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। प्रथम शैली में विचारों की व्याख्या विशद रूप से होती है, घटनाओं का वर्णन स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार हो सकता है। इसलिए इसमें अनावश्यक बातें भी आने की गुंजायश रहती है। द्वितीय आत्म-चरित शैली में 'मैं' के रूप में कहानी लिखी जाती है, इसलिए कहानी के सारे ज्ञान का ठेका केवल एक व्यक्ति ही ले लेता है, और एक व्यक्ति के द्वारा कहानी के सब तत्वों पर प्रकाश डालना ज़रा कठिन हो जाता है। शैली के द्वारा घटनाओं का निर्वाह उत्तम ढंग से नहीं हो पाता। लेखक को स्वतंत्रता न मिल पाने के कारण उसमें उतार-चढ़ाव देखने को नहीं मिलता। तृतीय संलाप-शैली ही कहानियों के लिए अधिक ठीक जान पड़ती है, जिसके द्वारा कथानक का विकास तथा चरित्र-चित्रण भी होता रहता है और साथ ही पाठकों की रोचकता तथा मनोरंजकता में भी अभिवृद्धि होती रहती है। लेकिन इस शैली से कहानी कहीं नाटक न बन जाय, इस बात के लिए हमें सदैव सतर्क रहना चाहिए। चतुर्थ, पत्र—

(६) नाटक—

बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि भारतेन्दु के पूर्व नाट्य-भूमि पर कोई ऊँचा स्थान नहीं था, जहाँ पहुँचकर नाटक-प्रेमियों को पल भर के लिए मनोरंजन और जीवन मिलता। इसका कारण चाहे राष्ट्रीय रंगमंच का अभाव हो, चाहे गद्य-साहित्य की हीनता और चाहे मुसलमान बादशाहों का विरोध, लेकिन इन गौण कारणों के रहते हुए भी यदि लेखक चाहते तो उच्चकोटि के नाटक लिख सकते थे। बात वास्तव में यह है कि उन्होंने इस ओर कोई ध्यान ही नहीं

दिया। कवियों को अपनी अटपटी वाणी और अतिशयोक्तिपूर्ण वा विरह के ऊहात्मक वर्णनों से ही कहाँ फुरसत थी? यही कारण है कि समृद्ध संस्कृत-नाट्य-साहित्य उनके सामने होते हुए भी उन्होंने इस दिशा में कोई कार्य नहीं किया। आगे चलकर पारसी थियेटरों का युग आया, नाट्य-कला का बलात्कार होने लगा। कला आठ-आठ आँसू बहाने लगी, उसे कोई बचाने वाला भी न मिला। ऐसे समय में किसी ऐसे श्रेष्ठ नाटककार की आवश्यकता थी जो प्रधान और गौण दृश्यों के भेद को समझाते हुए मनमानी करते हुए लेखकों का पथ-प्रदर्शन करता। भारतेंदु ने प्रथम बार नाट्य-कला को पारसी थियेटरों से दूर करने का प्रयत्न किया, लेकिन उनका यह प्रयास अधूरा ही था। उनके नेतृत्व में जो नाटक लिखे गये, उनका मुख्य उद्देश्य जनता को पारसी थियेटरों के अश्लील और भद्दे नाटकों से बचाना था, पर वे और उनके समकालीन लेखक इसमें सफल नहीं हुए, इसलिए कि भारतेंदु-गद्य मूल रूप में एक 'गोष्ठी साहित्य' था। इने-गिने लोगों से ही सम्बन्ध होने के कारण जन-साधारण तक नाटकों का प्रचार नहीं हो पाया। फिर किसी आदर्श रंगमंच के अभाव में इन लोगों ने पारसी रंगमंच का ही आश्रय लिया। अतः नाट्य-कला पारसी थियेटरों से सादृश्यता रखती थी। वैचित्र्यपूर्ण कथानक (जिसका आधार संस्कृत नाटक तथा पौराणिक कथाएँ थीं), रीति-काव्य का-सा वातावरण, अलंकृत और आडम्बरपूर्ण शैली उस युग के मुख्य गुण कहिये चाहे दोष। रस-भाव का सर्वथा अभाव था, हाँ उनके हृदय में नाटकों के प्रति सच्चाई अवश्य थी। अधिकांश में अनुवादित और अल्पांश में मौलिक नाटकों ने साहित्य में एक धूम अवश्य मचा दी, लेकिन उनमें सुन्दर और व्यवस्थित कथानक, चरित्र-चित्रण तथा संलाप का अभाव था। उस युग में नाटकों के कला-रूप और शैली का कोई विकास दृष्टिगत नहीं होता। अभिप्राय यह कि प्राचीन समतल नाट्य-भूमि पर उस युग के लेखकों द्वारा पहाड़ तो अवश्य खड़े कर दिये गए, लेकिन

उस पर ऐसी हरियाली नहीं थी, जो नाटक-प्रेमी-जनता को मंत्र-मुग्ध कर देती।

द्विवेदी-युग के आरम्भिक वर्षों के अराजकता-काल में भारतेंदु-युग की यही धारा प्रवाहित होती रही और सन् १६००–१६१२ ई० तक उसमें कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता। हरिश्चन्द्र के बाद उनके दो भतीजों कृष्णचंद्र और व्रजचंद्र ने 'भारत नाटक-मण्डली' (१६०८–१६ ई०) की स्थापना कर साहित्यिक नाटकों के खेलने का प्रबन्ध अवश्य किया, लेकिन और कोई उत्साही व्यक्ति इस क्षेत्र में नहीं आया। हाँ, बंगला के और विशेषतः डी० एल० राय तथा गिरीश घोष के नाटकों का अनुवाद इस अराजकता-काल में अत्यधिक हुआ, जिसने मौलिक नाटकों का क्रम एक प्रकार से बन्द कर दिया। सन् १६१२ ई० के पश्चात् कतिपय लेखकों के द्वारा नाट्य-कला में कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन होने लगे। ऐसे लेखकों में नारायणप्रसाद 'बेताब' का नाम सर्वप्रथम आता है, जिन्होंने नाटकों को ही अपने जीवन का सर्वस्व समझ कर उसकी भाषा में सुधार करना आरम्भ किया। इसके परिणाम-स्वरूप पारसी नाटकों की भाषा उर्दू को हटाकर हिंदुस्तानी का प्रयोग किया गया और गाने हिंदी में लिखे गये तथा कथानक पौराणिक नाटकों से ही लिया गया। उनकी प्रेरणा पाकर आग़ाहश्र काश्मीरी, हरिकृष्ण 'जौहर', तुलसीदत्त 'शैदा', राधेश्याम कथावाचक आदि महानुभावों ने ऐसे नाटक लिखने आरम्भ किये, जो रंगमंच की दृष्टि से खेले भी जा सकते थे। इन लेखकों के द्वारा नाटकीय कला-रूप का विकास होने लगा। चलचित्रों के प्रभाव से रोमांचकारी दृश्यों को प्रधानता दी गई, जिन्हें जनता ख़ूब पसन्द करती थी। इस दृष्टि से राधेश्याम ने 'भक्त प्रह्लाद', विश्व ने 'भीष्म-प्रतिज्ञा' और लालकृष्णचंद्र ने 'भारत दर्पण या क़ौमी तलवार' आदि नाटक लिखे। रोमांचकारी दृश्यों के अतिरिक्त कुछ लेखक उत्तेजित कर देने वाली सामग्री को भी नाटकों में जुटाने लगे, जिनमें श्रीकृष्ण

'हसरत' का 'महात्मा कबीर' नाटक मुख्य है। इस समय के नाटकों की एक और विशेषता हास्य-रस की सृष्टि थी। शेक्सपियर के नाटकों से प्रभावित होकर सर्वप्रथम आग़ाहश्र काश्मीरी ने 'कलियुगी साधु' तथा जमुनादास मेहरा ने 'पाप-परिणाम' नामक नाटकों में हास्य-रस का जो पुट दिया, जनता ने उसका विशेष आदर किया। इस प्रकार धीरे-धीरे नाटकों के कला-रूप का विकास होकर लेखकों का ध्यान मौलिक नाटकों की ओर गया, जो (१९१२—१९२५ ई०) तक लिखे गये।

सन् १९१२ ई० में बदरीनाथ भट्ट के 'कुरु-वन-दहन' नामक नाटक से मौलिक नाटकों का सूत्रपात हुआ। अब तक के नाटकों में ऐसा कोई नाटक नहीं था, जिसमें कथानक के सौंदर्य, संगीत, रस-भाव, चरित्र-चित्रण, हास्य आदि का सम्यक् योग देखने को मिलता हो। भट्टजी का यह नाटक यद्यपि संस्कृत नाटक 'वेणी-संहार' का रूपान्तर है, लेकिन उसमें ये सभी गुण एक-साथ देखने को मिलते हैं। पंडित माधव शुक्ल के 'महाभारत' (१९१५) नामक नाटक के द्वारा भी नाट्य-कला का उल्लेखनीय विकास हुआ। वैसे इस नाटक में छोटी-मोटी त्रुटियाँ हैं, लेकिन सबसे उत्तम बात यह है कि वार्तालाप पात्रों के अनुकूल बन पड़ा है, दूसरे शब्दों में पात्रों के अनुसार भाषा का परिवर्तित रूप देखने को मिलता है। सभ्य और शिक्षित पात्र खड़ी बोली का प्रयोग करता है, तो निम्न वर्ग के लोग देहाती भाषा में वार्तालाप करते हैं। मिश्रबंधु का 'नेत्रोन्मीलन' भी एक ऐसा ही नाटक है। इनके पश्चात् माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (१९२२) और बदरीनाथ भट्ट ने 'दुर्गावती' नामक नाटक लिखे, जिनमें अच्छे नाटकों के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। ये नाटक रस, भाव तथा कवित्वपूर्ण शैली में लिखे गये हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से गोविन्दवल्लभ पंत का 'वरमाला' एक प्रशंसनीय नाटक है, जिसमें कवित्वपूर्ण वातावरण के साथ-साथ सुन्दर-

सुन्दर गानों की वृष्टि कराई गई है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन नाटकों की प्रमुख विशेषता है। इनके अतिरिक्त इस समय के लेखकों में जयशंकरप्रसाद एक महान् नाटककार के रूप में हमारे सामने आते हैं। साहित्यिक दृष्टि से इनके नाटकों का स्थान सर्वोपरि है, शैली, चरित्र-चित्रण, रस-भाव, विचार, संगीत आदि सभी दृष्टियों से ये सबको पीछे छोड़ जाते हैं, लेकिन अभिनय की दृष्टि से इनके नाटकों का मूल्य कम पड़ जाता है। बस, केवल दोष है, तो केवल एक यही। इस प्रकार मौलिक नाटक लिखे तो अवश्य गये, लेकिन लेखकों की संख्या बहुत ही कम है।

अब तक जो नाटकीय विधान हमारे सामने था, वह केवल संस्कृत नाटकों का ही था। उसमें भी समय और परिस्थितियों के उपयुक्त कोई परिवर्तन अथवा संशोधन नहीं हुए थे। द्विवेदी-युग में इस अभाव की पूर्ति होने लगी। साथ ही पाश्चात्य नाटकों का भी प्रभाव पड़ने लगा। नाटकीय विधान में संशोधन करते समय इन नाटकों को भी ध्यान में रक्खा गया। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार अब तक जो लेखक नाटक का आरम्भ करते समय ईश्वरीय वन्दना और कथानक से परिचय कराने के लिए जो प्रस्तावना लिखते थे, वह परिपाटी हटा दी गई। जो लोग इन दोनों बातों का लोभ संवरण नहीं कर सके, वे पश्चिम की बर्नर्डशा की भूमिका (Preface) की तरह अपनी सफ़ाई के लिए एक पृथक् प्रस्तावना लिखने लगे, जिसका नाटक से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता था। गोपालराम गहमरी ने 'बनबीर नाटक' तथा ब्रजनंदनसहाय ने 'ऊषांगिनी' में ऐसी भूमिकाएँ लिखी हैं। कहने का अर्थ यह है कि अब प्रस्तावना तथा ईश्वरीय वन्दना की प्रथा, जिसका आधार संस्कृत नाट्य-शास्त्र था, उठ गई। साथ ही पाश्चात्य रंगमंच और विज्ञान की सुविधाएँ प्राप्त हो जाने के कारण दृश्यों का इच्छानुसार परिवर्तन भी हुआ। संस्कृत नाटककार ऐसा नहीं करते थे, क्योंकि उनके अनुसार ऐसा करने से रसोद्रेक में

बाधा पहुँचती थी। एक ही अंक में कथावस्तु की आवश्यकतानुसार कितने ही छोटे-छोटे दृश्य रक्खे गये। फिर अंकों का प्रश्न आया। संस्कृत नाट्य-शास्त्रों के अनुसार नाटक की रचना ५–१० अंकों तक होनी आवश्यक थी, सामान्यतः ७ अंकों में उसकी रचना होती थी, लेकिन अब उनकी संख्या ३ कर दी गई। प्रसाद के प्रायः सभी नाटक ३ अंकों में लिखे गये हैं। नाटक के प्रमुखतम अंग संलापों में भी परिवर्तन हुआ। संस्कृत में तो दो या इसके अधिक व्यक्तियों की वार्ता, पृथक भाषण (जिसे दर्शक सुन सकते हैं, मंच पर का पात्र नहीं) तथा स्वगत-भाषण आदि क्षम्य थे, लेकिन अब ऐसा बुरा समझा जाने लगा। वस्तु के विकास तथा चरित्र-चित्रण के लिए प्रश्नोत्तर रूप वाले संलाप को ही प्रधानता दी गई। यह एकदम तो नहीं हुआ, लेकिन ज्यों-ज्यों नाट्य-कला का विकास होता गया, त्यों-त्यों उसमें इस प्रकार के संलापों को महत्त्व दिया जाने लगा। भाषा और शैली की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण संशोधन हुए। नये विधान के अनुसार बातचीत के बीच-बीच में छंदबद्ध कविता को प्रधानता मिली और साथ ही पात्रों के अनुसार भाषा का परिवर्तित रूप भी रक्खा जाने लगा। बदरीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, माधव शुक्ल आदि में ये दोनों बातें देखने को मिलती हैं। पुराने गीतों का बहिष्कार कर दिया गया, जिनमें पद, दादरा और ठुमरी मुख्य हैं और उनके स्थान पर कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि करने वाले गीतों को महत्त्व दिया जाने लगा। प्रसाद ने अपने 'विसाख', 'कामना', 'अजातशत्रु' आदि, प्रायः सभी नाटकों में इन गीतों का प्रयोग किया है। इस प्रकार हम देखेंगे कि द्विवेदी-युग के लेखकों ने अपने समय और परिस्थितियों के अनुकूल एक नाटकीय विधान तैयार किया, जिसका मुख्य आधार संस्कृत नाट्य-शास्त्र और पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र था। संक्षेप में, इन लेखकों ने पश्चिम से यथार्थ-वाद और रंगमंच की सुविधाएँ लीं तथा संस्कृत नाट्य-शास्त्र से कवित्वमय वातावरण लिया। प्राचीन प्रस्तावना बंद कर दी गई।

अंकों और दृश्यों की सीमा अपनी सुविधानुसार हुई। इस प्रकार के सामञ्जस्य से जो विधान बना वही इन लेखकों ने स्वीकार किया।

द्विवेदी-युग के नाट्य-साहित्य को सुविधापूर्वक समझने के लिए हम उसे नौ भागों में विभाजित कर सकते हैं–(१) कृष्ण-चरित्र पर लिखे गये नाटक (२) संत–चरित्र पर लिखे गये नाटक (३) प्रेम-लीलापूर्ण रोमांचकारी नाटक (४) पौराणिक नाटक (५) ऐतिहासिक नाटक (६) सामयिक और राष्ट्रीय नाटक (७) सामाजिक नाटक (८) व्यंग्य-विनोदपूर्ण नाटक और (९) प्रतीकवादी नाटक। आगे इन्हीं के अनुसार नाटकों का अध्ययन किया जायगा।

(१) कृष्ण-चरित्र—

द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक वर्षों में कृष्ण-चरित्र को लेकर थोड़े से नाटक लिखे गये, जिनके प्रायः दो रूप देखने को मिलते हैं। एक का सम्बन्ध व्रज से है, दूसरे का द्वारिका से। ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि इस प्रकार के नाटकों में नाटकीयता बहुत ही कम है। इनमें प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन किया गया है। इन नाटकों का प्रधान उद्देश्य धर्म—प्रचार था। आगे चलकर इस प्रकार के नाटक कम लिखे गये। व्रजवासी कृष्ण को लेकर जो नाटक लिखे गये, वे ये हैं—बलदेवप्रसाद मिश्र का 'नन्द विदा' (१९००), राधाचरण गोस्वामी का 'श्रीदामा' (१९०४), ब्रजनंदन सहाय का 'उद्धव' (१९०९), वियोगी हरि (हरिप्रसाद द्विवेदी) का 'छद्म-योगिनी' (१९२३) तथा जमुनादास मेहरा का 'कृष्ण-सुदामा' (१९२४)। इसी प्रकार द्वारिकावासी कृष्ण को लेकर बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'प्रभात–मिलन' (१९०३), शिवनन्दन सहाय ने 'कृष्ण-सुदामा' (१९०७) तथा रूपनारायण पांडेय ने 'कृष्णलीला' (१९०७) नामक नाटक लिखे।

(२) संत-चरित्र—

प्रारम्भिक वर्षों में कृष्ण-चरित्र के साथ कुछ संत-चरित्र नाटक भी लिखे गये जिनमें संत-पुरुषों का कथानक होता था। इनका उद्देश्य भी

धार्मिक होता था। इनमें नाटकीय गुणों का निर्वाह सुन्दर रूप से नहीं किया गया है। यह धारा भी आगे चलकर धीरे-धीरे मंद पड़ गई। इस प्रकार के नाटक जो-जो लिखे गये, वे इस प्रकार हैं—बलदेव-प्रसाद मिश्र का 'मीराबाई' (१६१८) तथा सुदर्शन का 'दयानंद' (१६१७)। इन दोनों नाटकों में सुदर्शन का 'दयानंद' उल्लेखनीय है। संत-चरित्रों में गोस्वामी तुलसीदास जी को लेकर भी कुछ नाटक लिखे गये, जिनमें बदरीनाथ भट्ट का 'तुलसीदास' (१६२२) तथा पुरुषोत्तम-दास गुप्त का 'तुलसीदास' (१६२४, द्वि० सं०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत के इन संत-चरित्रों के अतिरिक्त अन्य देशों के महात्माओं को लेकर इस श्रेणी का केवल एक ही उपन्यास लिखा गया, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र का 'महात्मा ईसा' (१६२२)।

(३) प्रेमलीलापूर्ण रोमांचकारी—

ये नाटक उत्कृष्ट कोटि के नाटककारों के इस क्षेत्र में आने के पूर्व पारसी कंपनियों द्वारा लिखे जाते थे। इनका कथानक फ़ारसी के प्रेमाख्यानों और दंत-कथाओं से लिया जाता था, कहीं-कहीं बीच में नाटककार स्वयं भी कल्पना कर लेता था। इस प्रकार के नाटकों की कथावस्तु प्रायः एक-सी है। ऐय्यारी-तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यासों की तरह इनमें भी प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेम-प्रसंग देखने को मिलते हैं और दुस्तर कार्य कराये जाते हैं। नायक सब प्रकार की कठिनाइयों का निर्भीकता से सामना करता है और अंत में अपनी प्रेमिका को पाने में सफल होता है। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें प्रेम का चित्रण भारतीय ढंग पर न होकर फ़ारसी ढंग पर होता था। इनमें दैवघटनाओं और प्रसंगों की प्रधानता है। नाटककार की दृष्टि केवल एक-मात्र रोमांचकारी और उत्तेजक दृश्यों की सृष्टि करने की ओर लगी रहती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन नाटकों के नायक या तो भले मानुष होते थे या बुरे, बीच के कोई नहीं। भाषा अश्लील और कुरुचिपूर्ण होती थी। स्वाभाविकता तो कहीं देखने को ही नहीं मिलती। लेकिन

इनमें केवल एक अच्छी बात यह है कि सच्चे और पवित्र प्रेम की अंत में सदैव विजय दिखलाई गई है। द्विवेदी-युग में इस प्रकार के हिंदी लेखकों द्वारा जो नाटक लिखे गये, वे ये हैं—सूरजभान का 'रूप-बसंत' (१६०१), हरिहरप्रसाद जिज्जल का 'जया' (१६०३) और 'कामिनी-मदन' (१६०७), देवीप्रसाद पूर्ण का 'चंद्रकला-भानुकुमार' (१६०४), हरनारायण चौबे का 'कामिनी-कुसुम' (१६०७), कन्हैयालाल बाबू का 'रत्न-सरोज' (१६१०), दुर्गादत्त पांडे का 'चंद्राननी' (१६१७) तथा ब्रजनंदनसहाय का 'उषाङ्गिनी' (१६२५)। ये सब नाटक पारसी कंपनियों की लोक-प्रियता के कारण लिखे गये, जिनमें उनका भद्दा अनुकरण किया गया है।

(४) पौराणिक—

पौराणिक नाटकों की कथा-वस्तु पुराणों से ली जाती है। इनका कथानक धार्मिक होता है, अतिप्राकृत प्रसंगों की भरमार रहती है और ये प्राचीन काल का जीवन चित्रित करते हैं। सन् १६१२ ई० तक तो द्विवेदी-युग में रोमांचकारी नाटकों की प्रधानता रही, लेकिन उसके बाद तेरह वर्षों तक पौराणिक नाटक बहुत बड़ी संख्या में लिखे गये। आरम्भिक लेखकों में सर्वप्रथम नारायणप्रसाद 'बेताब' ने 'महाभारत' की रचना की, जो जनता में बहुत लोकप्रिय हुआ। इनके पश्चात् आग़ा-हश्र काश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, हरिकृष्ण 'जौहर', तुलसीदत्त 'शैदा' तथा अन्य कई लेखकों ने पौराणिक नाटक लिखे। अन्य छोटे-छोटे लेखकों में कुशीराम का 'राजा हरिश्चन्द्र' (१६०८), जगन्नाथदास का 'प्रह्लाद-चरितामृत (१६००), देवराज लाला का 'सावित्री' (१६००), सुदर्शनाचार्य शास्त्री का 'अनर्घनल-चरित्र' (१६०८) कन्हैयालाल बाबू का 'अंजना-सुंदरी' (१६०१), सी० एल० सिंह का 'विषया-चन्द्रहास' (१६०२), बलवन्तराव सिंधिया का 'उषा' (१६०४) तथा लक्ष्मीप्रसाद का 'उर्वशी' (१६१०) आदि के नाम लिये जा सकते हैं। भारतेंदु-युग के लेखक बलदेवप्रसाद मिश्र ने तीन पौराणिक नाटक लिखे—'प्रभास-

मिलन', 'विचित्र कवि' और 'द्रौपदी-चीर-हरण'। लेकिन ये नाटक उतने उत्तम कोटि के नहीं है जितने सन् १९१२ के बाद के। ये सब नाटक पौराणिक नाटकों की उस प्रथम श्रेणी के हैं, जिनमें पारसी रंगमंच का ध्यान रक्खा गया है और साधारण जनता के लिए लिखे गये हैं। इन्हें हम 'बेताब और राधेश्याम की स्कूल' के नाटक कह सकते हैं। इन सब नाटकों का उद्देश्य समाज-सुधार करना था। 'बेताब' के 'पत्नी-प्रताप या सती अनसूया', जमुनादास मेहरा के 'विश्वामित्र', बल्देवप्रसाद खरे के 'राजा शिवि' तथा राधेश्याम कथा-वाचक के 'उषा-अनिरुद्ध' से यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो सकती है। एक नाटक में हमें केवल धर्म की ही शिक्षा नहीं मिलती, वरन् और भी अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती रहती हैं। इनमें एक-दो गौण कथाएँ भी रहती थीं, जिसका उद्देश्य आधिकारिक वस्तु को गहरा रंग देने से था। ये गौण कथाएँ कल्पित होती थीं। इनमें अतिप्राकृत प्रसंगों की बहुलता है। इसमें उन्होंने वर्तमान समय के भद्दे चित्रों को खींचकर पुराने आदर्शों को महत्त्व दिया है। इनकी भाषा भद्दी और रुचि भी भद्दी है। इन नाटकों का चरित्र-चित्रण बिल्कुल ही निम्न-कोटि का है। जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए० के 'गंगावतरण' में इस स्कूल की विचार-धाराओं का अच्छा परिचय मिल जाता है। संक्षेप में, ये सभी नाटक धर्म और उपदेश-प्रधान होने के कारण जनता में प्रचलित तो बहुत हुए, लेकिन नाट्य-कला के गुणों, जैसे कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से सर्वथा तुच्छ और निम्न श्रेणी के हैं।

सन् १९१२ ई० के बाद हमारे सम्मुख जो नाटककार आते हैं—उनमें मुख्य-मुख्य हैं—बदरीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी और माधव शुक्ल आदि। 'बेताब' की तरह इन लेखकों में सर्वप्रथम बदरीनाथ भट्ट हैं और उनके बाद के लेखकों ने उनकी ही विचार-धारा का अनुकरण किया है, इसलिए इसे हम बदरीनाथ भट्ट स्कूल कह सकते हैं। बदरी-

नाथ भट्ट ने 'कुरु-वन-दहन' (१९१२), और 'बेन-चरित्र' (१९२२), माधव शुक्ल ने 'महाभारत' (१९१६) और 'रामायण' (१९१६), मैथिलीशरण गुप्त ने 'तिलोत्तमा' (१९१६) और 'चंद्रहास' (१९१६), शिवनंदन मिश्र ने 'उषा' (१९१८), जमुनाप्रसाद मेहरा ने 'विश्वामित्र' (१९२१), 'देवयानी' (१९२२) और 'त्रिपद कसौटी' (१९२३), बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'असत्य संकल्प' और 'वासना-वैभव' (दोनों १९२४), गोविंद-वल्लभ पन्त ने 'वरमाला' (१९२५) तथा माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन युद्ध' (१९१२) नामक उपन्यास लिखे। 'बेताब' स्कूल की तरह इन नाटकों का उद्देश्य उपदेश देना नहीं था, उनका ध्येय केवल साहित्यिक रचना प्रस्तुत करना था। उन्होंने प्राचीन धार्मिक ग्रंथों और दन्त-कथाओं के आधार पर अपने कथा-वस्तु और चरित्रों का निर्माण किया है, साथ ही साहित्यिकता प्रदान करने के लिए अपनी इच्छानुसार कल्पना का भी आरोप किया है। गौण कथाओं की इन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। इनके नाटकों में कथावस्तु सरल है और सुलझा हुआ है। अतिप्राकृत प्रसंग नहीं के बराबर हैं। इनमें वास्तविक वातावरण की सृष्टि भी सफलतापूर्वक हुई है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी ये नाटक 'बेताब' स्कूल से अधिक सफल बन पड़े हैं। हाँ, मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण ढूँढने वाले पाठकों को इन नाटकों में निराश अवश्य होना पड़ेगा। संक्षेप में, ये नाटक 'बेताब' स्कूल से ऊँचे दर्जे के हैं, जिनमें साहित्यिकता का बराबर ध्यान रक्खा गया है।

इन दो धाराओं के अतिरिक्त पौराणिक नाटकों में एक तीसरी धारा और है, जिनमें जयशंकर प्रसाद, सुदर्शन आदि लेखक हैं। इसे हम 'प्रसाद स्कूल' के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इस धारा के प्रसाद ने 'करुणालय' (१९१२) तथा 'जनमेजय का नाग यज्ञ' तथा सुदर्शन ने 'अंजना' (१९२३) नामक नाटक लिखे। इन नाटकों में कथावस्तु तो पुराणों से अवश्य ली गई, लेकिन उनमें उस समय की कोई विशेषताएँ देखने को नहीं मिलतीं। इनमें हमें न तो धार्मिक भावनाओं की

प्रधानता मिलती है और न अतिप्राकृत प्रसंगों की भरमार ही। वे पौराणिक नाटक होकर उनसे दूर भी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पौराणिक नाटक द्विवेदी-युग में अधिक लिखे गये।

(५) ऐतिहासिक—

ऐतिहासिक नाटकों की संख्या पौराणिक नाटकों की अपेक्षा कम है, लेकिन सख्या की दृष्टि से इनका दूसरा नम्बर है। ऐतिहासिक नाटकों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहले प्रकार के वे हैं, जो अत्यन्त ही साधारण कोटि के हैं, जिनमें केवल इतिहास की घटनाओं को क्रम-बद्ध रूप से सजा दिया गया है। इनमें विविध घटनाओं तथा उलझनों पर विशेष ज़ोर दिया गया है। इनमें न तो चरित्र-चित्रण है, न कोई सौंदर्य। ये उन उपन्यासों जैसे हो गये हैं, जिनमें अतिप्राकृत प्रसंगों की भरमार रहती है। गोपालराम गहमरी का 'बनवीर नाटक', मनसुखलाल सोजतिया का 'रणबाँकुरा चौहान' तथा कृष्णलाल वर्मा का 'दलजीतसिंह' ऐसे ही नाटक हैं। दूसरे प्रकार के ऐतिहासिक नाटक वे हैं, जिनमें नाटकीय संघर्षों और प्रधान-पात्र की मुख्य भावनाओं का चित्रण सफलतापूर्वक नहीं हो सका है। इनका रूप बहुत कुछ पौराणिक नाटकों से मिलता-जुलता है। ये साधारण श्रेणी के ऐतिहासिक नाटकों से कुछ ऊपर उठे हुए अवश्य हैं। इस प्रकार के नाटकों में बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती', तथा 'चन्द्रगुप्त' और प्रेमचन्द के 'कर्बला' नामक नाटकों की गणना की जा सकती है। तीसरे प्रकार के ऐतिहासिक नाटक वे हैं, जिनमें हमें नाट्य-कला का चरम विकास देखने को मिलता है। जिस प्रकार द्विवेदी-युग के उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द अपने पूर्ववर्ती उपन्यास-कारों के केन्द्र-बिन्दु हैं, ठीक उसी प्रकार प्रसाद नाटक-साहित्य में एक ऐसे केन्द्र-बिन्दु हैं, जिनमें विभिन्न धाराएँ आकर समा जाती हैं और आगे के लिए एक अभूतपूर्व विकास होने लगता है। 'राज्य-श्री', 'विशाख' और 'अजातशत्रु' प्रसाद के प्रख्यात ऐतिहासिक नाटक

हैं। इनमें उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटकों के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। उनके नाटकों में एक ऐसा स्पष्ट संघर्ष अथवा अंतर्द्वंद्व है, जो उस युग के किसी भी नाटककार में नहीं पाया जाता। प्रसाद अपने नाटकों के प्रथम दृश्य में ही इस संघर्ष की ओर संकेत कर देते हैं, फिर उसी संघर्ष का विस्तार शेष नाटक में होता जाता है। 'अजातशत्रु' में यह संघर्ष बड़ी ही खूबी के साथ चित्रित किया गया है। प्रसाद के नाटकों पर पाश्चात्य स्वच्छंदवाद का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यही तो कारण है कि उनका कथानक सदैव उलझा हुआ रहता है। पाठक उसमें खोया-खोया-सा रहता है, उसके रहस्य को नहीं समझ पाता। उनमें आधिकारिक वस्तुओं के साथ दो-तीन प्रासंगिक वस्तुएँ इस प्रकार घुल-मिल जाती हैं कि उन्हें सुलझाना कठिन हो जाता है। प्रसाद के नाटकों की सबसे बड़ी सफलता उनका सुन्दर और अद्वितीय चरित्र-चित्रण है। नाटककार की दृष्टि मानव-जीवन की साधारण और तुच्छ बातों पर न जाकर जीवन की गूढ़ समस्याओं की ओर गई है। चरित्र-चित्रण आदर्शवादी है और इसके द्वारा किसी न किसी प्रकार के आदर्श का अनुष्ठान हुआ है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार एक असाधारण सम्राट् है, तो 'राज्यश्री' में राज्यश्री एक असाधारण रानी। प्रसाद के मुख्य पात्रों के विषय में एक बात और विचारणीय है। प्रायः सभी कवि दार्शनिक विचारों के हैं। उनमें त्याग और बलिदान की भावना है, आदर्शों के पीछे मर-मिटना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं। स्थान-स्थान पर उनके मुँह से इतने हृदयस्पर्शी और कवित्वपूर्ण वाक्य निकलते हैं कि वे हमारे हृदय में सदैव के लिए घर कर जाते हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों की तरह इन नाटकों में भी आदर्शवाद की स्थापना के लिए पात्रों में आकस्मिक परिवर्तन दिखाया गया है। दुष्ट पात्र किसी आदर्श पात्र के सम्पर्क में आकर भला आदमी बन जाता है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त प्रसाद की शैली में एक नवीनता दृष्टिगत होती है, और इसके

आगे उस युग के समस्त नाटककार फीके जान पड़ते हैं। उनकी शैली कवित्वपूर्ण है और भाषा का झुकाव तत्सम शब्दों की ओर अधिक है। नाटकों का वातावरण काव्यमय है, जिसने उनके नाटकों की शोभा बढ़ा दी है। प्रसाद ने अपने नाटकों में जो गीत रक्खे हैं, वे सर्वथा उपयुक्त हैं और उनसे संगीत का-सा आनन्द मिलने लगता है। संक्षेप में, उनके ये नाटक इतने उच्चकोटि के हैं कि साधारण जनता द्वारा अभिनय नहीं किये जा सकते। दोष है तो केवल एक यही, शेष सभी गुण ही गुण हैं। प्रसाद के इन ऐतिहासिक नाटकों की ये विशेषताएँ हमें सुदर्शन कृत 'अंजना' तथा पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र कृत 'महात्मा ईसा' में भी देखने को मिलती हैं। इन दोनों लेखकों पर भी स्वच्छंदवाद (Romanticism) का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

(६) सामयिक और राष्ट्रीय—

समय और परिस्थितियों को देखते हुए द्विवेदी-युग में सामयिक और राष्ट्रीय नाटक लिखे तो बहुत जाने चाहिए थे, लेकिन दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि लेखकों ने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार के नाटकों में देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विवशताओं का चित्रण रहता था। ये नाटक जो कुछ भी हमें दिखाई देते हैं, प्रायः कला और सुरुचि से रहित हैं। इनका यथार्थवाद बड़ा ही दुर्बल है, उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह अपने समय की विषमताओं और दारुणताओं का स्पष्ट चित्र हमारे सामने रख सकें। इनमें तो केवल एक साधारण चरित्र अपने दैनिक जीवन की समस्याओं को लेकर हमारे सामने आता है। जीवन की अनावश्यक बातों की ओर लेखकों का ध्यान अधिक गया, उन्होंने कवित्वपूर्ण भावों और कल्पनाओं को हमारे सामने नहीं रक्खा। लेखकों के हाथ में अनेक मार्मिक स्थल आने पर भी वे हृदयस्पर्शी चित्र नहीं उपस्थित कर सके। यही तो कारण है कि हम उनके पात्रों के साथ बैठकर न तो हँसते हैं, न रोते। द्विवेदी-युग के सामयिक और राष्ट्रीय नाटक ये हैं—प्रतापनारायण मिश्र का

'भारत-दुर्दशा' (१९०२), जीवानन्द शर्मा का 'भारत-विजय' (१९०७), इन दोनों नाटकों में राष्ट्रीय और सामयिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। प्रयागप्रसाद त्रिपाठी के 'हिंदी-साहित्य की दुर्दशा' (१९१४) में उस समय की हिंदी भाषा पर दुःख प्रकट किया गया है। लोचनप्रसाद पाण्डेय के 'छात्र-दुर्दशा' (१९१५) में विद्यार्थियों की बुरी अवस्था पर प्रकाश डाला गया है। मिश्रबंधु के 'नेत्रोन्मीलन' (१९१५) में अदालत और मुक़दमेबाज़ी का सुन्दर चित्रण किया गया है। काशीनाथ वर्मा के 'समय' (१९१७) में तत्कालीन उद्योग-धंधों का चित्र उपस्थित किया गया है। सन् १९२१ ई० के राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित होकर जो नाटक लिखे गये, उनमें जमुनादास मेहरा का 'हिंद' (१९२२), किशनचंद 'ज़ेबा' का 'ग़रीब हिंदुस्तान' (१९२२) तथा 'भारत उद्धार' (१९२२), प्रेमचन्द का 'संग्राम' (१९२२), कन्हैयालाल का 'देश-दशा' (१९२३) और लक्ष्मणसिंह का 'ग़ुलामी का नशा' (१९२४) मुख्य हैं। कला की दृष्टि से प्रेमचंद का 'संग्राम' महत्त्वपूर्ण है, उसमें कृषक-वर्ग की समस्याओं का चित्रण किया गया है। इसमें वातावरण और चरित्र-चित्रण दोनों ही यथार्थ हैं। इसका कथानक 'रंगभूमि' से मिलता-जुलता है।

(७) सामाजिक—

सामाजिक समस्याओं के अन्तर्गत लेखकों ने इस युग में सतीत्व और नारी-आदर्श को लेकर आरम्भ में दो नाटक लिखे पुत्तनलाल सारस्वत का 'स्वतन्त्रा बाला' (१९०३) तथा बलदेवप्रसाद मिश्र का 'नवीन तपस्विनी' (१९०२) इस श्रेणी के नाटकों में उल्लेखनीय हैं। इनसे आगे चलकर जीवन की गम्भीर समस्याओं को लेकर नाटक लिखे गये। इस परम्परा के उल्लेखनीय नाटक हैं आनंदप्रसाद खत्री का 'संसार-स्वप्न' (१९१३), लोचन शर्मा पाण्डेय का 'प्रेम-प्रशंसा' (१९१४), राधेश्याम कथावाचक का 'परिवर्तन'। 'प्रेम-प्रशंसा' में संसार के प्रति उदासीनता का भाव दिखलाया गया है, 'संसार-स्वप्न' में

गार्हस्थ्य-जीवन की सुंदर झाँकी है, तथा 'परिवर्तन' में वेश्यावृत्ति की हानियों का चित्रण किया गया है। सन् १९२१ ई० के बाद लेखकों का दृष्टिकोण व्यापक हो गया, और इसका परिचय हमें, गोपाल दामोदर तामस्कर के 'राधा-माधव' (१९२२), जिसमें कर्मयोग का उपदेश दिया गया है, दुर्गाप्रसाद गुप्त के 'भारत रमणी' जिसमें भारतीय नारी के आदर्शों की ओर संकेत किया गया है तथा रामनरेश त्रिपाठी के 'सुभद्रा' (१९२४ द्वि० सं०) नामक नाटकों से मिलता है। इस युग का एक सामाजिक नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी कृत 'मधुर मिलन' (१९२३) जिसमें गुंडों के हथकंडों का परिचय कराया गया है। यह नाटक सन् १९२० ई० में कलकत्ते में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के शुभ अवसर पर खेला गया था।

(८) व्यंग्य-विनोदपूर्ण—

नाटकों में व्यंग-विनोदपूर्ण नाटकों का बड़ा भारी महत्त्व है। गम्भीर कथानकों के बाद ये नाटक भाव-विश्राम का कार्य करते हैं। इस प्रकार के नाटकों में कोई सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक समस्या लेकर हास्य और व्यंग्य की व्यंजना होती है। इन्हें प्रहसन भी कहते हैं। द्विवेदी-युग के आरम्भ में दो प्रहसन लिखे गये, बलदेवप्रसाद मिश्र का 'लालाबाबू' (१९००) तथा जसवंतसिंह महाराजा का 'गोबर गणेश' (१९०८), लेकिन ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि ये प्रहसन बहुत छोटे हैं। नाट्य-कला की दृष्टि से न तो इनमें कथा-वैचित्र्य है और न चरित्र-चित्रण। अतिनाटकीय प्रसंगों तथा व्यंग्य-विनोदपूर्ण संलापों की इनमें भरमार है, जिनसे सुरुचि जागृत नहीं होती। आगे चलकर जो सामयिक, राष्ट्रीय और सामाजिक प्रहसन लिखे गये, उनमें इन दोषों के निराकरण का प्रयत्न किया गया। लेखकों ने हास्य-रस-प्रधान नाटकों में विशेष रुचि दिखलाई। गंगाप्रसाद श्रीवास्तव और राधेश्याम कथावाचक से इस कोटि के नाटकों का वास्तविक श्रीगणेश होता है। इन्होंने सामयिक सामग्री के आधार पर अपने नाटकों की रचना की।

सर्वप्रथम जी० पी० श्रीवास्तव ने मोलियर के नाटकों का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया। इनमें 'मार मार कर हकीम' और 'साहब बहादुर उर्फ़ चड्ढा गुलखैरू' विशेष प्रसिद्ध हैं। ये नाटक आदि से अन्त तक शुद्ध तथा सुरुचिपूर्ण हास्य से सम्पन्न हैं। मौलिक हास्य-प्रधान नाटक ये हैं—'उलट-फेर' (१९१८), 'दुमदार आदमी' (१९१९), 'गड़बड़झाला' (१९१९), 'मर्दानी औरत' (१९२०) और 'नोक-झोंक'। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'उजबक' और 'चार बेचारे', बदरीनाथ भट्ट का 'चुंगी की उम्मेदवारी' (१९१४), 'विवाह-विज्ञापन' तथा 'लबड़धोंधों', राधेश्याम मिश्र का 'कौंसिल की मेम्बरी' और सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' भी सफल हास्य-रस-पूर्ण नाटक हैं। इनकी शैली ही हास्यमय है और शब्दों के चुनाव में ऐसी बुद्धिमानी से काम लिया गया है कि उनको पढ़ते ही हँसी आने लग जाती है। इन प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त अन्य छोटे-मोटे लेखकों द्वारा भी इस श्रेणी के नाटक लिखे गये, जिनमें गुरुमुखसिंह का 'नूतन अंधेर नगरी' (१९११), अनंतसहाय अखौरी का 'गृह का फेर' (१९१२), शिवनाथ शर्मा के 'मानवी कमीशन', 'नवीन बाबू', 'बहसी पंडित', 'दरबारी लाल', 'कलियुगी प्रह्लाद', 'नागरी निरादर' तथा 'चण्डूलदास', लोचनप्रसाद पाण्डेय का 'साहित्य-सेवा' (१९१४) तथा 'ग्राम्य-विवाह-विधान' (१९१५), हरद्वारप्रसाद जालान का 'घरकट सूम' (१९२२), गोविंदवल्लभ पंत का 'कंजूस खोपड़ी' (१९२३) और रामदास गौड़ का 'ईश्वरीय न्याय' (१९२५) के नाम लिए जा सकते हैं। इन लेखकों में हास्य उतना शिष्ट तथा सभ्य नहीं है, जितना कि ऊपर के लेखकों का। इस प्रकार यद्यपि इस श्रेणी के नाटक तो बहुत लिखे गये, लेकिन उनमें बहुत ही कम महत्त्वपूर्ण नाटक हैं।

(६) प्रतीकवादी—

द्विवेदी-युग के नाटकों का अन्तिम प्रकार प्रतीकवादी नाटकों का है। इस प्रकार के नाटकों में पात्र व्यक्ति न होकर मानसिक भाव होते

हैं। किशोरीलाल गोस्वामी का 'नाट्य-संभव' (१९०४), जयशंकर प्रसाद का 'कामना', ज्ञानदत्त सिद्ध का 'मायावी' और सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्स्ना' प्रतीकवादी नाटक हैं। इनमें केवल 'कामना', 'मायावी' और 'ज्योत्स्ना' ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'ज्योत्स्ना' में नदी, छाया, तारा, जुगुनू, लहर आदि प्राकृतिक पदार्थ स्त्री-पात्रों के रूप में चित्रित किये गये हैं और उनके द्वारा मानव-समाज की संघर्ष-प्रधान परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार का प्रतीक-वाद कविता में तो शोभा दे सकता है, लेकिन नाटक में नहीं। प्रसाद की 'कामना' और ज्ञानदत्त सिद्ध के 'मायावी' में आया प्रतीकवाद ठीक है। 'कामना' में विलास के साधन किस प्रकार समाज में अशांति उत्पन्न कर देते हैं, इस बात पर प्रकाश डाला गया है। उसमें सन्तोष, विवेक, विलास और विनोद (मानवी भावनाएँ) पुरुष-पात्रों के रूप में और कामना, लालसा, लीला और करुण (अन्य मानवी भावनाएँ) स्त्री-पात्रों के रूप में आई हैं। यह सब लेखक की मानसिक दौड़ और कल्पना का फल है कि इन भावनाओं को अंकित कर उसने अपने नाटक को सर्वकालीन बना दिया है, यद्यपि उसके नाटक जैसे चरित्र हमें देखने को नहीं मिलते। साधारण जनता की दृष्टि में इन नाटकों का मूल्य भले ही न हो, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि साहित्यिक दृष्टि से इनका महत्त्व अधिक है। हिन्दी-नाटकों में प्रतीकवादी नाटक केवल इने-गिने हैं और कामना उनमें सर्वश्रेष्ठ है।

द्विवेदी-युग में नाटकों का इतना विकास हो जाने पर भी ऐसा कोई नाटक देखने में नहीं आता जिसमें उच्च कोटि की साहित्यिकता भी हो और रंगमंच पर उसका सफलतापूर्वक अभिनय भी हो सके। जितना ध्यान नाटकीय विधान की ओर दिया गया, और जितना ध्यान नाटकों के विकास की ओर लगा रहा; यदि उतना ही ध्यान रंगमंच पर लगा होता तो आज हमारा नाट्य-साहित्य क्या से क्या हो जाता, इससे सुन्दर कल्पना और क्या हो सकती है?

(७) उपयोगी साहित्य—

द्विवेदी-युग का उपयोगी साहित्य सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में भरा पड़ा है। कुछ हमें पुस्तकों के रूप में भी उपलब्ध है। लेकिन यह साहित्य उतना उत्तम कोटि का नहीं है, जितना गम्भीर साहित्य। यथार्थ में गम्भीर साहित्य की दृष्टि से ही यह युग 'स्वर्ण युग' के नाम से पुकारा जा सकता है। हिंदी गद्य की सन् १६१४–१६१६ ई० तक जो असाधारण उन्नति हुई, वह प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक रोचक वस्तु है, लेकिन इस गम्भीर साहित्य के ही समानांतर उपयोगी साहित्य की भी सृष्टि होती रही, यह हमें नहीं भूल जाना चाहिए। उपयोगी साहित्य निम्न कोटि का इसलिए है कि सरकार की शिक्षा-नीति और स्कूल, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अँग्रेज़ी था और हमारे उच्च कोटि के प्रतिभा-सम्पन्न लेखक अँग्रेज़ी में ही लिखने-पढ़ने लग गये थे। प्रायः सभी वस्तुओं को वे विदेशी चश्मे से देखने लगे। जिस किसी ने हिंदी में लिखने का प्रयत्न भी किया, तो उसके सामने हिंदी रूपान्तर की समस्या आ खड़ी हुई। अनुवाद के झंझट से बचने तथा अँग्रेज़ी पुस्तकों का अपेक्षाकृत मूल्य अधिक बढ़ जाने के कारण उन्हें पैसे की प्राप्ति भी अधिक हो जाती थी। इन सब कारणों से उच्चकोटि के उपयोगी साहित्य की सृष्टि इस युग में नहीं हो सकी। यह उपयोगी साहित्य उस काल की धार्मिक पुस्तकों, विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकों, भूगोल, इतिहास, जीवन-चरित, पत्र-पत्रिकाओं, अनुवाद आदि में देखा जा सकता है।

द्विवेदी-युग के उपयोगी साहित्य के अन्तर्गत धार्मिक पुस्तकों का सम्बन्ध प्रचीन काल के धर्म-ग्रंथों से है। इन पुस्तकों के द्वारा धर्म के क्षेत्र में तो विकास अवश्य हुआ, लेकिन अन्य क्षेत्र ज्यों के त्यों रह गये। प्राचीन आयुर्वेद, ज्योतिष, दर्शन, पुराण आदि के द्वारा ब्राह्मण लोग जो अपनी जीविका-उपार्जन का प्रश्न हल करते थे, उन्हें यांत्रिक-युग की नवीन भावना तथा वातावरण से एक विशेष आघात पहुँचा।

इसी प्रकार पाश्चात्य सभ्यता के घनिष्ठ सम्पर्क तथा विज्ञान की उन्नति से आयुर्वेदिक सिद्धान्त भी शिथिल पड़ गये—लोगों की आस्था उन पर से हटने लगी। नवीन शिक्षा के अनेक डिग्रीधारी डाक्टर जो चीरा-फाड़ी की विद्या में प्रवीण थे, गली-गली में अपने-अपने अस्पताल खोलकर बैठने लगे। दर्शन, तर्क तथा ज्योतिष सम्बन्धी पुरानी बातें लोगों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध न हो सकीं, केवल इने-गिने लोग ही संस्कृत के भाष्यों और टीकाओं का पठन-पाठन करते थे। हिंदी में दर्शन पर केवल बालगंगाधर तिलक ने 'कर्मयोग' का अनुवाद अवश्य किया, लेकिन अन्य लोगों की दृष्टि इस ओर न जा सकी। इसी प्रकार आयुर्वेद पर भी थोड़ी-बहुत पुस्तकें लिखी गईं। हाँ, धार्मिक पुस्तकें अलबत्ता काफ़ी संख्या में देखने को मिलती हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध आर्य-समाज, सनातनधर्म, वर्णाश्रम-संघ आदि संस्थाओं से है। इन विभिन्न संस्थाओं के संचालक धर्म-प्रचार के उद्देश्य से इन पुस्तकों का प्रकाशन कराते थे। विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकें भी इस युग में खूब लिखी गईं। पारिभाषिक कठिनाई को दूर करने के लिए 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने सन् १९०८ ई० में एक वैज्ञानिक कोष प्रकाशित कराया। इसमें भूगोल, ज्योतिष, गणित, अर्थ-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन और दर्शन प्रायः सभी शब्दों का हिंदी-रूपान्तर देखने को मिलता है। इलाहाबाद की 'विज्ञान-परिषद्' ने भी सन् १९१५ ई० में हिंदी में विज्ञान की पुस्तकें प्रकाशित कराईं। इसी प्रकार शालिग्राम भार्गव और रामदास गौड़ ने विज्ञान पर, महेन्दुलाल गर्ग और त्रिलोकीनाथ ने शरीर-शास्त्र पर और प्राणनाथ टंडन विद्यालंकार तथा मिश्रबंधुओं ने समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। डा० प्राणनाथ टंडन विद्यालंकार आज भी इस कार्य में संलग्न हैं। क़ानून-सम्बंधी 'इंडियन पीनल कोड' का 'ताजीरात हिंद' के नाम से हिंदी अनुवाद भी इसी समय हुआ। आगे चलकर लेखकों की दृष्टि भूगोल की ओर गई। बड़े-बड़े शहरों और नगरों का वर्णन लिखा जाने लगा।

सन् १६०२ ई० में नारायणप्रसाद पांडे ने नैपाल पर एक निबन्ध, सन् १६०४ ई० में रुक्मिणीनंदन शर्मा ने 'लखनऊ ज़िला का भूगोल' और सन् १६०६ ई० में नरेशप्रसाद मिश्र ने 'गोरखपुर ज़िला का संक्षिप्त वृत्तांत' प्रकाशित कराया। भूगोल के अनंतर इतिहास लिखने की परम्परा चली, जिनमें प्राचीन दंत-कथाओं के साथ ही साथ अतिप्राकृत प्रसंगों की अवतारणा होती रही। उदाहरण के लिए हम 'आल्ह खंड' को ले सकते हैं। इतिहास के लिए खुदाई और खोजों का कार्य भी आवश्यक था, क्योंकि भारत का इतिहास समय-समय की राज्य-क्रांतियों और राजनैतिक हलचलों से नष्ट हो चुका था और बहुत-सा अंधकार में पड़ा हुआ था। इस दिशा में कर्नल जेम्स टॉड ने अच्छा कार्य किया। उन्होंने 'राजस्थान' पर प्रथम बार इतिहास लिखा। इससे भारतीय लेखकों को भी प्रेरणा मिली, जिसके फलस्वरूप पहले तो टॉड साहब के इतिहास का हिंदी अनुवाद किया गया। बाद में श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र (मिश्रबंधुओं) ने 'भारतवर्ष का इतिहास' दो भागों में और जापान तथा रूस का इतिहास लिखा। इसी प्रकार मन्नन द्विवेदी ने 'मुसलमानी राज का इतिहास' लिखा। महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इस दृष्टि से अथक परिश्रम किया। उन्होंने 'सोलंकियों का इतिहास' और 'उदयपुर का इतिहास' तीन भागों में प्रकाशित कराया। जोधपुर के पुरातन विभाग के विद्वान् विश्वेश्वरनाथ रेउ ने 'भारत के प्राचीन राज-वंश' नामक पुस्तक लिखी। इनके द्वारा समय-समय पर इतिहास-साहित्य समृद्ध होता रहा। आज भी आप यही कार्य करते रहते हैं। इसी प्रकार चंद्रराज भंडारी ने 'भारत के हिंदू सम्राट्', सुखसम्पत्तिराय भंडारी ने 'जगद्गुरु भारतवर्ष' और सम्पूर्णानंद ने 'सम्राट् हर्षवर्धन' लिखा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत 'प्राचीन-लिपि-माला' तथा श्यामसुंदर-दास कृत 'भाषा-विज्ञान' और मंगलदेव कृत 'तुलनात्मक भाषा-शास्त्र' महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इतिहास की तरह गदाधरसिंह ने 'चीन में तेरह

मास' तथा शिवप्रसाद गुप्त ने 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' नामक पुस्तकें लिखीं, जिनमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों की यात्राओं का वर्णन किया गया है। उपयोगी साहित्य की इन पुस्तकों के द्वारा जनता का सीमित ज्ञान बढ़ने लगा और वे देश-देशान्तर की विभिन्न परिस्थितियों का परिचय प्राप्त करने लगे।

द्विवेदी-युग में कुछ जीवन-चरित्र भी लिखे गये। जैसा कि हम देख चुके हैं द्विवेदी-युग के पूर्व भारतेंदु-युग और भारतेंदु-युग के पूर्व माध्यमिक काल में भी जीवन-चरित्र लिखे जाते थे। लेकिन एक तो उनमें गुणों की व्यंजना होती थी, दूसरे अतिप्राकृत प्रसंगों की भी बहुलता थी और तीसरे वे महाकाव्यों, खंडकाव्यों तथा नाटकों में ही देखने को मिलते हैं। भारतेंदु-युग में जीवन-चरित्रों का रूप कुछ परिवर्तित अवश्य हुआ। द्विवेदी-युग में उसके सब दोष दूर कर दिये गये। पश्चिमी साहित्य के अवलोकन से लोगों ने जीवन-चरित्र-कला को पूर्ण रूप से समझ लिया था, इसलिए उन्होंने उनका अनुकरण अधिक किया जीवन-चरित्रों में सत्य की मात्रा बढ़ने लगी और महापुरुष का जीवन वैज्ञानिक रीति से लिखा जाने लगा। पंडित माधवप्रसाद मिश्र की 'विशुद्ध चरितावली', बाबू शिवनंदन सहाय के 'बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित', 'गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित' तथा 'चैतन्य महाप्रभु का जीवन-चरित', पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के 'राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के जीवन-चरित', बाबू राधाकृष्णदास का 'हरिश्चन्द्रजी का जीवन-चरित्र', रामनारायण मिश्र का 'महादेव गोविन्द रानडे' और माधव मिश्र का 'विशुद्धानंद चरितावली' इस काल के कुछ प्रमुख जीवन-चरित हैं।

अनुवाद का कार्य उतना ज़ोरों से नहीं चला जितना कि भारतेंदु-युग में; क्योंकि इस युग के लेखकों ने मौलिक साहित्य सृजन करने की ओर अधिक ध्यान दिया, इसलिए अनुवादित गद्य जो कुछ भी हमें देखने को मिलता है, वह केवल आरम्भिक वर्षों ही में। सन् १६००-

१९०९ ई० तक जो अनुवाद हुए, वे प्रधानतः संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँग्रेज़ी गद्य के अनुवाद थे। निबन्धों के क्षेत्र में दो अनुवाद ग्रंथ प्रकाशित हुए। पहला पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'बेकन-विचार रत्नावली' है, जिसमें लार्ड बेकन के कुछ निबन्धों का अनुवाद किया गया है। दूसरा पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'निबंधमाला-दर्श' नामक ग्रंथ है, जिसमें चिपलूणकर के मराठी निबन्धों का अनुवाद किया गया है। नाटकों में बंग भाषा के जो अनुवाद किये गये उनमें बाबू रामकृष्ण वर्मा के 'वीर नारी', 'कृष्णकुमारी' और 'पद्मावती' तथा बाबू गोपालराम गहमरी के 'वनवीर', 'बभ्रुवाहन', 'देशदशा', 'विद्या विनोद' और रवीन्द्रबाबू के 'चित्रांगदा' के नाम मुख्य हैं। उनसे आगे चलकर अन्तिम भाग में पंडित रूपनारायण पांडेय ने गिरीश बाबू के 'पतिव्रता', क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के 'खानजहाँ', रवीन्द्र बाबू के 'अचलायतन' तथा द्विजेंद्रलाल राय के 'उस पार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गा-प्रसाद', 'ताराबाई' आदि कई नाटकों के अनुवाद किये। इनकी भाषा शुद्ध हिंदी है और मूल भावों को सही ढंग से व्यक्त किया गया है। अँग्रेज़ी के नाटकों का भी अनुवाद हुआ, जिनमें गोपीनाथ पुरोहित एम० ए० ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया—'रोमियो जुलियट' का 'प्रेमलीला' के नाम से अनुवाद किया गया और इसी प्रकार 'ऐज़ यू लाइक इट' तथा 'वेनिस का बैपारी' भी अनुवादित हुए। प्रेमघन जी के छोटे भाई पंडित मथुराप्रसाद चौधरी ने 'मैकबेथ' का 'साहसेन्द्र साहस' नाम से अनुवाद करने के बाद 'हैमलेट' का एक अनुवाद 'जयंत' के नाम से प्रकाशित किया, जो वास्तव में मराठी अनुवाद का अनुवाद है। संस्कृत के नाटकों का हिंदी में जो अनुवाद हुआ, उनमें लाला सीताराम बी० ए० ने अच्छा काम किया। भारतेंदु-युग से ही उनका काम जारी था, इस युग में धीरे-धीरे उन्होंने 'मृच्छ-कटिक', 'महावीर-चरित', 'उत्तरराम-चरित', 'मालती-माधव', 'मालवि-काग्निमित्र' आदि कई नाटकों का अनुवाद कर दिया। भाव और

भाषा दोनों दृष्टियों से अनुवाद सफल बन पड़े हैं। इसी प्रकार पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणीसंहार' और 'अभिज्ञान-शाकुंतल', बालमुकुंद गुप्त ने 'रत्नावली नाटिका' तथा पंडित सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' और 'मालती-माधव' के अनुवाद प्रस्तुत किये। नाटकों की ही भाँति उनके उत्कृष्ट कोटि के उपन्यास हिंदी में लाये गये। भारतेंदु-युग में बाबू रामकृष्ण वर्मा इस क्षेत्र में अच्छा काम कर चुके थे, इस युग में बाबू गोपालराम गहमरी ने बंगभाषा के कई गार्हस्थ्य उपन्यासों के अनुवाद किये जिनमें 'चतुर चंचला', 'भानमती', 'नए बाबू', 'बड़ा भाई', 'देवरानी जेठानी', 'दो बहिन', 'तीन पतोहू' और 'सास-पतोहू' मुख्य हैं। भाषा चटपटी, वक्रतापूर्ण और मनोरंजक है। मुंशी उदितनारायण लाल ने भी कई अनुवाद किये, जिनमें 'दीप-निर्वाण' नामक ऐतिहासिक उपन्यास मुख्य है। इस युग में बंगभाषा के प्रायः समस्त श्रेष्ठ उपन्यासकारों के उपन्यासों का हिंदी अनुवाद किया गया। रवीन्द्र बाबू के 'आँख की किरकिरी' का अनुवाद भी इसी समय हुआ। इन सब के अनुवादों का श्रेय पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पंडित रूपनारायण पांडेय को है। बंगभाषा से अन्य उर्दू, मराठी और गुजराती के थोड़े-बहुत उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ, जिनमें गंगाप्रसाद गुप्त के 'पूना में हलचल' तथा बाबू रामचंद्र वर्मा के 'छत्रसाल' का नाम उल्लेखनीय है। अँग्रेज़ी से केवल दो-चार उपन्यासों का ही अनुवाद किया गया, जैसे रेनाल्ड्स कृत 'लैला' तथा 'लंदन-रहस्य'। 'टाम काका की कुटिया' का अनुवाद भी इसी समय हुआ। इनके अन्यत्र कुछ शेक्सपियर के नाटकों का हिंदी-रूप सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ, जिसका उल्लेख कहानियों के अन्तर्गत कर दिया गया है। इन अनुवादित गद्य-ग्रंथों ने मौलिक-गद्यकारों को विशेष सहायता पहुँचाई और उन्हें लिखने के लिए प्रेरित किया, इतना हमें अवश्य मानना पड़ेगा।

सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ—

हिंदी-गद्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा पर्याप्त सहायता मिली। साहित्य को शिक्षित जनता की वस्तु बनाने का श्रेय इन्हीं को है। इनके द्वारा ही गद्य की अनेकानेक समस्याएँ हल होती गईं। भाषा की अस्थिरता का विकट प्रश्न, जो द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक वर्षों में दृष्टिगत होता है, पत्र-पत्रिकाओं के ही द्वारा सुलझाया गया। वैसे तो भारतेंदु-युग में पत्रों का जमघट लग गया था, लेकिन उनका सम्बन्ध, जैसा कि कह आये हैं, एक सीमित वर्ग से ही था। इसलिए बहुत-सी पत्रिकाएँ बरसाती नालियों की तरह सिद्ध हुईं। कहने का अभिप्राय यह कि आरम्भ में जो उत्कर्ष दिखाई दिया, उसका सुन्दर निर्वाह नहीं हो सका। द्विवेदी-युग में देश में शांति थी, विद्या का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा था, इसलिए उत्कृष्ट कोटि के पत्र-पत्रिकाओं का चलन होने लगा। कुछ पत्रिकाएँ तो आज तक निकल रही हैं। इनके द्वारा एक ओर भाषा को स्थिरता मिली, दूसरी ओर अच्छी-अच्छी पुस्तकों का प्रचार और विज्ञापन होने लगा। लेकिन एक बात की कमी अवश्य रह गई। इनके द्वारा मौलिक-गद्य की अधिक सृष्टि नहीं हो पाई। पत्रकार सामयिक चर्चाएँ ही अधिक किया करते थे, इस नीति के कारण साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन अधिक नहीं होता था। लेकिन मासिक पत्रों में यह बात देखने को नहीं मिलेगी। मुख्य-मुख्य पत्र ये थे—आज (१९२०, काशी, शिवप्रसाद गुप्त), प्रताप (१९१३, कानपुर, गणेशशंकर विद्यार्थी; युगलकिशोर शास्त्री), वर्तमान (१९२०, कानपुर, भगवानदीन त्रिपाठी), विश्वामित्र (१९१७, कलकत्ता, मातासेवक पाठक), वीर अर्जुन (१९२३, दिल्ली, इन्द्र विद्यावाचस्पति), वीर भारत (कानपुर), और स्वतन्त्र भारत (लखनऊ); धार्मिक एवं दार्शनिक मासिक पत्रों में थे—वैदिक-धर्म (१९१९, औंध, दामोदर सातवलेकर), साप्ताहिक में आर्य मार्त्तण्ड (१९२३, अजमेर. चाँदकरण शारदा), आर्य मित्र (१९००, लखनऊ, श्रीहरिशंकर

शर्मा), साप्ताहिक सनातनधर्मी में श्रीवेंकटेश्वर समाचार (बम्बई, देवेन्द्र शर्मा), जैनधर्मी मासिक में जैनप्रचारक (१९०८, दिल्ली, चिंतामणि जैन), दिगम्बर जैन (१९०८, सूरत, मूलचंद किशनदास कापडियाँ), पाक्षिक जैनधर्मी में खण्डेवाल जैन हितेच्छु (१९२१, इन्दौर, नाथूलाल जैन शास्त्री), खण्डेवाल जैन हितेच्छु (१९२१, किशनगढ़, नैमीचंद बाँकली वाला), जैन-बोधक (शोलापुर, पारसनाथ शास्त्री), साप्ताहिक जैनधर्मी में जैन गज़ट (दिल्ली, बंशीधर शास्त्री), जैनमित्र (१९००, सूरत, मूलचंद किशनदास), वीर (१९२४, दिल्ली, कामताप्रसाद जैन), आध्यात्मिक मासिक पत्रों में कल्पवृक्ष (१९२२, उज्जैन, डा० दुर्गाशंकर नागर), गीतधर्म (बनारस, स्वामी विद्यानंद), विविध साप्ताहिक पत्रों में ज्ञानशक्ति (१९१३, गोरखपुर, योगेश्वर), त्रिमासिक ऐतिहासिक एवं शोध पत्रिकाओं में सम्मेलन-पत्रिका (१९१३, प्रयाग, ज्योतिप्रसाद मिश्र), हिन्दुस्तानी (प्रयाग, रामचंद्र टंडन), नागरी-प्रचारिणी (काशी, श्यामसुंदरदास), साहित्यिक एवं शैक्षणिक मासिक पत्रों में चाँद (१९२३, इलाहाबाद, नंदगोपालसिंह सहगल), माधुरी (१९२१, लखनऊ, रूपनारायण पाण्डेय), सरस्वती (१९००, इलाहाबाद, द्विवेदी), समालोचक (१९०२, जयपुर, चंद्रधर शर्मा गुलेरी), इन्दु (१९०५, काशी, प्रसाद), राजनैतिक साप्ताहिक पत्रों में अभ्युदय (१९०७, प्रयाग, कृष्णकांत, मालवीय), साप्ताहिक राष्ट्रीय पत्रों में प्रताप (१९१३, कानपुर, सुरेशचंद्र भट्टाचार्य), शक्ति (१९२४, यू० पी०, बद्रीदत्त पाण्डेय), सैनिक (१९२३, आगत, शान्तिप्रसाद पाठक), सामान्य साप्ताहिक पत्रों में तिरहुत समाचार (१९०८, मुज़फ़्फ़रजंग), अर्द्ध साप्ताहिक पत्रों में जयाजी प्रताप (१९०५, ग्वालियर, शम्भुनाथ सक्सेना), सामाजिक संस्था-प्रचारक मासिक पत्रों में कान्यकुब्ज (१९०५, लखनऊ, रामशंकर मिश्र श्रीपति), त्यागी (१९०८, मेरठ, रामचंद्र वर्मा), राजपूत (१९०१, आगरा, राजेन्द्रसिंह), स्वास्थ्य-

संबंधी आयुर्वेदमासिक पत्रों में अनुभूतयोगमाला (१९२१, यू० पी०, विश्वेश्वरदयालु वैद्यराज), आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका (१९१२, दिल्ली, आशुतोष मजूमदार), धन्वन्तरि (१९२३, अलीगढ़, देवीशरण गर्ग), पाक्षिक में सुधानिधि (१९०९, प्रयाग, शिवदत्त शुक्ल), वैज्ञानिक मासिक पत्रों में विज्ञान (१९१५, प्रयाग, श्रीरामचरण मेहरोत्रा), बालोपयोगी पत्रों में बालसखा (१९१७, प्रयाग, ललितप्रसाद पाण्डेय), बालविनोद (१९२३, लखनऊ, सरस्वती डालमिया), शिशु (१९१६, प्रयाग), तथा स्त्रियोपयोगी मासिक पत्रिकाओं में थे—आर्य महिला (१९१८, बनारस), जैन-महिलादर्श (१९२१, सूरत, चंदाबाई), मनोरमा (१९२४, प्रयाग, हीरादेवी चतुर्वेदी)। इन सब पत्रों को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि आज और प्रताप (दैनिक) सब पत्रों में उत्तम थे। प्रायः सभी साहित्यिक पत्रों द्वारा हिंदी की सेवा हुई, लेकिन इन सब में द्विवेदी-युग का सर्वश्रेष्ठ और लोकप्रिय मासिक पत्र 'सरस्वती' था जिसके द्वारा द्विवेदी के सम्पादन-काल में गद्य का इतना प्रसार हुआ। हिंदी-गद्य के धुरन्धर विद्वानों के निबंध, कहानियाँ, समालोचनाएँ आदि का प्रकाशन इसी में होता था। इन मासिक पत्रों की भाषा विशुद्ध हिंदी थी। व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ हटाने का श्रेय इन्हीं पात्रों को है। इनसे ही हिंदी-गद्य सीमित वर्ग से बाहर निकल कर व्यापक होने लगा। प्रचलित देशज शब्दों का प्रयोग कर इन पत्रों ने भाषा को एक व्यावहारिक रूप दिया। इन पत्रों के सम्पादक बड़े ही योग्य और अनुभवी थे। अन्य पत्रों का सम्बन्ध धर्म, राजनीति तथा जातीय संस्थाओं से होने के कारण गद्य में कोई सहायता नहीं मिलने पाई। इनका ध्यान भाषा की शुद्धता की ओर जा सका।

इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त जन-साधारण की सहायता के लिए हिंदी कोष भी तैयार किये गये। काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा ने हिंदी-शब्द-सागर प्रकाशित कर (चार खंडों में) हिंदी-पाठक की

कठिनाइयों को दूर कर दिया। इसके बाद गौरी-नागरी-कोष, श्रीधर-भाषा-कोष, शब्दार्थ-पारिजात और हिंदी-शब्द-कल्पद्रुम आदि कई कोष प्रकाशित हुए, जिनके द्वारा हिंदी का विशेष प्रचार हुआ।

इस युग में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार भी खूब हुआ। भारत के कोने-कोने में हिंदी की धूम मचने लग गई। संयुक्त प्रान्त, पंजाब, राजपूताना, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश, बंगाल तथा बिहार आदि सभी प्रांतों में राष्ट्र-भाषा प्रचार के केन्द्र स्थापित हुए। महात्मा गाँधी द्वारा राष्ट्र-भाषा का महत्व बढ़ने लगा। हिंदी-राष्ट्र-भाषा की इन विभिन्न संस्थाओं के द्वारा समय-समय महत्त्वपूर्ण साहित्यिक समारोह होते रहे। 'हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग का नाम इन सब में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रतिवर्ष भारत के किसी मुख्य नगर में सम्मेलन होता था, उसमें प्रायः देश के सभी विद्वान् और साहित्य-प्रेमी उपस्थित होते थे। इस सम्मेलन के द्वारा उच्चकोटि की साहित्यिक पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य होने लगा। इसके अन्यत्र प्रयाग, आगरा, काशी, लखनऊ, नागपुर आदि शहरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, जिनके कारण हिंदी ने जो उन्नति की, वह हमसे छिपी नहीं।

१२

प्रसाद-युग

(सन् १९२५–१९३७ ई०)

भारतेंदु-युग में, जैसा कि हम देख चुके हैं, हिंदी-खड़ी-बोली के गद्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी और उसमें नाटक, निबन्ध, उपन्यास, समालोचना, जीवनी-साहित्य आदि नाना प्रकार की रचनाओं का आरम्भ होने लग गया था। इनके द्वारा उस समय के लेखकों की परिवर्तित विचार-धाराओं का पता लगता है। भाषा में शक्ति और आकर्षण आने लग गया था। गद्य की दृष्टि से भारतेंदु-युग नवीन और पुरातन सभ्यता का एक ऐसा संधि-काल है कि जिसमें नई और पुरानी दोनों रचनाओं का सामञ्जस्य देखने को मिलता है। एक ओर नवयुग की हवा से गद्य-वृक्ष की विभिन्न शाखाओं में यदि चेतनता का आभास मिलता है, तो दूसरी ओर संस्कृत के प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अनुवादों का लोभ बारम्बार लेखकों को सताता रहता है। इस युग के लेखक पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय साहित्य के समुद्र पर अस्ति-नास्ति की नाव में बैठकर किसी अनुपम गद्य-नगरी का अनुसंधान करने अवश्य निकले थे, लेकिन वे यह निर्णय नहीं कर पाये कि उस नगरी तक पहुँचने के लिए कौन से मार्ग का अवलम्बन किया जाय, जो उनके लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा। दूसरे शब्दों में भाषा, रूप और विषय की दृष्टि से हम इसे हिंदी-गद्य का प्रयोगात्मक युग कह सकते हैं, क्योंकि सब कुछ हो जाने के उपरान्त भी व्याकरण-सम्बंधी त्रुटियों और भाषा सम्बंधी दोषों का निराकरण नहीं हो पाया था। संक्षेप में भारतेंदु-युग नवयुग के वातावरण में रहते हुए भी अपने मूल रूप में एक गोष्ठी-साहित्य था, जिसमें गद्य को व्यापकता नहीं मिलने पाई। द्विवेदी-युग

में इन दोषों को दूर किया गया, और हिंदी-गद्य की उन्नति को एक विशेष प्रोत्साहन मिला, लेकिन सन् १६०८ ई० तक विगत परम्परा का, जैसा कि हम देख चुके हैं, विकास होता गया। द्विवेदी-युग के इस अराजकता-काल में (सन् १६००—१६०८ ई० तक) तो कोई सुन्दर मौलिक रचना नहीं लिखी गई, केवल बंगला, संस्कृत और अँग्रेज़ी का ही अनुवाद होता रहा। हाँ, सन् १६०६—१६१६ ई० तक गद्य की भाषा को एक व्यवस्थित रूप दिया गया और व्याकरण सम्बंधी दोष हटा दिये गये। ऐसी दशा में इस युग में जो कुछ भी मौलिक रचनाएँ हमें देखने को मिलती हैं, वे केवल सन् १६१७ ई० से लगाकर सन् १६१८ ई० के अन्दर-अन्दर ही। ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि केवल ये वर्ष ही साहित्यिक गद्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, पर इनमें भी उतना पर्याप्त विकास नहीं होने पाया, जितना कि होना चाहिए था। इसका प्रमुख कारण यह है कि मौलिक रचनाओं का यह आदि-काल था। लेखक काम करने में लगे हुए थे। केवल सात-आठ वर्षों के भीतर उत्कृष्ट मौलिक रचनाएँ लिख डालना एक कठिन कर्म है। अतः जो कुछ उन्होंने लिखा, वह अपूर्ण होते हुए भी अपने में पूर्ण था। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न विषयों की आवश्यकताओं के अनुसार गद्य में विभिन्न शैलियों का जन्म तो हो चुका था, लेकिन उनका पर्याप्त विकास नहीं हो पाया। एक बात और, उच्च प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों ने गंभीर और कवित्त्वपूर्ण भाषा-शैली में अपने विषयों का प्रतिपादन करना अवश्य आरम्भ कर दिया था, लेकिन उनमें से सरल रूप को लेकर किसी ने उत्कृष्ट रचना नहीं की। इन समस्त कमियों की पूर्ति प्रसाद-युग में हुई। वैसे तो इस युग में अनेक उत्कृष्ट कोटि के लेखक हुए, लेकिन उन सब में सब से अधिक साहित्यिक प्रभाव डालने वाले महान् तपस्वी कलाकार प्रसाद ही हमें हमारे दृष्टि-पथ पर दिखाई पड़ते हैं, इसलिए इस युग का नाम 'प्रसाद-युग' रखने का साहस किया गया है। प्रसाद की प्रतिभा सर्वोन्मुखी है—उनकी लेखनी ने गद्य के प्रत्येक क्षेत्र का अभूत-

पूर्व विकास किया है, इस दृष्टि से उनका नाम अन्य लेखकों की अपेक्षा और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। प्रसाद के समय अंग्रेज़ों ने जिस कूटनीति से अपने शासन की जड़ें मज़बूत कर ली थीं, उसकी प्रतिक्रिया होनी आरम्भ हुई। यह बात इस समय की गद्य-रचनाओं के अवलोकन से स्पष्ट रूप से मालूम हो सकती है। साहित्य अपने समय का दर्पण है, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। जब मानव जीवन पर उसका प्रभाव पड़ा, तो भला साहित्य इससे वंचित कैसे रह सकता था? भारत में बंग-भंग ने भारतवासियों की आँखें खोल ही दी थीं, उधर बापू के अथक परिश्रम से काँग्रेस दिन-दिन उन्नति कर रही थी। उसने जनता को दासता के बन्धन से मुक्त होने का पाठ पढ़ा ही दिया था। गोखले, तिलक और मालवीय जैसे उन्हें अनुपम रत्न मिल गये थे, जिनके द्वारा उनका मन्त्र प्रत्येक भारतवासी को सिखा दिया गया था। फिर क्या था, एक व्यापक आन्दोलन होने लगा। जनता स्वातन्त्र्य-संग्राम में कूद पड़ी। उनके सामने शिवाजी, महाराणा प्रताप आदि के आदर्श थे। उसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह अब दासता में नहीं पलेगी—स्वतन्त्र होकर रहेगी। उधर महायुद्ध में अँग्रेज़ों की विजय हो जाने से भारतीय सैनिकों को जो नीचा देखना पड़ा, उसने सब की आँखें खोल दीं। इस घटना ने भारत की स्वतन्त्रता के प्रश्न को और भी उग्र बना डाला। आत्म-विश्वास और महत्त्वाकांक्षा के भाव जागृत होने लगे। कलाकार ने अपनी तूलिका उठाई, उन्हें चित्रित करना आरम्भ किया। महायुद्ध से एक और भी लाभ हुआ, उसके बाद भारत जर्मनी, फ्रांस, रूस आदि यूरोपीय देशों के सम्पर्क में आया और वहाँ के बहुत से आदर्शों से प्रभावित होकर उनका भक्त हो गया। इन देशों के इन आदर्शों को हमारे जीवन तथा साहित्य में स्थान मिलने लगा। दीन-दलितों के प्रति सहानुभूति की भावना भारत में इन्हीं देशों से आई। प्रसाद-युग के लेखकों ने उन्हें अपने साहित्य का विषय बनाया। विज्ञानवाद के इस युग ने राजनीतिक क्षेत्र की ही भाँति सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में

भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिखाए। बुद्धि और विचारों की इतनी प्रधानता रही, कि लोग साधारण से साधारण बात को बिना सोचे-विचारे मानने को तत्पर नहीं हुए। इसीलिए सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में अनेक सुधार हुए और लोगों का ध्यान उनकी कुरीतियों की ओर आकर्षित किया गया। इस प्रकार हम देखेंगे कि इन तीनों क्षेत्रों में बाह्य तथा आंतरिक घटनाओं के द्वारा भारतीय जीवन पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा, जिससे तत्कालीन गद्य-साहित्य भी अछूता न रह सका। प्रसाद-युग के लेखकों ने इन्हीं सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण अपने गद्य में सफलतापूर्वक किया है साथ ही साहित्यिक मूल्य का भी ध्यान रक्खा है। प्रसाद-युग यथार्थ में साहित्य-निर्माण का युग है। हिंदी में मौलिक गद्य का सूत्रपात जितना इस युग में हुआ, उतना और किसी युग में नहीं। यदि इस युग का समय द्विवेदी-युग के अन्तिम सात वर्षों के साथ जोड़ दिया जाय तो इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि हिंदी-गद्य का यथार्थ इतिहास केवल इन वर्षों के (सन् १९१८—१९३७ ई०) मौलिक गद्य का इतिहास है। यदि यह समय 'स्वर्ण-युग' के नाम से पुकारा जाय, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। द्विवेदी-युग में जिन शैलियों का जन्म हुआ, उनका पर्याप्त विकास इस युग में होने लगा। उस युग के अन्तिम सात वर्षों के लेखक इस युग में बड़े उत्साह के साथ कार्य करते रहे। उनके द्वारा विभिन्न विषयों पर उत्कृष्ट रचनाएँ होने लगीं, जिनमें गद्य के चरम विकास के दर्शन होते हैं। भाषा की व्यंजना-शक्ति में अपूर्व वृद्धि हुई। इन लेखकों की रचनाओं के प्रभाव से हिन्दी का प्रचार भारत के कोने-कोने में होने लगा। थोड़े समय के भीतर ही वह बहुत लोकप्रिय बन गई। इस प्रकार शनैः-शनैः वह राष्ट्रभाषा पद की अधिकारिणी बनने लगी, लेकिन आशा का किनारा दूर था, अँग्रेज़ यों ही भारत छोड़ने वाले नहीं थे।

(१) निबन्ध—

द्विवेदी-युग में निबन्ध के विविध रूपों और शैलियों का जन्म हो चुका था, उनमें कुछ निबन्ध भी लिखे गये थे; प्रसाद-युग में आकर उन सब का पूर्ण रूप से विकास होने लगा। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ जाने से इस कार्य में विशेष उन्नति होने लगी, उनमें विशिष्ट विषयों पर निबन्ध लिखे जाने लगे। द्विवेदी-युग में ऐसे निबन्ध बहुत कम लिखे गये थे, पुस्तकों के रूप में तो केवल इने-गिने निबन्ध ही देखने को मिलते हैं। उस युग में पुनः लेखकों को इतना समय ही न मिलने पाया कि वे विविध रूपों और शैलियों का विकास करते। इस युग में अनेक उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध लिखे गये। इनमें द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों के लेखकों ने भी योग दिया और कुछ नवीन लेखकों ने भी। विशिष्ट विषयों पर निबन्ध निकलने के साथ अनेक विविध विषयक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए, गद्य-गीतों का भी बोलबाला रहा और व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्ध भी पर्याप्त संख्या में लिखे गये। संक्षेप में, निबन्ध-साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ।

इस युग में सर्वप्रथम हमारे दृष्टि-पथ पर जयशंकरप्रसाद आते हैं। आपने गद्य के अन्य अंगों की अपेक्षा निबन्ध बहुत कम लिखे हैं, लेकिन जो लिखे हैं, वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रसाद के समस्त निबन्धों को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। पहली श्रेणी के वे पाँच कथा-प्रबन्ध हैं, जो हमें उनके प्रथम निबन्ध-संग्रह 'चित्राधार' (१९१८) में देखने को मिलते हैं। 'चित्राधार' के प्रथम दो प्रबन्धों का कथानक पुराणों से लिया गया है और चूँकि ये उनके प्रारम्भिक जीवन-काल की रचनाएँ हैं, इसलिए उनमें निबन्धों के तत्त्व देखने को कम मिलते हैं। प्रथम प्रबन्ध 'ब्रह्मर्षि' में विश्वामित्र और वशिष्ठ के द्वन्द्व का वर्णन है, दूसरे में स्कन्द और गणेश दोनों में से कौन बड़ा है, इस बात का निर्णय किया गया है। शेष तीन 'प्रकृति सौंदर्य', 'सरोज', तथा 'भक्ति' गद्य-काव्य हैं, जिनकी भाषा और शैली को देखने से यही ज्ञात होता है

कि लेखक आगे के लिए अपना मार्ग ढूँढ रहा है। 'चित्राधार' के बाद ही उनके गहन भावों तथा प्रांजल भाषा से परिपूर्ण निबन्ध हिंदी-पाठकों के सामने आये। इस प्रकार हम देखेंगे कि ज्यों-ज्यों प्रसाद बड़े होते गये, त्यों-त्यों उन पर शिक्षा-दीक्षा, व्यक्तिगत चिन्तन, अनुभूति, कल्पना, रुचि, अनुभव आदि का प्रभाव पड़ता गया। इनके निबन्धों में हमें एक क्रमिक विकास देखने को मिलता है। दूसरी श्रेणी के वे निबन्ध हैं, जो उन्होंने अपने नाटकों की भूमिकाओं में लिखे हैं। चंद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी के भूमिका-भाग को देखने से उनके अन्वेषण-कार्य, अध्ययन तथा विद्वत्ता का परिचय मिलता है। इन भूमिकाओं के अतिरिक्त उनका एक और ऐतिहासिक लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' के नाम से पाया जाता है, जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'इन्द्र' प्राचीन भारत के पहले सम्राट् थे। तीसरी श्रेणी में प्रसाद के वे आठ निबन्ध आते हैं, जो उनके निधन हो जाने के पश्चात् 'काव्य और कला' नामक निबन्ध-संग्रह (१९३९) में प्रकाशित हुए हैं। इसमें 'काव्य और कला', 'रहस्यवाद', 'रस', 'नाटकों में रस का प्रयोग', 'नाटकों का आरंभ', 'रंगमंच', 'आरंभिक पाठ्य काव्य' तथा 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक विषयों पर निबन्ध लिखे गये हैं। इनमें हमें प्रसाद की विकसित निबन्ध-कला के दर्शन होते हैं। इन निबन्धों की भाषा-शैली प्रेमचन्द से बिल्कुल विपरीत है। प्रेमचन्द की भाषा व्यावहारिक और चलती हुई है, प्रसाद की शैली में इसका पूर्णरूप से अभाव है। उनके गद्य का चाहे कोई अंग देखिए, स्पष्ट हो जायगा। प्रसाद में उर्दू शब्दों का पूर्ण बहिष्कार किया गया है। उर्दू के शब्द ही नहीं, हिंदी के व्यावहारिक शब्दों के स्थान पर भी लेखक की रुचि संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर अधिक है। प्रायः सभी गद्यांगों में उनकी भाषा-सम्बन्धी इस मौलिकता के दर्शन होते हैं। संस्कृत की माधुर्यपूर्ण पदावली को लेकर उन्होंने अपनी एक नवीन शैली को जन्म दिया है, इसमें कोई संदेह

नहीं। प्रसाद की शैली कहीं किसी से छिपी नहीं, उस पर उनकी अक्षय छाप है। साधारण पाठकों को वह भले ही क्लिष्ट लगे, लेकिन निष्पक्ष भाव से यही कहना पड़ेगा कि वह हिंदी जानने वालों के लिए न तो सरल है और न दुरूह। मुहावरों का प्रयोग आपकी भाषा-शैली में नहीं किया गया है। भाषा काव्यमयी है, उसमें अलंकारों और अप्रस्तुतों का अनूठा विधान है। इससे भाषा की सौंदर्य-वृद्धि में सहायता मिली है। भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से निबन्ध सुन्दर बन पड़े हैं। उनमें गम्भीर विचारों का ही प्रदर्शन अधिक पाया जाता है, इसलिए ये निबन्ध 'विचारात्मक' श्रेणी में ही आ सकते हैं। वाक्य एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं, विषय-विवेचन में इनके द्वारा अनुपम सहायता मिली है। वाक्य न बड़े हैं, न छोटे। भावों में सर्वत्र दार्शनिकता झलकती है। निबन्धों में खटकने वाली बात है तो केवल यही कि विचारों को सरल ढंग से समझाने का प्रयत्न नहीं किया गया है और कहीं भी हास्य का पुट नहीं दिया गया है। 'छायावाद' तथा 'काव्य और कला' नामक दो निबन्धों की भाषा-शैली के क्रमशः दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) 'छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान, तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति—छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्ति-मयी होती है।'

(२) 'वह आदित्य आलोक-पुञ्ज आँखों में प्रतिष्ठित है। आँखों की प्रतिष्ठा रूप में है और रूप-ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति, हृदय में है। यह निर्वचन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों में रूपत्व का आरोप करता है, क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त रूप है उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। इस दृष्टि से देखने से मूर्त्त और अमूर्त्त की सौंदर्य-बोध-सम्बन्धी दो धारायें अधिक महत्त्व

नहीं रखतीं। सीधी बात तो यह है कि सौंदर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौंदर्य की अनुभूति के साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं, इसलिए अमूर्त्त सौंदर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।'

उपन्यासों और कहानियों के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने कुछ निबन्ध भी लिखे हैं। प्रेमचन्द का गद्य-साहित्य जितना विशद है, उतना हिन्दी में और किसी लेखक का नहीं। उनके निबन्ध-संग्रहों के जो प्रकाशन हुए हैं, वे ये हैं—'कुछ विचार', 'क़मल', 'तलवार और त्याग', 'मौ० शेख़ सादी'। साहित्यिक दृष्टि से 'कुछ विचार' के निबन्ध ही महत्त्वपूर्ण हैं, अन्य प्रारम्भिक काल के हैं। इसमें साहित्य, साहित्यकार, कला, उपन्यास, कहानी तथा यथार्थ और आदर्श जैसे गम्भीर विषयों पर अपने निजी विचार प्रकट किये गये हैं। प्रायः सभी निबन्ध विचारात्मक हैं। बाबू प्रेमचन्द उर्दू-साहित्य से हिंदी में आये थे, इसलिए उनके निबन्धों की कुछ और ही विशेषताएँ हैं। उनकी भाषा व्यावहारिक है, उसमें हमें एक चलता हुआ रूप देखने को मिलता है। प्रेमचंद यद्यपि अपने साथ उर्दू-भाषा-शैली की समस्त विशेषताएँ अपने साथ लाये, तथापि हिन्दी की प्रकृति का उन्होंने सदैव ध्यान रक्खा। यह हमारे लिए एक सौभाग्य की बात हुई। आरम्भ में प्रेमचन्द की भाषा परिष्कृत नहीं थी, भाषा में लचरपन और भावशोधन का अभाव तो था ही, साथ ही व्याकरण की सामान्य भूलें भी कर बैठते थे। विरामादिक चिन्हों का उपयुक्त प्रयोग भी नहीं होता था, इसलिए कभी-कभी अर्थ समझने में भी कठिनाई आ उपस्थित होती थी। इसके अतिरिक्त उसमें प्रांतीयता का भद्दा स्वरूप भी रहता था। उनके आरम्भ की चाहे कोई, रचना देखिए यह बात स्पष्ट हो जायगी। लेकिन इन त्रुटियों के रहते हुए भी प्रेमचन्द की भाषा में जो गुण हैं, वे सहज ही में पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। प्रसाद की गद्य-शैली में जो अभाव था, उसकी पूर्ति प्रेमचन्द ने की। उनकी भाषा भावों के अनुसार अपना

रूप बदलती हुई चलती है। मुहावरों और लोकोक्तियों ने उनकी भाषा में चार चाँद लगा दिये हैं। आरम्भिक रचनाओं में भाषा और भाव-व्यंजना संयत न थी, लेकिन बाद की रचनाओं में त्रुटियों का परिमार्जन होता गया। उनकी प्रौढ़ता देखकर साहित्यिक आश्चर्य होने लगता है। विचारों की स्पष्टता के लिए प्रेमचन्द 'जैसे', 'तैसे', 'मानो' आदि शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं। उनकी समस्त रचनाएँ खिचड़ी भाषा में हुई हैं। स्थूल रूप से हम उसे 'हिन्दुस्तानी' कह सकते हैं, जिसमें हिंदी-उर्दू का सामञ्जस्य रहता है। वाक्य छोटे-छोटे हैं। धाराप्रवाह का सुन्दर निर्वाह किया गया है। यहाँ 'उपन्यास' और 'साहित्य कला का उद्देश्य' में से क्रमशः दो उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) 'उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह क़ायदा है कि चीज़ जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं, उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है, जिस पर सभी लोग सहमत हों।'

(२) 'और, हमारी सारी कमजोरियों की जिम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेमभाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौंदर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमजोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हम में सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य एक शब्द का संकेत इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौंदर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?'

पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी ने साहित्य को अपना विषय बनाकर कुछ उत्कृष्ट कोटि के निबंध लिखे, जिनके दो संग्रह 'मकरन्द-बिन्दु' और 'प्रबन्ध-पारिजात' प्रकाशित हो चुके हैं। आपके निबन्धों पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। निबन्ध-शैली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। इस आलोचनात्मक शैली की यह विशेषता है कि वह भावों तथा विचारों पर समान रूप से प्रभाव डालती हुई तथा भावों को उत्तेजित करती हुई उन्हें आगे बढ़ाती रहती है। कहीं-कहीं भावों में गंभीरता आ जाने के कारण पाठकों को उनकी शैली में क्लिष्टता के दर्शन अवश्य होते हैं, लेकिन साधारणतः उनके विचार स्पष्ट और सुलझे हुए हैं, जिन्हें समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। आपकी व्यंग्यात्मक शैली बड़ी ही मार्मिक होती है। निबन्ध प्रायः विचारात्मक होते हैं और उनका प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। 'नाटक' नामक निबन्ध का यह उदाहरण देखिए—

'हिन्दू-मात्र का यह विश्वास है कि मानव जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्त्व बतलाने के लिए अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपियर भी इस अदृष्ट शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है कि मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचाती है और फिर निष्फलता के खंदक में गिरा देती है।'

श्रीराम शर्मा ने जो निबन्ध लिखे, वे अधिकांश वर्णनात्मक हैं। आपके इन वर्णनात्मक निबन्धों में हृदय की कोमल वृत्तियों का परिचय मिलता है। उनकी वर्णन-शैली में सजीवता तथा रोचकता दोनों गुण विद्यमान हैं। कहीं-कहीं कवित्वमय प्रसंगों ने उनकी शैली को और भी अनूठा रूप दे दिया है। शिकार-सम्बन्धी निबन्ध लिखने में आप विशेष निपुण दिखाई पड़ते हैं। शैलीगत नवीनता तथा उसकी आकर्षण-शक्ति को देखकर ही पद्मसिंह शर्मा ने एक स्थान पर आपके विषय में लिखा

है—'... आपकी वर्णन-शैली सजीव, भाव-विश्लेषण मनोविज्ञान-सम्मत और भाषा विषय के अनुरूप सुघड़ होती है।'... अपने निबन्धों में जहाँ प्राकृतिक वर्णन आये हैं, वहाँ तो आपने कमाल कर दिया है। 'स्मृति' नामक निबन्ध का यह अंश देखिए—

'सायंकाल को जब मैं अकेला जंगल से लौटता हूँ तो डूबते हुए सूर्य की किरणें पूर्व की ओर संकेत करती हुई मानो कहती हैं—शैशव काल में हमारी दृष्टि अपने वर्तमान स्थान की ओर थी, इधर आने को हम उतावली हो रही थीं, पर मध्याह्न के मद के उपरान्त अनुभव हुआ—और अब तो हम विलख रही हैं—कि बाल्यकाल के माधुर्य की पुनः प्राप्ति असम्भव है, ऐ रायफलधारी ! शीघ्र ही आयु ढलने पर तू भी हमारी भाँति बाल्य-काल के लिए विह्वल होकर आँसू बहायगा। अच्छा हो, तू अभी से चेते।,

पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' भी यदा-कदा निबन्ध लिखते रहते हैं। 'प्रबन्ध-पद्म' और 'प्रबन्ध-प्रतिमा' आपके दो निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कवि होने के नाते यद्यपि उनमें उस प्रतिभा के दर्शन तो नहीं होते, लेकिन निबन्धों में सर्वत्र काव्यपूर्ण और गम्भीर विवेचनात्मक शैली पाई जाती है। वाक्यों में तत्सम शब्दों की बहुलता है। निबन्ध अधिकांश भावात्मक हैं। उनमें भावों की ओर इतना अधिक ध्यान दिया गया है कि निबन्धों में एक प्रकार की अस्पष्टता आ गई है। भाषा को व्यावहारिक रूप देने के लिए निराला ने अपनी ओर से उर्दू शब्दों और मुहावरों के साथ ही साथ कहीं-कहीं हास्य और व्यंग्य का प्रयोग भी किया है, लेकिन ऐसा करने पर भी उनके निबन्ध जन-साधारण की समझ से दूर जा पड़े हैं। इन सब बातों का अपनी ओर से प्रयत्न होने के कारण कहीं-कहीं अस्वाभाविकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। 'काव्य में रूप और अरूप' नामक निबन्ध का यह अंश देखिए—

'काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पड़ा। प्राचीन

मालकौश राग की वीर मूर्ति अँग्रेज़ी स्वर में, नायिका के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की ग़ज़लों में मिलने लगा, और बहार तथा आसावरी की लोकप्रियता, थिएटरों की मित्र-हृदय को गुद-गुदाकर बाहरी चपलता से गिरह लगा देने वाली रागिनियों ने ले ली। इसी प्रकार प्राथमिक चित्र भी अपने जातीय पद्य-वैशिष्ट्य की परिखा को पार कर संसार के प्रांगण में नये दूसरे-ही-दूसरे रूप से देख पड़ने लगे। उनके रूप-भाग में कुछ देशीय विशिष्टता रह गई; पर अरूप-भाग से वे मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति बन गये। अरूप-अंश, वर्णना-भेद के रखने पर भी, पूर्ववत् अक्लेद रहा, रूप-अंश ने जातीय विशिष्टता को रखते हुए संसार की सभ्यता से भी सहयोग किया।'

इस युग के नवीन लेखकों में शांतिप्रिय द्विवेदी ने भावात्मक तथा विचारात्मक निबन्ध लिखकर केवल थोड़े समय के भीतर ही विशेष ख्याति प्राप्त कर ली। 'हमारे साहित्य के निर्माता', 'कवि और काव्य' तथा 'साहित्यिकी' में आपके उच्चकोटि के निबन्ध संग्रहीत हैं। शांतिप्रिय के निबन्धों की प्रमुख विशेषता उनकी क्रमबद्धता है। उनकी दृष्टि 'वाद' के 'विवादों' में न पड़कर लोक-कल्याण के हित की ओर लगी रहती है। उनके निबन्धों के शब्द-चित्र इतने सुन्दर हैं कि हमारे सम्मुख एक दृश्य झूमने लग जाता है। निबन्धों की पृष्ठभूमि न तो संस्कृत साहित्य से ली गई है और न अँग्रेज़ी साहित्य से ही। उन्होंने अपनी मननशीलता एवं बौद्धिक स्तर के द्वारा आलोचना के आदर्श स्थापित किये हैं। उनकी विवेचन-शैली साहित्य के प्रायः समस्त पहलुओं को स्पर्श करती हुई चलती है। शांतिप्रिय ने आधुनिक हिंदी-साहित्य पर जितने अधिक निबन्ध लिखे हैं, उतने और किसी ने नहीं, इसलिए वे आज के विद्यार्थी के सच्चे हितैषी हैं। आचार्य शुक्ल की तरह उनमें विचारों की गहराई नहीं, फिर भी एक नवीन शैली में विचारों को प्रकट करने की अद्भुत शक्ति है, यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा। उनकी विवेचना-शैली, उनके शब्द-चित्र और उनके सुन्दर भावों ने उन्हें

एक सफल निबन्ध-लेखक बना दिया है। संक्षेप में, हमारे प्राचीन निबन्ध-लेखकों के अभावों की पूर्ति करने वाले लेखकों में शांतिप्रिय द्विवेदी का स्थान बहुत ऊँचा है। 'प्रेमपूर्ण मानवता की पुकार' में वे लिखते हैं—

'कवि अपनी कल्पना के पंखों से, इसी विश्व के गीत लेकर अनन्त आकाश में उड़ता है और उन्हें मुक्त व्योम में बिखराकर अपने भाराक्रान्त हृदय को हलका कर फिर अपने विश्व-नीड़ में लौट आता है। इसी से कवि को विश्राम और स्वास्थ्य मिलता है और स्वस्थ होकर वह नूतन प्रभात में, नूतन हृदय से नित्य नूतन संसार का स्वागत करता है। यदि ऐसा न हो तो कवि भी अन्य सांसारिक प्राणियों की भाँति ही, विश्व के कोलाहल में ही अपने आप को खो दे तथा उसके द्वारा संसार को वे अमृत गीत न मिलें, जिनके सरल शीतल स्रोत में बहकर मानव-जगत् अपने सन्तप्त प्राणों को कुछ क्षण जुड़ा लेता है।'

शांति-निकेतन के हिन्दी-अध्यापक हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने समालोचना-क्षेत्र की तरह निबन्ध-जगत् भी अपने लिए एक विशेष स्थान बना लिया। विचारात्मक निबन्ध-लेखकों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी भाषा, भाव और विचार प्रकट करने की शैली में एक ऐसा अनूठा मेल है कि पाठक का ध्यान इनके विषय की ओर स्वयं ही आकर्षित हो जाता है। भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, कहीं-कहीं अत्यन्त प्रचलित देशज शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। भाषा संस्कृत-प्रधान होने पर भी श्यामसुंदरदास की तरह उसमें अव्यावहारिकता नहीं आने पाई है। भाषा सरल है और विषयों के अनुकूल ही अपना रूप बदलती रहती है। मुहावरों का प्रयोग आपने नहीं किया है। आपके निबन्धों से गम्भीर अध्ययन और तार्किक बुद्धि का अद्वितीय परिचय मिलता है। कहीं-कहीं अँग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग से शैली की प्रभावोत्पादकता बढ़ गई है। छोटे और बड़े दोनों प्रकार के वाक्यों पर आपका समानाधिकार है। विचार-विवेचन के स्थल

पर मिश्र वाक्य और भाव-पुष्टि के समय सरल वाक्यों का प्रयोग किया गया है। 'नवीन कविता की कुछ विशेषताएँ' नामक निबन्ध का एक उदाहरण देखिए—

'कविता का आदर्श भूलकर कविगण काव्यानंद को ठीक उसी प्रकार का आनन्द समझने लगे जिस प्रकार का किसी सजे कमरे, नक्काशी, बेल-बूटे आदि को देखने से होता है। अतः वे युक्तियों के अनूठेपन और व्यंजना के वैचित्र्य को ही साध्य समझने लगे। भाव की सचाई, वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण की ओर उनकी दृष्टि न रही। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अप्रस्तुत रूपविधान में ही कल्पना का प्रयोग होने लगा। यह प्रवृत्ति योरुप से भारत में आई है, जिससे सबसे पहले बंगला साहित्य प्रभावित हुआ और बंगला की नकल से हिंदी-कविता में भी ये ही बातें आ गई हैं।'

प्रसाद-युग में हरिभाऊ उपाध्याय, स्वामी सत्यदेव और देवशर्मा 'अभय' के निबन्ध भी विशेष महत्त्व के हैं। हरिभाऊ के निबन्ध तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक विचारधाराओं से ओतप्रोत हैं। इनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। 'बुद्‌बुद्' में ऐसे ही निबन्ध देखने को मिलते हैं। स्वामी सत्यदेव ने इस युग में अनेक जोशीले लेख लिखे, जिनमें उनके उन्नत राष्ट्रीय विचार पाये जाते हैं। भाषा ओजस्विनी है। देवशर्मा 'अभय' के निबन्ध विचार-प्रधान हैं, जो स्वच्छंद प्रणाली पर लिखे गये हैं। इसी प्रकार अन्य लेखकों में जैनेन्द्र कुमार के 'जैनेन्द्र के विचार', रघुवीरसिंह के 'बिखरे फूल', माधव मिश्र के 'निबन्ध माला' आदि संग्रहों के नाम लिये जा सकते हैं, जिनमें जीवन तथा जगत् की विविध समस्याओं पर विचार प्रकट किये गये हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, रूपनारायण पाण्डेय, रामचन्द्र वर्मा, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, इलाचन्द्र जोशी, माधव सप्रे, गंगाप्रसाद पाण्डेय आदि लेखक भी पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर अपने निबन्ध प्रकाशित कराते रहे, जिससे निबन्ध-साहित्य का अभूतपूर्व

विकास होने लगा।

निबन्ध-साहित्य का वह रूप जो गद्य-गीत के नाम से पुकारा जाता है, प्रसाद-युग में आकर विशेष उन्नति करने लगा। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि इस क्षेत्र में विशेष रुचि से कार्य करते रहे। निःसंदेह इस युग में कवित्वमय निबन्धों का पर्याप्त विकास हुआ। इन लेखकों की गद्य-शैली से हम पूर्व परिचित हैं, अतः यहाँ उसकी विशेषताओं का उल्लेख न कर उनके गद्य-गीतों के संग्रह का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। रायकृष्णदास के 'छायापथ' और हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' के 'प्रार्थना' तथा 'ठंडे छींटे' आदि संग्रहों में इस प्रकार के निबन्धों का चरम विकास देखने को मिलता है। 'वियोगी हरि' के 'ठंडे छींटे' (१९३२) में जो गद्य-गीत रक्खे गये हैं, वे हमारे साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। इस स्थल पर एक उदाहरण अनुपयुक्त न होगा—

'आँखें तुम्हारी फूट गई हैं क्या ? ओ दुर्बल विलासियो ! जानते हो, तुम्हारे ये भारी-भारी भव्य भवन किस नींव पर खड़े हैं ? क्या सैंकड़ों गृह-विहीन ग़रीबों की छाती की हड्डियाँ इन ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं के नीचे नहीं बिछी हुई हैं ? और, उन्हीं के रक्त के गारे से क्या ये सारे ईंट-पत्थरों के जोड़ नहीं लगे हुए हैं ? उन आहत अनाथों की आहें क्या इन खूबसूरत झरोखों से नहीं आ रही हैं ? इतने पर भी, ओ राम औ, रहीम के उपासको ! तुम क्या सोचकर इन भीषण हत्यागृहों में सुख-शांति मनाते हुए निवास कर रहे हो ?'

उपरोक्त लेखकों की शैली के अनुकरण पर कुछ अन्य लेखकों ने भी इस क्षेत्र में कार्य करना आरम्भ किया, जिनमें सद्गुरुशरण अवस्थी का 'भ्रमित पथिक' (१९२९), दुर्गाशंकरप्रसादसिंह का 'ज्वालामुखी' (१९२९) और शांतिप्रसाद वर्मा का 'चित्रपट' (१९३२) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों के निबन्धों में भी रहस्यवादी तथा छायावादी भावनाओं का चित्रांकन हुआ है। कहीं-कहीं देश की सामाजिक,

धार्मिक तथा राजनीतिक दुर्बलताओं की ओर व्यंग्य भी कसे गये हैं और कहीं-कहीं देश के पुनरुत्थान के लिए ईश्वरीय वन्दना भी की गई है। इस प्रकार के गद्य-गीतों से गद्य-शैली को स्फूर्ति मिली, उसके जीवन में नव-संचार हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हास्य-प्रधान निबन्धों की पहले की अपेक्षा उन्नति अवश्य हुई, लेकिन फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उसकी उतनी उन्नति नहीं हो पाई, जितनी होनी चाहिए थी। हास्य-प्रधान निबन्धों की ओर न-मालूम हिन्दी-लेखकों की दृष्टि उतनी क्यों नहीं जाती, जितनी अन्य अंगों की ओर। हास्य-रसात्मक निबन्धों में केवल दो लेखक ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—पंडित विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (विजयानंद दुबे) और अन्नपूर्णानन्द। कौशिक के 'दुबेजी की चिट्ठी' और 'दुबेजी की डायरी' का हिन्दी-संसार ने विशेष आदर किया। इन निबन्धों का सम्बन्ध प्रधानतः देश की सामाजिक व्यवस्था से ही है, जिनमें व्यंग्य की मात्रा का आधिक्य है। अभिप्राय यह है कि इन लेखकों का हास्य कोरा हास्य ही नहीं वरन् उसमें व्यंग्य भी साथ-साथ चलता है। शुद्ध हास्य को लेकर कौशिक ने बहुत ही कम निबन्ध लिखे हैं, पर अन्नपूर्णानन्द में हमें शुद्ध हास्य के दर्शन अवश्य होते हैं। शैली सरल और सुबोध है। संलाप-शैली में हास्य-रस की जो अवतारणा हुई है, उसमें लेखक अपने समकालीन बहुत से लेखकों को पीछे छोड़ जाता है। यहाँ विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'दुबेजी की संपादकी' का यह अंश देखिए—

'अच्छी बात है। तो बस आप मनोरंजन ही लिखिये। पर ऐसा लिखियेगा कि जिसको पढ़कर मुझे भी हँसी आ जाय।'

'मैं ऐसा मनोरंजन लिख सकता हूँ कि जिसको पढ़कर गधे तक हँसने लगें, आप तो कोई चीज़ नहीं हैं। परन्तु आपको कभी हँसी आती भी है ?'

'क्यों ? इसका क्या मतलब ?'

'आपका चेहरा तो यह कहता है कि हँसी कभी आपके मुहल्ले से भी न निकली होगी। पितृपक्ष का जन्म तो नहीं है आपका ?'

'जी नहीं, मैं हँसता हूँ और ख़ूब हँसता हूँ।'

'बिला वजह ?'

'इस पर सम्पादक जी ने इस प्रकार घूरकर देखा मानो खा जायेंगे। मैंने बात का प्रसंग बदलने के लिए कहा—मनोरंजन लिखवाना है तो शहर के सेठ-साहुकारों पर, म्यूनिसिपेलिटी के मेम्बरों पर लिखवाइये तो कुछ आनन्द भी आवे। ऐसी फब्तियाँ जमाऊँ कि याद करें।'

अन्य विनोद-व्यंग्यपूर्ण निबन्ध-संग्रहों में गुलाबराय के 'ठलुआ क्लब', कैलाशचन्द्र के 'विदूषक' तथा कान्तानाथ चोंच के 'टालमटोल' आदि का नाम लिया जा सकता है। इन सबमें 'ठलुआ क्लब' का हास्य विशेष सुन्दर है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि इस प्रकार के निबन्धों का अधिक विकास नहीं हो सका।

समालोचना—

द्विवेदी-युग में समालोचना-साहित्य की चार धाराएँ—(१) साहित्य-समीक्षा (Literary Reviews) (२) खोज और अध्ययन (३) समालोचना-सिद्धांत तथा (४) गम्भीर समालोचना, हिन्दी-साहित्य में बहने लग गई थीं और उसके अन्तिम वर्षों में कुछ योग्य समालोचकों के द्वारा इन विभिन्न धाराओं की गति भी मिल गई थी, लेकिन उन्हें इन सबके विकास के लिए पर्याप्त अवकाश नहीं मिल पाया, इसलिए समालोचनारूपी वृक्ष का प्रस्फुटन तो अवश्य हुआ, लेकिन वह पनप न सका। यह काम प्रसाद-युग में आकर पूरा हुआ। इस वृक्ष को प्लावित करने वाले कुछ महानुभावों से तो हम अवगत हो ही चुके हैं जैसे मिश्रबन्धु, बाबू श्यामसुंदरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि, कुछ इस युग में आगे आये और बड़ी तत्परता से काम करने लगे। इन दोनों युगों के समालोचकों के द्वारा यह कार्य सुचारु रूप से

सम्पन्न हुआ और समालोचना-साहित्य अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। समालोचकों ने प्राचीन तथा नवीन दोनों लेखकों पर समालोचनाएँ लिखकर अपनी उदार भावना का परिचय दिया। प्राचीन काव्य तथा आधुनिक काव्य को लेकर साहित्य के इतिहास लिखे गये। समालोचना-सिद्धांत को लेकर अनेकों महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। खोज और अध्ययन का कार्य अब केवल लेखकों के द्वारा ही नहीं हुआ, वरन् विश्वविद्यालयों के अध्यापक तथा उत्साही छात्र भी इस काय में जुट गये। संक्षेप में, समालोचना-साहित्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

इस युग में प्रायः प्रत्येक साहित्यिक साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र में प्राचीन तथा नवीन लेखकों पर समीक्षाएँ प्रकाशित होती रहीं। बहुत से सम्पादकों ने तो पृथक् रूप से एक स्तम्भ ही बना दिया, जिसके अन्तर्गत कोई एक ऐसी समीक्षा का देना अनिवार्य हो गया। इनसे पाठकों का ध्यान विशेष रूप से कवि की ओर आकृष्ट होने लगा। इन समीक्षाओं ने पाठकों में काव्य पढ़ने की रुचि जागृत की। इनका यह क्रम आज भी अप्रतिहत रूप से चला आ रहा है। इनके अतिरिक्त प्राचीन तथा नवीन कवियों पर गुण-दोष वाली प्रणाली पर अनेक समालोचनाएँ प्रस्तुत की गईं। प्राचीन कवियों में हमारे समालोचक कबीर, मीरा, सूर, तुलसी, रहीम, भूषण, देव आदि का मोह नहीं छोड़ सके। इनमें से बहुत सी पुस्तकों में तो समालोचनाएँ भूमिकाओं के रूप में लिखी गईं। उदाहरणार्थ—सूर के समस्त पदों में से अपनी रुचि के अनुकूल कुछ पद छाँट दिये और भूमिका में लेखक ने सूर की कविता के प्रति अपने विचार प्रकट कर दिये। अधिकांश में ऐसा विभिन्न कक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों को तैयार करने में किया जाता था और छात्र की बुद्धि-सीमा को भी अपने दृष्टि-पथ पर रक्खा जाता था।* प्राचीन

* यह चिन्ह 'संकलन' के परिचायक हैं, जिसमें संकलन-कर्त्ता की ओर से भूमिका के रूप में कवि के प्रति अपने विचार प्रकट किये जाते थे।

कवियों पर इस युग में जो समालोचनाएँ लिखी गईं, वे ये हैं—रामकुमार वर्मा की 'कबीर का रहस्यवाद' (१९३१), भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र की 'मीरा की प्रेम साधना' (१९३४), श्यामपति पाण्डेय की 'मीरा' (१९३४), मुरलीधर श्रीवास्तव की 'मीराबाई का काव्य' (१९३९), लाला भगवानदीन की 'सूर पञ्चरत्न ॐ' (१९२७), 'तुलसी पञ्चरत्नॐ' (१९२७), 'रहिमन शतकॐ' (१९२८) तथा 'केशव पञ्चरत्नॐ' (१९२९); सत्यजीवन वर्मा की 'सूरदास-नयनॐ' (१९३७), श्यामलाल की 'बालकाण्ड का नया जन्म' (१९२७), रामचन्द्र द्विवेदी की 'तुलसी साहित्य रत्नाकर' (१९२९), श्यामसुंदर-दास की 'गोस्वामी तुलसीदास' (१९३३) तथा 'तुलसी संदर्भ' (१९३६); विश्वेश्वरदत्त शर्मा की 'मानस-प्रबोध' (१९२७) बलदेवप्रसाद मिश्र की 'तुलसी-दर्शन' (१९३४), महावीरप्रसाद मालवीय की 'तुलसी-ग्रंथावलीॐ' (१९२६), शीतलासहाय सामन्त की 'मानस-पीयूष' (१९३०), डा० सूर्यकांत शास्त्री की 'तुलसीरामायण-शब्द-सूची' (१९३७), अयोध्या प्रसाद शर्मा की 'रहिमन विनोदॐ' (१९२८), अनूपलाल मण्डल की 'रहिमन सुधाॐ' (१९२८), मायाशंकर याज्ञिक की 'रहीम-रत्नावली,ॐ' (१९२८), ब्रजरत्नदास की 'रहिमन-विलासॐ' (१९२८), कृष्णशंकर शुक्ल की 'केशव की काव्य-कला' (१९३४), भगीरथप्रसाद दीक्षित की 'भूषण विमर्श' (१९३९), कृष्ण बिहारी मिश्र की 'मतिराम ग्रंथावली ॐ' (१९२६), विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'बिहारी की वाग्विभूति' (१९३६) तथा 'पद्माकर-पंचामृतॐ' (१९३९), लोकनाथ द्विवेदी की 'बिहारी दर्शन' (१९३७), मिश्रबन्धु की 'देवसुधाॐ' (१९३९), गंगाप्रसादसिंह की 'पद्माकर की काव्य-साधना' (१९३४) और बटुकनाथ शर्मा की 'रसिक गोविंद और उनकी कविता' (१९२६ ई०) इनमें लाला भगवानदीन, श्यामसुंदरदास, बलदेवप्रसाद मिश्र, ब्रजरत्नदास, कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र और मिश्रबन्धु की समालोचनाएँ

विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें कवियों के साथ बड़ी ही सहृदयता से विचार किया गया है। प्रायः प्रत्येक समालोचना एक विशेष दृष्टिकोण से लिखी गई है। इनमें कवि के किसी ऐसे अंग-विशेष पर जिस पर किसी अन्य समालोचक की दृष्टि नहीं गई है, अपने विचार प्रकट किये गये हैं। यथा, बलदेव प्रसाद की 'तुलसी-दर्शन' में लेखक की दृष्टि जितनी तुलसी के दार्शनिक सिद्धांतों की ओर गई है, उतनी अन्य पत्तों की ओर अपेक्षाकृत कम। प्रायः सभी समालोचकों ने काव्य को विभिन्न परिच्छेदों में विभक्त कर कवि के गुण-दोषों का अच्छा विवेचन किया है और उन पर वैज्ञानिक ढंग से समालोचनाएँ प्रस्तुत की हैं। भाषा सभी की समर्थ है। कवियों पर निष्पक्ष भाव से विचार प्रकट किये गये हैं। सूर, तुलसी और जायसी की समालोचनाएँ कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जो आदर्श स्थिर किया था, उससे प्रभावित होकर अल्प समय में ही अन्य लेखकों ने साहित्य के इस अंग को सबल बना दिया।

प्राचीन कवियों के साथ ही साथ समालोचकों का ध्यान आधुनिक कवियों पर भी गया और उन पर अच्छी-अच्छी समालोचनाएँ लिखी जाने लगीं। इन समालोचनाओं के भी दो रूप हैं—एक सम्पादन का, दूसरा अध्ययन का। सम्पादन में तो विशेष ज़ोर नहीं पड़ता, जितना अध्ययन पर समालोचना लिखने का। इसलिए सम्पादन जो कुछ भी हुए, वे इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सम्पादन करते समय सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की होती है कि यह सर्वमान्य वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर हो और उन्हीं को दृष्टि में रखकर भूमिका-भाग लिखे जायँ। लेकिन अधिकांश समालोचकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। किसी ग्रंथ का अध्ययन कर उस पर स्वतन्त्र रूप से तो समालोचनाएँ कुछ हद तक सफल रहीं। जिन आधुनिक लेखकों पर समालोचनाएँ लिखी गईं। उनके नाम ये हैं—ब्रजरत्नदास की 'भारतेंदु हरिश्चन्द्र' (१९३५) तथा 'भारतेंदु ग्रंथावली*' (१९३४), रामचन्द्र शुक्ल की 'भारतेंदु साहित्य*' (१९२९), लक्ष्मीकांत तिवारी की 'पूर्ण

संग्रह*' (१९२९), श्यामसुंदरदास की 'राधाकृष्ण ग्रंथावली*' (१९३०) तथा 'रत्नाकर*' (१९३१), गिरिजादत्त शुक्ल की 'महाकवि हरिऔध' (१९३४), कृष्णशंकर शुक्ल की 'कविवर रत्नाकर' (१९३५), कृष्णकुमारलाल की 'युगल जोड़ी' (१९३१), बनारसीदास चतुर्वेदी की 'कविरत्न सत्यनारायण जी' (१९२८), लज्जाराम शर्मा की 'आपबीती+' (१९३४), पारसनाथसिंह की 'पद्म-पराग*' (१९२९), गिरिजादत्त शुक्ल की 'गुप्तजी की काव्य-धारा' (१९३१), गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' की 'गुप्तजी की कला' (१९३७), कृष्णानंद गुप्त की 'प्रसादजी के दो नाटक' (१९३३), नगेन्द्र की 'सुमित्रानन्दन पंत' (१९२८), मोहनलाल महतो की 'धुँधले चित्र+' (१९३०) और श्रीरामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' की 'प्रसाद की नाट्य-कला' (१९३१)।

इनमें ब्रजरत्नदास, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास, कृष्णशंकर शुक्ल, बनारसीदास चतुर्वेदी, कृष्णानंद गुप्त तथा नगेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संपादन करने में रामचन्द्र शुक्ल अद्वितीय रहे। उनमें समालोचना के समस्तगुणों के दर्शन होते हैं। श्यामसुंदरदास की आलोचनाएँ भी बड़ी गम्भीर रहीं। कृष्णशंकर शुक्ल की समालोचनाओं में भाषा सरस और विषय का प्रतिपादन बड़ी ही सरलतापूर्वक किया गया है। थोड़े समय के भीतर ही उन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। बनारसीदास चतुर्वेदी और कृष्णानंद गुप्त की समालोचनाएँ भी सफल रहीं। नगेन्द्र ने कवि पन्त पर समालोचना प्रस्तुत कर अपने विस्तृत अध्ययन और निष्पक्षता का अनुपम परिचय दिया है।

समालोचना-साहित्य के अन्तर्गत प्रसाद-युग में इतिहास सम्बन्धी छोटी-छोटी समालोचनाएँ भी विद्वान् लेखकों के द्वारा लिखी गईं। ये समालोचनाएँ प्राचीन तथा आधुनिक काव्य और साहित्य के प्रायः सभी

+ स्वयं अपने पर आत्म-कथा के रूप में।

अंगों से सम्बंधित हैं। ऐसी समालोचनाएँ विशिष्ट काव्यों की भूमिकाओं में देखी जा सकती हैं, जिनमें प्रस्तुत विषय की जानकारी के लिए उसके इतिहास पर भी विहंगम दृष्टि से विचार किया गया है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, चरित्र, समालोचना आदि के संकलन प्रस्तुत करते समय संकलन-कर्त्ताओं ने सदैव इस बात का ध्यान रक्खा है। प्राचीन काव्य का संकलन तैयार करते समय लल्लूभाई मगनलाल देसाई ने 'कीर्तन-संग्रह' (१९२६), भागीरथप्रसाद दीक्षित ने 'वीर-काव्य-संग्रह' (१९३०),'भारतीय' ने 'आख्यानत्रयी' (१९३५), तथा श्यामसुंदरदास ने 'सतसई-सप्तक' (१९३१) में ऐसी ही समालोचनाएँ लिखी हैं। इसी प्रकार आधुनिक काव्य तथा प्राचीन काव्य दोनों के सम्मिलित रूप से संकलन निकालते समय उनके भूमिका-भाग में हरि-प्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' ने 'ब्रजमाधुरीसार' तथा 'साहित्य-विहार' (१९२६), गौरीशंकर द्विवेदी ने 'सुकवि-सरोज' (१९२७) तथा 'बुन्देल-वैभव' (१९३४) में संक्षिप्त इतिहास संबंधी समालोचनाएँ लिखीं। ऐसी ही भूमिकाएँ शिवपूजनसहाय के 'प्रेम-पुष्पाञ्जलि' (१९२७), जवाहरलाल चतुर्वेदी के 'आँख और कविगण' (१९३२), मूलचन्द जैन के 'जैन कवियों के इतिहास' (१९३७), ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' के 'स्त्रीकवि-संग्रह' (१९३०), गिरिजादत्त शुक्ल के 'हिंदी-काव्य की कोकिलाएँ' (१९३३) तथा 'व्यथितहृदय' के 'हिंदी-काव्य की कलामयी तारिकाएँ' (१९३६) में पाई जाती हैं। लोक-गीतों के संक्षिप्त इतिहास की यह पुस्तक देखने योग्य है— रामनरेश त्रिपाठी की 'सोहर' (१९३७) कहानी के जो संकलन तैयार किये गये, उनके पूर्व भी रामकृष्ण शुक्ल ने 'आधुनिक हिंदी कहानियाँ' (१९३१), तथा गिरिजादत्त शुक्ल ने 'हिंदी की कहानी लेखिकाएँ तथा उनकी कहानियाँ' (१९३५) में कहानी-साहित्य के इतिहास पर संक्षिप्त विवेचनात्मक विचार प्रकट किये हैं। नाटक पर स्वतंत्र रूप से दो महत्त्वपूर्ण इतिहास लिखे गये, एक विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा 'हिंदी-नाट्य-साहित्य का

विकास' (१९३०) और दूसरा ब्रजरत्नदास द्वारा 'हिंदी-नाट्य-साहित्य' (१९३०) में। निबन्ध-साहित्य का विकास संकलन करते समय और अंगों की भाँति भूमिका-भाग में ही लिखा गया, जिनमें रामावतार पाण्डेय के 'प्रबन्ध पुष्पाञ्जलि' (१९२८), धीरेन्द्र वर्मा के 'परिषद्-निबन्धावली' (१९२९) और श्यामसुंदरदास के 'हिंदी निबंधमाला' (१९३२) नाम लिये जा सकते हैं। जीवनवृत्त को लेकर केवल दो ऐतिहासिक ग्रंथों की ही रचना हो सकी—प्रभुदत्त द्वारा 'भक्त-चरितावली' (१९२९) और कन्हैयालाल द्वारा 'बृहद् भक्तमाल भाषा' (१९३२)। इसी प्रकार समालोचना के इतिहास पर भी अधिक लोगों का ध्यान न जा सका। केवल लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' (१९२६) नामक पुस्तक लिखी।

समालोचना-साहित्य की दृष्टि से प्रसाद-युग की एक और विशेषता अधिक से अधिक और सुन्दर से सुन्दर हिंदी-साहित्य के सामान्य इतिहासों को लिखना है। इनमें हमें विद्वान् लेखकों की विविध खोजों और तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय प्राप्त होता है। इनके द्वारा हिंदी-गद्य और समालोचना-साहित्य दोनों की वृद्धि हुई। इस समय के समालोचना-साहित्य के अध्ययन से हमें यह बात पूर्ण रूप से ज्ञात हो जाती है कि जितने साहित्यिक विवेचनात्मक इतिहास इस युग में निकले, उतने और किसी युग में नहीं। जो-जो सामान्य हिंदी-साहित्य के इतिहास लिखे गये, उनके नाम ये हैं—गंगाप्रसादसिंह का 'हिंदी के मुसलमान कवि' (१९२६), रमाकान्त त्रिपाठी का 'हिंदी-गद्य-मीमांसा' (१९२६), अवध उपाध्याय का 'हिंदी-साहित्य' (१९३०), रामचन्द्र शुक्ल का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (१९३०), श्यामसुन्दर-दास का 'हिंदी भाषा और साहित्य' (१९३०), जगन्नाथप्रसाद शर्मा का 'हिंदी-गद्य-शैली का विकास' (१९३०), रमाशंकर शुक्ल का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (१९३१), श्यामसुंदरदास का 'हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (१९३१), गणेशप्रसाद द्विवेदी का 'हिंदी-साहित्य'

(१९३१), सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिंदी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (१९३१), ब्रजरत्नदास का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (१९३३), शुकदेवबिहारी मिश्र का 'हिंदी साहित्य का भारतीय इतिहास पर प्रभाव' (१९३४); कृष्णशंकरशुक्ल का 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास' (१९३४), गणेशप्रसाद द्विवेदी का 'हिंदी-साहित्य का गद्य-काल' (१९३४), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास' (१९३४), शांतिप्रिय द्विवेदी का 'हमारे साहित्य निर्माता' (१९३५), कमलधारीसिंह का 'मुसलमानों की हिंदी सेवा' (१९३५), गौरीशंकर 'सत्येंद्र' का 'साहित्य की झाँकी' (१९३७) और मिश्रबन्धु का 'हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (१९३७ ई०) हमारे साहित्य का अध्ययन करने के लिए ये इतिहास कितने लाभप्रद हुए हैं, इसका अनुमान तो वे लोग ही लगा सकते हैं, जिन्होंने एक बार इन्हें पढ़ा है। इतना तो हम निःसंकोच कह सकते हैं कि इनमें इन उपरोक्त विद्वान् लेखकों ने काफ़ी परिश्रम किया है और सूक्ष्मदर्शिता के साथ हमारे साहित्य का विवेचन किया है। प्रायः सभी लेखकों का पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण है, और सब ने स्वतंत्र रूप से अपने विचार प्रदर्शित किये हैं। यही कारण है कि इतने इतिहासों को लिखने की आवश्यकता पड़ी। भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। विषय को विभिन्न कालों में विभाजित कर उन्हें सरल रूप से समझाने का प्रयत्न किया गया है। आवश्यकतानुसार काल-विशेष की विभिन्न विचार-धाराओं से भी हमारा परिचय कराया गया है और उनके उदाहरण भी दिये गये हैं। रामचन्द्र शुक्ल, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, रामशंकर शुक्ल, श्यामसुंदर-दास, कृष्णशंकर शुक्ल, ब्रजरत्नदास, मिश्रबन्धु और शांतिप्रिय द्विवेदी अपने विषय को हृदयंगम बनाने में पूर्ण सफल हुए हैं। शेष लेखकों का प्रयास भी प्रशंसनीय है। इन विद्वानों को जितना परिश्रम करना पड़ा है, उतना और किसी को नहीं। इसलिए हम इनके विशेष आभारी हैं। साहित्य में इनका नाम चिर-स्मरणीय रहेगा।

इस युग के समालोचनात्मक ग्रंथों की एक प्रमुख विशेषता उनकी 'तुलनात्मक आलोचना' है। लेखक केवल प्रस्तुत विषय अथवा लेखक के सम्बन्ध में ही अपने विचार प्रकट नहीं करता, वरन् उसके साथ-साथ वह समकालीन लेखकों अथवा कवियों का भी मूल्यांकन करता चलता है। इस तुलनात्मक आलोचना के दर्शन प्रायः प्रत्येक ग्रंथ में होते हैं। इससे हमारे साहित्य को समझने में विशेष सुविधा मिलती है।

हिंदी-साहित्य के इन स्तम्भों के द्वारा अन्वेषण-कार्य ज़ोरों से चलता रहा। श्यामसुंदरदास और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस क्षेत्र में विगत युग की भाँति विशेष रुचि प्रकट की। अन्य विद्वान् भी इस कार्य में संलग्न रहे, पर अन्वेषण-कार्य (Research work) अब धीरे-धीरे फैलने लगा। भारतवर्ष के बड़े-बड़े शहरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना हो गई थी। सौभाग्य से एम० ए० हिंदी-कक्षाएँ भी खुल गई थीं। छात्र-वृंद विश्वविद्यालयों की ओर से सुविधा मिलने के कारण एम० ए० पार कर अन्वेषण-कार्य की ओर लपके। अन्वेषण-कार्य में जुटे रहने वाले छात्रों को 'Research Scholars' कहा जाने लगा और सफलता मिलने पर उन्हें पीएच० डी० तथा डी० लिट्० के पद से अलंकृत किया जाने लगा। छात्रों की भाँति विभिन्न विश्वविद्यालयों और कॉलेजों के अध्यापक-गण भी इस कार्य में प्रवृत्त हुए। उन्हें विशेष सुविधा मिली। इस प्रकार अन्वेषण का कार्य ज़ोर पकड़ने लगा। इन सब बातों का शुभ परिणाम यह हुआ कि हमारे साहित्य का वह अंग जो काल के गर्भ में विलीन होता जा रहा था, प्रकाश में लाया गया। और इस प्रकार हम अपने अनमोल ग्रंथों को सुरक्षित रखने में समर्थ हुए। आज भी अन्वेषण-कार्य दिन-दिन ज़ोर पकड़ रहा है।

प्रसाद-युग के इस उपर्युक्त समालोचना-साहित्य से हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हमारे यहाँ इतिहास-ग्रंथों का कोई अभाव नहीं है। सन् १९१४ ई० के 'मिश्रबन्धु विनोद' से लेकर सन् १९३७ ई० तक

हमारे यहाँ जो समालोचनात्मक ग्रंथ निरन्तर प्रकाशित हो रहे हैं, वे इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। रहा प्रश्न उनके भले-बुरे का, नवीनता का, सो वह हमसे छिपी नहीं है। खोज सम्बन्धी कार्य के अतिरिक्त और सब कार्य तो सुचारु रूप से चला—चला भी आ रहा है; लेकिन अन्वेषण-कार्य का आदि काल होने के कारण हम अधिक आशा भी इस युग में क्या कर सकते थे? सब कुछ होते हुए भी इस युग के समालोचना-साहित्य पर हमें गर्व है। अन्य अंगों की भाँति इसने भी अभूतपूर्व उन्नति की—हमारे लिए क्या यह कम सन्तोष की बात है?

(३) नाटक—

मानव हृदय की चित्तवृत्ति जितनी उपन्यासों और कहानियों में रमने लगती है, उतनी नाटकों में नहीं। कालान्तर में, ज्यों-ज्यों उपन्यासों और कहानियों का विकास होता गया, त्यों-त्यों नाटकों का महत्त्व घटता गया। केवल हिंदी-साहित्य पर ही यह बात लागू होती हो, सो बात नहीं। विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में हमें यही तथ्य देखने को मिलता है। लेकिन इतना होते हुए भी नाटकों का विकास होता रहा है—होता जायगा। सब की रुचि एक समान कदापि नहीं हो सकती। प्रसाद-युग में यद्यपि नाटकों की संख्या उतनी नहीं है, जितनी विगत युगों की, लेकिन हम देखेंगे कि समय और परिस्थितियों के अनुकूल नाट्य-कला कुछ परिवर्तनों के साथ द्विवेदी-युग के नाटकों की विभिन्न धाराओं को अपने साथ लेकर अप्रतिहत रूप से आगे बढ़ती रही। नाटकों के बाह्य एवं आंतरिक दोनों प्रकार के ढाँचों (Structures) को बदला गया। स्वगत भाषण की प्राचीन परम्परा उठा दी गई, लम्बे-लम्बे भाषणों का महत्त्व कम कर दिया गया; पात्र, वेश, प्रदर्शन आदि में भी कुछ नये परिवर्तन लाये गये। इस प्रकार नाट्य-कला निखर उठी। नाट्य-कला को सुधारने वालों में सेठ गोविन्ददास और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाम चिर-स्मरणीय हैं, जिन्होंने चल-चित्रों से प्रभावित होकर अनेक

नवीनताओं का सन्निवेश अपने नाटकों में किया। प्रसाद-युग में अंग्रेज़ी पद्धति के आधार पर एकांकी नाटक भी लिखे जाने लगे। नाटक-साहित्य में, प्रसाद का अन्य क्षेत्रों की भाँति विशेष सहयोग रहा। उनके नेतृत्व में उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों का आविर्भाव हुआ, जो इसी युग की देन है।

पौराणिक नाटक—

द्विवेदी-युग की पौराणिक नाटकों की धारा इस युग में भी अविच्छिन्न रूप से बहती रही। राम-चरित्र को लेकर केवल गोविंददास ने 'कर्त्तव्य' (१९३५) नामक नाटक लिखा। इस क्षेत्र में उन्हें अपना कोई और साथी नहीं मिल सका। इस नाटक के पूर्वार्द्ध में भगवान् रामचन्द्र जी के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार कृष्ण-चरित को लेकर केवल एक यही गोविंददास का नाटक देखने को मिलता है, जिसके उत्तरार्द्ध में श्रीकृष्ण के कर्त्तव्य की रूप-रेखा स्पष्ट की गई है। भगवान् राम और कृष्ण हमारे साहित्य के प्रमुख आधार रहे हैं। भक्ति-काव्य तो सारा का सारा इन्हीं को लेकर लिखा गया है, लेकिन इस युग में लोगों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित न होने का कारण धार्मिक भावों की हीनता है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से लोगों का ध्यान शनैः-शनैः अपने धर्म से उठता गया—उठता जा रहा है। इसीलिए इन नाटकों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल सका। अन्य पौराणिक नाटकों को भगवान् राम-कृष्ण के रूपों की अपेक्षा अधिक स्थान मिला। इस युग में जो अन्य पौराणिक नाटक लिखे गये, उनके नाम ये हैं—बलदेवप्रसाद मिश्र का 'असत्य संकल्प' (१९२५) तथा 'वासना-वैभव' (१९२५), गोविंदवल्लभ पंत का 'वरमाला' (१९२५), जयशंकरप्रसाद का 'जन्मेजय का नागयज्ञ' (१९२६), गोपाल दामोदर तामस्कर का 'दिलीप' (१९२९), जमुनादास मेहरा का मोरध्वज' (१९२९) तथा 'सती चिंता' (१९२९), कामताप्रसाद गुरु का 'सुदर्शन' (१९३१) और उदयशंकर भट्ट का 'अंबा' (१९३५)

'असत्यसंकल्प' में हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के संघर्ष और 'वासना-वैभव' में ययाति के कथावृत्त का उल्लेख है। 'वरमाला' में नाट्य-कला का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। इस नाटक में प्रेम का जो मनोवैज्ञानिक विकास दिखाया गया है, वह उत्कृष्ट कोटि का है। 'नागयज्ञ' आर्यों और नागों की पुराण-प्रसिद्ध घटना को लेकर आगे बढ़ा है, जिसमें लेखक को सफलता मिली है, यद्यपि प्रसाद के अन्य नाटकों के समकक्ष यह नहीं ठहराया जा सकता। 'दिलीप' में कालिदास के 'रघुवंश' की कथा है। 'अंबा' भट्ट जी का एक सफल नाटक है। इन पौराणिक नाटकों में नाट्य-कला की दृष्टि से पहला नम्बर इसी का समझना चाहिए, द्वितीय 'वरमाला' का और तृतीय 'नागयज्ञ' का। शेष नाटक इतने महत्त्व के नहीं हैं। भट्ट जी के 'अम्बा' में पौराणिक पात्र जीवन की विषम परिस्थितियों में अपने उज्ज्वल भविष्य की मंगलकामना करते रहते हैं और हम पर एक गहरी दुःख की छाया छोड़ जाते हैं। अम्बा को भीष्म हरण कर लेता है किसी अज्ञात पुरुष के साथ विवाह कराने के लिए, लेकिन अम्बा उस अज्ञात पुरुष को नहीं चाहती। वह जिसे चाहती है वह और ही व्यक्ति है। भट्ट जी ने वर्तमान और पुरातन स्त्री-पारतन्त्र्य पर इस कथावस्तु को लेकर अच्छा प्रकाश डाला है। उन्होंने भीष्म के गौरव की उपेक्षा कर उस नारी के साथ सच्चा न्याय करने का प्रयत्न किया है, जो निस्संदेह पढ़ने योग्य है।

संत-चरित्रों अथवा महात्माओं को लेकर इस युग में केवल एक ही नाटक जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी द्वारा 'तुलसीदास' (१९३४) लिखा गया। 'तुलसीदास' में नाट्य-कला का अभाव है। दूसरे देशों के महात्माओं पर भी कोई रचना नहीं हो सकी।

ऐतिहासिक—

ऐतिहासिक नाटकों में जितनी ख्याति जयशंकरप्रसाद ने प्राप्त की, उतनी हिंदी-साहित्य में और किसी नाटककार ने नहीं। भारतीय इतिहास में यत्र-तत्र बिखरी सामग्री को एक सूत्र में पिरोकर तथा उन्हें

कल्पना का योग देकर जितना तर्क-संगत रूप में इन नाटकों को प्रसाद ने हमारे सामने रक्खा है, उतना और कोई नहीं कर सका है। अपने नाटक के ऐतिहासिक आधार का स्पष्टीकरण लेखक के इन शब्दों में देखिए—'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है......क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।...मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है'। इस आदर्श को ध्यान में रखकर प्रसाद ने 'स्कंदगुप्त' (१९२८), 'चंद्रगुप्त मौर्य' (१९३१) और 'ध्रुव स्वामिनी' (१९३४) नाटकों की रचना की। 'स्कंदगुप्त' में विक्रमादित्य की जीवन-घटनाओं को लेकर तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति का चित्रण किया गया है। 'चंद्रगुप्त' में भी यही बात पाई जाती है। 'ध्रुव स्वामिनी' में अयोग्य राजा के हाथ में पड़ी नारी के अधिकारों की रक्षा करने के उपाय ढूँढे गये हैं। यह नाटक उस समय के शासकों की दशा का अच्छा चित्रण करता है। ऐतिहासिक नाटकों का चरम विकास प्रसाद में ही देखने को मिलता है। उनके नाटक प्रायः समस्त गुणों से अलंकृत हैं। नाट्य-कला की दृष्टि से 'ध्रुव स्वामिनी' हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। प्रसाद का वस्तु-विन्यास बहुत सुंदर है, उसमें कहीं भी किसी प्रकार का विस्तार-भार नहीं आने पाया है। अंकों और दृश्यों का विभाजन आवश्यकतानुसार हुआ है, इसीलिए उनमें कोई विशेष सिद्धांत नहीं दिखाई पड़ता। चरित्र-चित्रण का तो कहना ही क्या? पात्रों के संलाप कथावस्तु का विकास करते चलते हैं और साथ ही उनके चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता रहता है। प्रसाद के नाटकों की एक मुख्य विशेषता उनका रस-विवेचन है। इसमें वे पूर्ण सफल हुए हैं।

उस बीते युग की कथा में आज की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण करना उनकी अपनी मौलिकता है। भाषा-शैली प्रबल है ही, उससे नाटक ख़ूब ही साहित्यिक हो गये हैं। रंगमंच की दृष्टि से 'ध्रुव स्वामिनी' शेष दो नाटकों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इन नाटकों में नाटकीय विधान के परिवर्तन भी दृष्टिगत होते हैं। प्रसाद के इन तीनों ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय किया गया है। पाश्चात्य पद्धति का अनुशीलन कर प्रसाद ने इन तीनों नाटकों में संघर्ष, सक्रियता और समष्टि-भाव का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा है, क्योंकि वहाँ के विद्वानों के मतानुसार ये ही नाटक के तीन तत्त्व हैं। लेकिन इतना होने पर भी प्रसाद ने भारतीय नाट्य-सिद्धांतों को जिनमें वस्तु, नायक और रस को प्रधान महत्त्व दिया जाता है, अपनाया है। हिंदी-साहित्य में प्रसाद के नाटक, चाहे उनका मूल्यांकन किसी भी दृष्टि से क्यों न किया जाँय, बेजोड़ हैं। अब तक रंगमंच को लेकर उनके नाटकों को साधारण जनता के बीच नहीं लाया गया है। आज वह युग आ रहा है, जिसमें प्रसाद के नाटक खेले जायँगे और जनता उनका आदर करेगी, क्योंकि अब तो हिंदी ही हमारी राष्ट्रभाषा हो गई है। कवित्वपूर्ण शैली में लिखे गये इन तीनों नाटकों में से सर्वश्रेष्ठ 'ध्रुव स्वामिनी' में से महादेवी का यह संलाप देखिए, परिस्थिति के कितना अनुकूल और कथावस्तु के विकास तथा चरित्र-चित्रण में कितना सहायक होता है—

'कितना अनुभूति पूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन! कितने सन्तोष से भरा था! नियति ने अज्ञात भाव से मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन से सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो (ठहरकर) जिस वायु विहीन प्रदेश में उखड़ी हुई साँसों पर बन्धन हो—अर्गला हो, वहाँ रहते-रहते यह जीवन असह्य हो गया था, तो भी मरूँगी नहीं! संसार में कुछ दिन विधाता के विधान में अपने लिए सुरक्षित करा लूँगी। कुमार! तुमने वही किया, जिसे मैं बचाती रही।

तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूँ। ओह, (हृदय पर उँगली रखकर) इस वक्षस्थल में दो हृदय हैं क्या? जब अन्तरंग 'हाँ' करना चाहता है तब ऊपरी मन 'ना' क्यों कहला देता है?'

ऐसे-ऐसे असंख्य उदाहरणों से उनके नाटक भरे पड़े हैं।

प्रसाद के अतिरिक्त इस युग में जो ऐतिहासिक नाटक लिखे गये, उनके नाम ये हैं—उदयशंकर भट्ट के 'चंद्रगुप्त मौर्य' (१६२६), 'विक्रमादित्य' (१६३३) तथा 'दाहर अथवा सिन्ध का पतन' (१६३४); भगवतीप्रसाद पंथारी का 'काल्पी' (१६३४), कुमार-हृदय का 'भग्नावशेष' (१६३६), कैलाशनाथ भटनागर का 'कुणाल' (१६३७) और चंद्रगुप्त विद्यालंकार का 'अशोक' (१६३५) ऐतिहासिक नाटकों में प्रसाद के अनंतर उदयशंकर भट्ट का ही नाम आता है। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और 'विक्रमादित्य' नाटकों का विषय तो प्रसाद के नाटकों से ही मिलता-जुलता है, लेकिन वर्णन-प्रणाली में बहुत बड़ा अन्तर है। प्रसाद के नाटक जितने दार्शनिक विचारों के बोझ से लदे हुए रहते हैं, उतने इनके नहीं। भाषा भी इतनी कवित्वपूर्ण नहीं है, लेकिन इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि भट्टजी में उत्कृष्ट नाटक लिखने की क्षमता है। 'दाहर अथवा सिन्ध का पतन' में लेखक ने ख़लीफ़ा द्वारा की गई सिन्ध-विजय का विषय उठाया है और उसका उचित ढंग से निर्वाह किया है। पौराणिक नाटकों के सदृश ऐतिहासिक नाटकों में भी इन्हें सफलता मिली है। 'कुणाल' में बौद्ध-कालीन संस्कृति का चित्रण किया गया है। 'काल्पी' और 'भग्नावशेष' नाट्य-कला की दृष्टि से अधिक सफल नहीं बन पड़े हैं। 'अशोक' में लेखक सफल कहा जा सकता है।

अंग्रेज़ी शासन-काल के नीचे रहकर हमने अपने ग़ुलामी के दिन जो व्यतीत किये हैं, उनसे भी हमारे बहुत से नाटककार प्रभावित हुए हैं। उस शासन-काल की सामग्री को लेकर इस युग में जो तीन नाटक लिखे गये, उनमें जमुनादास मेहरा के 'पंजाब-केसरी' (१६२८), द्वारकाप्रसाद मौर्य के 'हैदर अली' (१६३४) तथा आरज़ू के 'झाँसी-

पतन (१६२८) नामक नाटकों के नाम लिये जा सकते हैं। इन सब में हमारे शूरवीरों के पराक्रम, त्याग आदि का चित्रण पाया जाता है।

इसी प्रकार मुसलमान-राज्य से सम्बन्ध रखने वाले नाटकों की भी रचना हुई जिनमें कन्हैयालाल का 'वीर छत्रसाल' (१६२५), दुर्गाप्रसाद गुप्त के 'महामाया' (१६२४) तथा 'दुर्गावती' (१६२६), श्यामाकांत पाठक का 'बुंदेलखंड-केसरी' (१६३४), धनीराम प्रेम का 'वीरांगना पन्ना' (१६३४), गोविंदवल्लभ पंत का 'राजमुकुट' (१६३५), उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय-पराजय' (१६३७) और हरिकृष्ण प्रेमी का 'शिवा-साधना' (१६३७) नामक नाटक उल्लेखनीय हैं। प्रायः समस्त नाटक महत्त्व के हैं, क्योंकि उनमें नाट्य-कला का ध्यान रक्खा गया है। धनीराम प्रेम, पंत, अश्क और हरिकृष्ण प्रेमी को इस क्षेत्र में विशेष सफलता मिली है। प्रेमी ने प्रसाद की तरह अपने नाटक में शीलवैचित्र्य और रसविधान का सामञ्जस्य किया है, अन्तर केवल इतना ही लक्षित होता है कि जहाँ प्रसाद ने अपने नाटकों के लिए हिंदू-काल को अपनाया है, वहाँ प्रेमी ने मुस्लिम-काल। गोविंदवल्लभ पंत भी एक अच्छा ऐतिहासिक नाटक लिख देते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। धनीराम प्रेम और अश्क के नाटकों को भी नाटक-प्रेमी जनता ने आदर की दृष्टि से देखा है। शेष लेखकों ने भी नाटकों को सुंदर बनाने का प्रयत्न किया है।

अन्य देशों और जातियों के इतिहासों को लेकर हिंदी-साहित्य में केवल एक ही नाटक लिखा गया और वह भी प्रेमचन्द के द्वारा 'क़र्बला' (१६२५) इसमें धर्म-युद्ध का चित्रण है। नाट्य-तत्त्वों की दृष्टि से यह नाटक सफल नहीं है।

प्रेम-लीला पूर्ण रोमांचकारी—

इस प्रकार के नाटकों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सका, इसलिए इस युग में आकर किसी ने ऐसे नाटक नहीं लिखे। केवल एक ब्रजनंदन-सहाय के द्वारा 'उषाङ्गिनी' १६२५ में लिखा गया। इस नाटक में दोष अधिक हैं, गुण कम। हर्ष के साथ लिखना पड़ता है कि इनकी

संख्या और अधिक नहीं बढ़ी अन्यथा उनका समाज पर जो प्रभाव पड़ता, वह हमारे लिए हितकर न होता।

प्रतीकवादी—

प्रतीकवादी नाटकों की परम्परा का इस युग में कोई विकास नहीं हो पाया। जयशंकरप्रसाद ने 'कामना' तथा सुमित्रानंदन पंत ने 'ज्योत्स्ना' द्वारा प्रतीकवाद के मंदिर का जो द्वार खोला था, उसमें उन लोगों के अतिरिक्त और कोई न जा सका। कला की दृष्टि से प्रतीकवादी नाटकों का लिखना बहुत कठिन है।

सामयिक उपादानों पर लिखे गये नाटक—

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बुरी व्यवस्था देखकर कलाकार का हृदय क्षुब्ध हो उठता है और वह कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि के द्वारा उन्हें दूर करने का प्रयास भी करता है। अभिप्राय यह है कि अपने समय में किसी सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था को बिगड़ते देख सच्चा साहित्यकार चुप नहीं बैठ सकता। विगत युगों की भाँति इस युग में भी हमारे नाटककारों ने इस उद्देश्य को लेकर अनेक नाटकों की रचनाएँ की हैं। अब तक जितने भी सामयिक और राष्ट्रीय नाटक लिखे गये, वे कला और सुरुचि की दृष्टि से अधिकांश में निम्नश्रेणी के ही थे, लेकिन इस युग में आकर उनका रूप बदल गया। सन् १९२१ ई० के बाद जो नाटक लिखे गये, उनमें हमें सच्ची व्यंजना के दर्शन होते हैं, कारण कि सन् १९२१ के राष्ट्रीय आन्दोलन का हमारे साहित्य पर युगान्तकारी प्रभाव पड़ा है।

प्रेमचन्द अपना 'संग्राम' लिख चुके थे, इस युग में उल्लेखनीय नाटक पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' द्वारा 'डिक्टेटर' १९३७ में लिखा गया, जिसमें उस हिटलरशाही का चित्रण है, जिसके नीचे ग़रीब जनता पिसी जाती है।

सामाजिक नाटकों की समस्याएँ अब सीमित न रहकर विस्तृत हो गईं। जीवन की गूढ़ और विषम परिस्थितियों की ओर नाटककारों का

ध्यान जाने लगा। इस प्रकार के नाटकों में उल्लेखनीय नाटकों के नाम ये हैं—ईश्वरीप्रसाद शर्मा का 'रंगीली दुनिया' (१९२६), बलदेवप्रसाद खरे का 'प्रणवीर' (१९२६), छविनाथ पांडेय का 'समाज' (१९२९), जयगोपाल कविराज का 'पश्चिमी प्रभाव' (१९३०), घनानंद बहुगुणा का 'समाज' (१९३०), लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सन्यासी' (१९३१), 'राक्षस का मंदिर' (१९३१), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२), 'राजयोग' (१९३४) तथा 'सिंदूर की होली' (१९३४); नरेन्द्र का 'नीच' (१९३१), आनंदस्वरूप साहब जी का 'संसार-चक्र' (१९३२), प्रेमचंद का 'प्रेम की वेदी' (१९३३), प्रेमसहायसिंह का 'नवयुग' (१९३४) और गोविंदवल्लभ पंत का 'अंगूर की बेटी' (१९३७) इन समस्त नाटकों में 'प्रणवीर','प्रेम की वेदी','अंगूर की बेटी' तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक विशेष महत्त्व के हैं. शेष नाट्य-कला की दृष्टि से इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सामाजिक नाटकों में मिश्रजी का नाम हमारी समझ में सबसे पहले आना चाहिए, क्योंकि उनमें चित्रण की जैसी सच्चाई और अनुभूति है, वैसी और किसी नाटककार में नहीं। 'सन्यासी' में सहशिक्षा से उत्पन्न दुष्परिणामों की ओर संकेत किया गया है। 'राक्षस का मंदिर' तथा 'मुक्ति का रहस्य' नारी-समस्या को लेकर चले हैं, जिनमें आदर्श-प्रेम का चित्रण किया गया है। 'राजयोग' तथा 'सिंदूर की होली' भी नारी-समस्या के ही नाटक हैं, पर उनमें आदर्श-प्रेम का चित्रण नहीं है। 'प्रेम की वेदी' में भी आदर्श-प्रेम की व्यंजना है। नाटक द्वारा प्रेमचन्द ने एक आदर्शवाद की नींव डाली है। इसी प्रकार 'प्रणवीर' में सत्य और धर्म के पालन करने से जीवन कैसा हो जाता है, इसका चित्रण किया गया है। 'अंगूर की बेटी' नाट्य-कला की दृष्टि से उत्तम बन पड़ा है। शेष नाटकों का विषय साधारण है, वही अनमेल विवाह, सतीत्व, आर्यसमाज, अछूतोद्धार आदि आदि।

व्यंग्य-विनोदपूर्ण—

व्यंग्य-विनोदपूर्ण प्रहसनों में लेखकों को अधिक सफलता नहीं मिली।

प्रथम तो साहित्य में शिष्ट हास्य का अभाव है। द्वितीय, हास्य उत्पन्न कराने के लिए लेखकों ने अतिनाटकीय (Supernatural) प्रसंगों और घटनाओं का सहारा लिया है। इस प्रकार इन प्रहसनों में किसी प्रकार की नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। एक बनी-बनाई परम्परा का निर्वाह करने के लिए कुछ प्रहसन अवश्य लिखे गये, जिनमें बदरीनाथ भट्ट का 'विवाह-विज्ञापन' (१९२७), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव का 'भूलचूक' (१९२८), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'चार बेचारे' (१९२९), ठाकुरदत्त शर्मा का 'भूलचूक' (१९२९), बदरीनाथ भट्ट का 'मिस अमेरिकन' (१९२९), सुदर्शन का 'आनरेरी मेजिस्ट्रेट' (१९२९) तथा गंगाप्रसाद श्रीवास्तव के 'चाल बेढ़ब' (१९३४), 'चोर के घर छिछोर' (१९३४) और 'साहित्य के सपूत' (१९३५) आदि के नाम लिये जा सकते हैं। ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि इन प्रहसनों में से केवल दो ही महत्त्वपूर्ण हैं—'चार बेचारे' और 'मिस अमेरिकन'। जी० पी० श्रीवास्तव हास्य उत्पन्न कराने की चेष्टा करते हैं, इसलिए उनमें अस्वाभाविकता आ गई है। सुदर्शन ने परिश्रम किया, पर सफल नहीं हुए हैं। शेष लेखकों के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं है, हास्य सस्ता और निम्नश्रेणी का है। 'मिस अमेरिकन' में भट्ट जी ने हमारे सेठों और अमीरों की ज़ोरदार हँसी उड़ाई है और 'चार बेचारे' में उग्र जी ने अध्यापक, सुधारक, सम्पादक तथा प्रचारक की दुर्बलताओं का परिहास अनोखे ढंग से उपस्थित किया है। जैसा कि स्थल-स्थल पर कहते आये हैं हमारे साहित्य में ऐसा कोई लेखक नहीं हुआ, जिसमें व्यंग्य और हास्य का आदर्श रूप देखने को मिलता हो।

एकांकी नाटक—

एकांकी नाटकों को लेकर कुछ लोगों में यह भ्रम फैला हुआ है कि कला की दृष्टि से इनका महत्त्व अधिक नहीं है। पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। नाट्य-साहित्य में एकांकी का वही स्थान है, जो कथा-साहित्य में कहानी का। इस दृष्टि से नाटक

और उपन्यास एक ओर पड़ते हैं, कहानी और एकांकी दूसरी ओर। उपन्यास और नाटक में जीवन का एक सर्वाङ्गपूर्ण चित्र अंकित किया जाता है, लेकिन कहानी और एकांकी में किसी अंग-विशेष की ही सूक्ष्म झाँकी देखने को मिलती है। आज कहानी ने अपनी पृथक् सत्ता स्थापित कर ली है, ठीक उसी प्रकार एकांकी भी अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है। जीवन की इस दौड़-धूप में हमारे पास इतना अवकाश कहाँ है कि जमकर किसी बृहत् ग्रंथ का अवलोकन करें अथवा दो-चार घंटों के लिए किसी खेल-तमाशे को ही देखें। ज्यों-ज्यों मनुष्य जीवन की विषमताओं में उलझता चलता है, ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से ज्यों-ज्यों उसका जीवन मिश्र (Complex) होता जाता है, त्यों-त्यों एकांकी नाटकों की माँग दिन-दिन बढ़ती जाती है। इसीलिए बड़े नाटकों का स्थान इस समय में आकर एकांकी नाटकों ने ले लिया। नाटक में तो जीवन की एक बृहत् घटना, जिसे नाटककार प्रत्यक्ष करके दिखाता है संवाद, वस्तु और वातावरण द्वारा पुष्ट होती है, लेकिन एकांकी में उनका अंश-विशेष ही विद्यमान रहता है। एकांकी और नाटक का प्रभेद बतलाते हुए उदयशंकर भट्ट ने एक स्थान पर कहा है—'...एकांकी नाटक में जीवन का एक अंश, परिवर्तन का एक क्षण, सब प्रकार के वातावरण से प्रेरित घटना का झोंका—दिन में एक घंटे की तरह, मेघ में बिजली की चमक की तरह, बसन्त में फूल के हास की तरह व्यक्त होता है। पुस्तक में जिस प्रकार चेप्टर (Chapter) का महत्त्व है, वृक्ष में जिस तरह शाखाओं की 'टर्न' (Turn) का महत्त्व है, इसी प्रकार बड़े नाटकों के सामने एकांकी नाटक का भी महत्त्व समझना चाहिए'। मान लीजिए कि हमें चन्द्रगुप्त मौर्य को लेकर एक एकांकी नाटक लिखना है, तो हमें ऐसा नाटक लिखते समय वह स्वतन्त्रता नहीं मिल सकेगी, जो बड़े नाटकों को लिखते समय मिलती है। ऐसी अवस्था में चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन का कोई अंग-विशेष लेकर ही हमें उसमें समूचा सौंदर्य भर देना होगा। अतः एकांकी नाटक लिखना

कोई आसान काम नहीं है। वैसे ही नाटक लिखते समय बड़ी सावधानी से काम करना पड़ता है, एकांकी नाटक में तो लेखक का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। एकांकी नाटक हमारे यहाँ नवीन नहीं हैं, पुराने नाट्य-साहित्य में भी ये नाटक पाये जाते हैं। हाँ, इतना तो हम अवश्य मान सकते हैं कि इनकी परम्परा नवीन है। इस परम्परा का विकास पाश्चात्य एकांकी नाटकों के अनुकरण पर ही हुआ है। पाश्चात्य देशों में पहले इस प्रकार के नाटकों का अभाव था। आज से करीब पचास वर्ष पूर्व वहाँ इनका कोई रूप नहीं था। नाट्यशाला में नियत समय के पूर्व आई हुई जनता को न ऊबने देने तथा उन्हें बैठे रहने देने के लिए सर्वप्रथम इनका सूत्रपात हुआ। बाद में कला और अभिनय की दृष्टि से धीरे-धीरे इनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। कालान्तर में, एक समय वह आ गया जब बड़े नाटकों के पूर्व ये नाटक खेले जाने लगे। ए. ए. मिनी, ओर्नल्ड बेनेट, जान गल्सवर्दी, लार्ड डन्सेनी, जे जे बेल, जान ड्रिंकवाटर आदि प्रथम नाटककारों के द्वारा जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया। फिर तो जनता को ये इतने पसन्द आये कि एकांकी नाटकों की साहित्य में बाढ़ आने लग गई। आजकल बर्नार्डशा के एकांकी नाटकों की वहाँ धूम मची हुई है। न जाने वहाँ पर एकांकी नाटकों के कितने संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रसाद-युग में हिंदी एकांकी नाटकों का सूत्रपात तो अवश्य हुआ, लेकिन उनका विकास नहीं हो पाया। एक प्रकार से एकांकी नाटकों का प्रयोगात्मक युग (Experimental Age) ही समझना चाहिए, क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन नाटकों की नवीन परम्परा के लिए पाश्चात्य एकांकी नाटकों का अध्ययन किया ही जा रहा था। लेखक अपना-अपना मार्ग ढूँढने में लगे हुए थे। इसलिए यद्यपि इस युग में उच्च कोटि के एकांकी नाटकों का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया, लेकिन आगे के लिए इनकी पृष्ठ-भूमि अवश्य तैयार हो गई। जिन

नाटककारों के द्वारा यह कार्य शुरू हुआ उनके नाम इस प्रकार हैं—मोहनसिंह का 'स्वरावली' (१६२८), कैलाशनाथ भटनागर का 'नाट्य-सुधा' (१६३३), भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवाँ' (१६३५), गणेश-प्रसाद द्विवेदी का 'सुहाग बिंदी' (१६३५), रामकुमार वर्मा का 'पृथ्वीराज की आँखें' (१६३६) तथा गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' का 'कुनाल' (१६३७) 'स्वरावली' में तीन सामाजिक प्रश्न रूपक हैं; 'नाट्य-सुधा' में छोटे-छोटे विविध नाटक हैं और 'सुहाग बिंदी' में छः छोटे-छोटे एकांकी नाटक देखने को मिलते हैं। ये सब एकांकी नाटकों के संग्रह सफल नहीं बन पड़े हैं। 'कुनाल' इनसे कुछ ठीक है। इस क्षेत्र में सफलता केवल भुवनेश्वर और रामकुमार वर्मा को ही मिल सकी। रामकुमार वर्मा का 'पृथ्वीराज की आँखें' एक सुन्दर संग्रह है, जिसमें एकांकी नाटक बहुत ही उच्च कोटि के हैं। भाषा कवित्वमय, प्रांजल तथा कल्पना-प्रधान है। इनमें काव्य के-से गुण आ गये हैं। संलाप संक्षिप्त हैं, उनमें उतार-चढ़ाव के क्रम का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा गया है। निस्संदेह वर्माजी हिंदी-साहित्य के प्रथम सफल एकांकी-नाटककार हैं, जिनके द्वारा आगे चलकर इस क्षेत्र का पूर्ण विकास हुआ। भुवनेश्वर ने सन् १६३३ ई० से ऐसे नाटक 'हंस' में लिखना आरम्भ किया। उनकी शैली जितनी यथार्थ है उतनी ही स्पष्ट। वातावरण यत्र-तत्र खींचे गये हैं, उनमें किसी प्रकार का कोई संकोच नहीं। लेखक अपने पात्रों के द्वारा एक ही साँस में इतना कहला देता है कि जो पाठकों के हृदय में काँटे की तरह चुभ जाता है। स्थानाभाव से यहाँ रामकुमार वर्मा के 'दस मिनट' का, जो १५ अक्टूबर, १६३४ को प्रयागविश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा अभिनीत हुआ था, एक छोटा-सा-अंश दिया जाता है। देखिए, कथोपकथन कितना सुन्दर बन पड़ा है और हाव-भावों से कितना उपयुक्त है—

'महादेव—(क्रोध से) तुम्हारी बहन को मैली दृष्टि से देखता था वह ? तुमने छुरी कहाँ भोंकी ?

बलदेव—छुरी ? उसकी बग़ल में। यों। (हवा में छुरी का वार करता है)

महादेव—बग़ल में ? नासमझ ! आँखों में घुसेड़ देनी चाहिए थी। वे पापी आँखें संसार का प्रकाश न देख सकतीं। जिन आँखों में पाप का रक्त था, उन आँखों में बहन के अपमान का रक्त बहना चाहिए था। छिः ! बदला लेना भी न आया ! (घूरता है)'

प्रसाद-युग के इन प्रारम्भिक एकांकी-नाटकों की शैली से कोई भी पाठक उनके उज्ज्वल भविष्य का अनुमान लगा सकता है। यद्यपि इनमें से बहुत से एकांकी उस प्रौढ़ता को नहीं पहुँच पाये हैं, जितने कि आज के नाटक, लेकिन उनका 'आरम्भ' (start) सुंदर था। ज्यों-ज्यों रंगमंच की सुविधाएँ मिलती गईं, त्यों-त्यों इस कला का परिष्कार होता रहा। एक दिन ये सबके गले के हार हो गये।

(४) उपन्यास

द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों में, जैसा कि हम देख चुके हैं उत्कृष्ट कोटि के कतिपय उपन्यासकारों की अवतारणा हो चुकी थी और साथ ही उपन्यासों की कला, रूप एवं विविध शैलियों का जन्म भी हो चुका था। इस युग में आकर उन सब का पर्याप्त विकास होने लगा। सर्वश्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', वृन्दावनलाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरणगुप्त, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र आदि लेखकों के द्वारा यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ। उपन्यासों के विकास के सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि इस समय में आकर जनता की मनोवृत्ति तिलिस्मी, जासूसी और साहसी उपन्यासों पर से हट गई थी। घटना-वैचित्र्यपूर्ण उपन्यास निम्न कोटि के समझे जाने लगे। अतः समय और परिस्थितियों को देखते हुए जो साहित्यिक उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त होता था, उसी लेखक का आदर हो सकता था। अंग्रेज़ी के माध्यम द्वारा फ्रांस और रूस की राज्यक्रांति से भरे उपन्यास जनता बड़े चाव

से पढ़ने लग गई थी। इसलिए काव्य-कोमल शैली से ओतप्रोत बंगला-उपन्यासों की माँग भी दिन-दिन घटती रही। जीवन के विविध प्रश्नों को लेकर नई शैली में सीधे-सादे विचारपूर्ण उपन्यासों को प्रोत्साहन मिलने लगा। इतना होते हुए भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि विश्व-साहित्य में उपन्यासों की प्रगति को दृष्टि-पथ पर रखते हुए हमारे हिंदी-साहित्य में उपन्यासों की न तो इतनी उन्नति ही हो पाई है और न उपन्यास-कला तथा रचना-चातुरी का ही समस्त लेखकों को ध्यान है। थोड़े उपन्यासों की बात जाने दीजिए, अधिकांश उपन्यास हमें इसी निम्न कोटि के ही दिखाई पड़ते हैं।

उपदेश-प्रधान—

द्विवेदी-युग के उपन्यासों में उपन्यासकार का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट, विकृत और कृत्रिम रहता था। उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंद के पूर्व जितने भी उपन्यास लिखे गये, उनमें घात-प्रतिघात के अन्यत्र और था ही क्या? उनमें उपदेश की मात्रा का आधिक्य था, इसलिए उद्देश्य की दृष्टि से हम उन्हें उपदेश-प्रधान उपन्यास कहें तो बेखटके कह सकते हैं। प्रेमचन्द के बाद में इस प्रकार के उपन्यास नहीं लिखे गये हों सो बात नहीं, लेकिन उनके आविर्भाव के साथ ऐसी कला-पूर्ण कृतियाँ दिखाई देने लगीं जिनमें हमारे सामाजिक जीवन की समस्याएँ समाज की यथार्थ परिस्थितियों के बीच उपस्थित की जाती थीं। यही नहीं अब तक के उपन्यासों में (प्रेमचंद से पूर्व) समाज की अत्यंत साधारण और तुच्छ समस्याओं की ओर ही लेखकों का ध्यान जाता था, गंभीर और विषम परिस्थितियों को वे अपने उपन्यासों में स्थान नहीं दे सके। उनका सारा कथानक बिखरा हुआ था। प्रेमचन्द ने, सर्वप्रथम उसे एकसूत्र में पिरोकर, गंभीर तथा विषम समस्याओं को अपने उपन्यासों में स्थान देकर उनका इतना सुन्दर रूप से निर्वाह किया कि इस प्रकार के उपन्यासों में कोई और लेखक उनकी बराबरी नहीं कर सका। साथ ही वे अपने युग के साथ दौड़ लगाते गये, कहीं कोई बात पीछे नहीं छोड़ी। उनके

उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यही है। 'कायाकल्प' से निवृत्त होकर प्रेमचन्द ने 'निर्मला' (१६२८) और 'प्रतिज्ञा' (१६२६) नामक दो उपन्यास लिखे, जिनमें उपदेश की मात्रा तो है, लेकिन वह उनके पूर्व के लेखकों की भाँति स्पष्ट और कृत्रिम नहीं है।'निर्मला' में विधुर-विवाह से उत्पन्न दुष्परिणामों की ओर संकेत किया गया है। इसमें प्रधान पात्रों का मनोविकास वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। यह उपन्यास एक छोटा-सा सामाजिक उपन्यास है, जिसमें प्रेम और कर्त्तव्य दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण देखने को मिलता है। मनोवैज्ञानिक चित्रण सरस और सुंदर बन पड़ा है। इसी प्रकार 'प्रतिज्ञा' में हिंदू-समाज में विधवा-समस्या पर अत्यंत गम्भीरता से विचार किया गया है। उनके 'कर्मभूमि' (१६३२) में भारतीय किसान और मज़दूर-वर्ग पर होने वाले अत्याचारों का विशद वर्णन है। इसके साथ ही साथ सार्वजनिक संस्थाओं की बुराइयों की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। प्रेमचन्द का हृदय किसान और मज़दूरों की दारुण अवस्था देखकर स्थल-स्थल पर पिघल उठता है। इनके इन समस्त उपन्यासों में यद्यपि समाज तथा शासन-व्यवस्था के दुर्बल अंगों की ही व्यंजना प्रधान रूप से हुई है, लेकिन इनको पढ़कर प्रेमचन्द का पाठक इतना तो अवश्य ही कह सकता है कि लेखक ने उन्हें अपनी प्रतिभा के द्वारा कला-पूर्ण बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। आगे चलकर विविध राष्ट्रीय आन्दोलनों के फलस्वरूप उन्हें एक बार पुनः इन किसानों और मज़दूरों की बस्ती में लौटना पड़ा। इस बीच प्रेमचंद ने सोचा था कि शायद किसानों की अवस्था सुधर जाय और उन्हें कोई दूसरा उपन्यास नहीं लिखना पड़े, लेकिन किसानों के भाग्य में सुख की साँस बदी ही कहाँ है? संक्षेप में, प्रेमचन्द ने अपने विगत उपन्यासों द्वारा उनके उज्ज्वल जीवन और मंगलमय भविष्य का जो सुनहरा स्वप्न देखना चाहा था, उसके बिखर जाने से कलाकार की कथावस्तु भी बिखर गई, उसमें आदर्शवाद की कोई स्थापना नहीं हो सकी। पाठकों को इसीलिए उसमें अपूर्णता का आभास मिलता है।

उपन्यास-कला की दृष्टि से 'गोदान' (१९३६) जो उनका अंतिम उपन्यास है, सर्वश्रेष्ठ है। 'प्रेमा' से लेकर 'गोदान' तक जो क्रमिक विकास उनके उपन्यासों में पाया जाता है, हिंदी-विद्यार्थी के लिए वह एक अध्ययन करने की वस्तु है। प्रेमचन्द के इस 'गोदान' में चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, भाषा-शैली आदि की पूर्णता दृष्टिगत होती है। भाषा-शैली का एक उदाहरण देखिए—

'वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण पर बबूले उठते हैं, और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है, और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शांत, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन भर की यात्रा का वृत्तांत कहते और सुनते हैं, तटस्थ भाव से, मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जनरव हम तक नहीं पहुँचता।'

प्रेमचंद के उपरान्त हिंदी-साहित्य में इस प्रकार के अन्य अनेक उपन्यास लिखे गये। प्रसाद-युग में सन् १९२५–३७ ई० तक इस प्रकार के जो सामाजिक उपदेश-प्रधान उपन्यास लिखे गये, प्रायः समस्त विगत युग के उपन्यासों की अपेक्षा काफ़ी सफल हैं और उनमें उपन्यास-कला के दर्शन होते हैं। इस युग के प्रमुख उपन्यास ये हैं—भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'मीठी चुटकी' (१९२७), 'अनाथ पत्नी' (१९२८), 'त्यागमयी' (१९३२), 'प्रेम विवाह' (१९३४) और 'पतिता की साधना' (१९३६); तेजरानी दीक्षित का 'हृदय का काँटा' (१९२८), ऋषभचरण जैन के 'वेश्यापुत्र' (१९२९), 'सत्याग्रह '(१९३०) और 'भाई' (१९३१); प्रफुल्लचंद्र ओझा के 'पाप और पुण्य' (१९३०) और 'तलाक' (१९३२); गंगाप्रसाद श्रीवास्तव के 'लतखोरीलाल' (१९३१)

और 'स्वामी चौखटानंद' (१९३६), ज़हूरबख़्श का 'स्फुलिंग' (१९३१), शिवरानी का 'नारी-हृदय' (१९३२), कन्हैयालाल का 'हत्यारे का ब्याह' (१९३३); चंद्रशेखर शास्त्री का 'विधवा के पत्र' (१९३३), जयशंकर-प्रसाद का 'तितली' (१९३४), घनीराम प्रेम का 'मेरा देश' (१९३६), राधिकारमणप्रसादसिंह का 'राम-रहीम' (१९३७); श्रीनाथसिंह का 'जागरण' (१९३७) तथा राहुलसांकृत्यायन का 'सोने की ढाल' (१९३७ ई०) जैसा कि इन समस्त उपन्यासों के नाम से ही प्रकट है, ये सब उपदेश-प्रधान उपन्यास हैं। ध्यान देने की बात यही है कि इन सब में उपदेशों के बाहुल्य ने उपन्यास-कला पर किसी प्रकार का आघात नहीं होने दिया है। बातें वही हैं, लेकिन कहने के ढंग पृथक्-पृथक् हैं। इन सब में भगवतीप्रसाद वाजपेयी, ऋषभचरण जैन, गंगा-प्रसाद श्रीवास्तव, जयशंकरप्रसाद, श्रीनाथसिंह, राहुलसांकृत्यायन आदि में तो उत्कृष्ट कोटि की उपन्यास-कला के दर्शन होते हैं। यथा, प्रसाद के 'तितली' को ही देखिए—उसमें कथावस्तु के चयन, उसकी संघटना, निर्वाह आदि का भी पूरा-पूरा ध्यान रक्खा गया है। भाषा स्वाभाविक है। इसमें मानव हृदय के मर्मस्पर्शी चित्र सफलतापूर्वक खींचे गये हैं। दृश्य-वर्णन उपस्थित करने में तो प्रसाद अद्वितीय हैं।

प्रेमाख्यानक उपन्यास—

द्विवेदी-युग में जैसा कि लिख चुके हैं प्रेमाख्यानक उपन्यासों को काफ़ी प्रोत्साहन मिला था, जिनका कि सीधा सम्बन्ध रीति कालीन कवियों की शृंगार-भावना तथा उर्दू और फ़ारसी कवियों के नाप-तौल वाले प्रेम से था। इस युग में आकर वह धारा बिल्कुल मंद पड़ गई। केवल दो ही लेखक ऐसे देखने को मिलते हैं, जिन्होंने उस परम्परागत प्रेम का अनुशीलन किया है। इनमें शिवदास गुप्ता के 'उषा' (१९२५) और चन्द्रभूषण के 'नरेन्द्र मालती' (१९२८) नामक उपन्यास आते हैं। इनमें केवल सस्ते और भद्दे प्रेम को ही चित्रित किया गया है। इसलिए ये उपन्यास अधिक महत्त्व के नहीं हैं। इन दो उपन्यासों के

अतिरिक्त और जो उपन्यास इस युग में लिखे गये, उनमें प्रेम की बहुमुखी व्यंजना पाई जाती है। चतुरसेन शास्त्री इस दिशा में बहुत पहिले ही अग्रसर हो गये थे, इसलिए इस प्रकार के उपन्यासों का पथ-प्रदर्शन करने वालों में वे ही प्रथम कहे जा सकते हैं। इस युग में उन्होंने 'अमर अभिलाषा' (१९३३) और 'आत्मदाह' (१९३६) नामक उपन्यास लिखे। सूक्ष्म दृष्टि से ज्ञात होगा कि इनके प्रेम में अस्वाभाविकता और अश्लीलता होने के कारण हम उन्हें शुद्ध प्रेमाख्यानक उपन्यासों की श्रेणी में नहीं रख सकते। उनका रूप कुछ-कुछ विकृत हो गया है। प्रकाशक महोदय और ऋषभचरण जैन ने तो इन उपन्यासों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, लेकिन यथार्थ में वे इतनी प्रशंसा के पात्र नहीं हैं। 'अमर अभिलाषा' प्रधानतः स्त्रियों के लिए लिखा गया है, लेकिन भगवती को हरगोविन्द के कमरे में पहुँचाकर और छजिया द्वारा उस कमरे को बन्द कर देने पर जो 'खुराफात' की बातें होने लगती हैं, तो उससे लेखक का आदर्श भ्रष्ट हो जाता है। साहित्य में इस प्रकार के कुरुचिपूर्ण प्रसंगों को स्थान देना अपने व्यक्तिगत आचरण का परिचय देना है। माना यह यथार्थवाद है, लेकिन यह 'वाद' ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य यदि इतना असभ्य और अशिष्ट बन बैठा है, तो फिर शरीर को आवरण से ढकने की क्या आवश्यकता है? यदि यथार्थवाद ही आदर्श है तो फिर सारा मामला ही चौपट हो गया। कला सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियाँ होने पर भी इतना तो कहे बिना जी नहीं भरता कि लेखक में प्रतिभा, मौलिकता, अनुभव, भावुकता, लिखने की क्षमता सब-कुछ है, लेकिन वह नहीं है जिसे साहित्य में स्वच्छ और शुद्ध मनोवृत्ति कहा जाता है। 'आत्मदाह' का वस्तु-विन्यास बिखर गया है, उसमें एकसूत्रता नहीं। सबसे बड़ा गुण जो हो सकता है, वह है उसकी भाषा-शैली। हमें क्षुब्ध होकर कहना पड़ता है कि लिखने की अद्भुत क्षमता होते हुए यदि उन्होंने किसी और मार्ग का अवलम्बन किया होता, तो उनकी विशेष ख्याति होती। और

एक वे हैं शास्त्री जी के भाईबन्द पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' जो साहित्यिक क्षेत्र में भी अपने नाम की सार्थकता प्रकट करते रहते हैं। लिखा तो बहुत है, लेकिन वह अधिकांश बेधड़क होकर। उनके 'चंद हसीनों के ख़तूत' (१९२७), 'दिल्ली का दलाल' (१९२७), 'बुधुआ की बेटी' (१९२८), 'शराबी' (१९३०), 'घंटा' (१९३७) और 'सरकार तुम्हारी आँखों में' (१९३७) लिखे हुए उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री की सी ही प्रवृत्ति देखने को मिलती है। इन्होंने भी यथार्थवाद का अर्थ जीवन की नग्न वास्तविकता, अश्लीलता आदि से समझ रक्खा है। इनके पात्रों ने वेश्याओं की गलियों में चक्कर काटे हैं, गुंडों का साथ किया है और मदिरालयों में जाकर बोतलें खाली की हैं, लेकिन संसार में रहकर किसी भले आदमी का साथ नहीं किया। यदि इन्होंने भी ज़रा ऐसे प्रसंगों को अपने उपन्यासों में स्थान नहीं दिया होता तो उनके पास कमी किस बात की थी ? लेकिन नहीं, नग्नवाद का जो लोभ लगा हुआ था! 'दिल्ली का दलाल' में तो नग्न वास्तविकता अपने चरम सोपान पर पहुँच जाती है और उस 'बुधुआ की बेटी' में दलालों के पंजों में फँसी स्त्रियों का कितना भद्दा चित्रण किया गया है, जिसे पढ़ तो सकते हैं लेकिन भले आदमियों को सुना नहीं सकते। हम अपने उपन्यास-साहित्य के भीम का लोहा मानते हैं, जहाँ प्रतिभा, परख, अनुभूति, सरस-व्यंजना-शक्ति का प्रश्न है, लेकिन इस प्रकार के कुत्सित प्रसंगों की आलोचना किये बिना कदापि नहीं रह सकते।

पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने अलबत्ता इधर जो उपन्यास लिखे, उनमें यह बात नहीं है। उनके 'अप्सरा' (१९३१), 'अलका' (१९३३), 'लिली' (१९३३) और 'निरुपमा' (१९३६) नामक उपन्यासों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इनमें उनकी शुद्ध मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

कथा-प्रधान—

ऐसे उपन्यास जिनमें वस्तु की ही प्रधानता रहती है और

घटनाओं का जाल बिछा रहता है, इस युग में कम लिखे गये। कला की दृष्टि से इस प्रकार के उपन्यासों का मूल्य भी अधिक नहीं है, क्योंकि इन्हें सामान्य लेखक भी लिख सकता है। सामाजिक क्षेत्र से सम्बंधित जो कथा-प्रधान उपन्यास लिखे गये, उनके नाम ये हैं—शिवनाथ शास्त्री का 'मझली बहू' (१६२८), विश्वनाथसिंह शर्मा का 'कसौटी' (१६२६), शंभुदयाल सक्सेना का 'बहू-रानी' (१६३०) और राहुलसांकृत्यायन का 'बीसवीं सदी' (१६३१)। इनमें से 'मझली बहू' को छोड़ शेष सभी सुन्दर बन पड़े हैं। 'कसौटी' में ग्राम्य जीवन का, 'बहू-रानी' में हिन्दू-गार्हस्थ्य-जीवन का तथा 'बीसवीं सदी' में वर्तमान युग का चित्रण किया गया है।

भाव-प्रधान—

ऐसे उपन्यास जो ललित और अलंकृत भाषा में लिखे जाते हैं तथा जिनका चरित्र-चित्रण भावुकतामय होता है, इस युग में भी बहुत कम लिखे गये। हिंदी-साहित्य में भाव-प्रधान उपन्यासों की सदैव कमी रही है। इस युग में इस प्रकार के उपन्यास चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मंगल प्रभात' (१६२६), गोविंदवल्लभ पंत ने 'प्रतिमा' (१६३४) तथा वृंदावनलाल वर्मा ने 'प्रेम की भेंट' (१६३१) और 'कुण्डलीचक्र' (१६३२) लिखे; जिनमें प्रेम की व्यंजना कवित्वपूर्ण शैली में की गई है। 'मंगल प्रभात' की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अलंकृत भाषा है। लेखक ने उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं आदि की झड़ी बाँध दी है। बीच-बीच में दार्शनिक तथा धार्मिक उद्गारों के स्रोत बहते रहते हैं। कथा-भाग कम है, अनेक पृष्ठ निकाले जा सकते हैं, जिनसे उपन्यास समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'प्रतिमा' में कल्पना का आश्रय लेकर एक कहानी खड़ी की गई है जो सरस है। 'कुण्डलीचक्र' और 'प्रेम की भेंट' हमारी सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं, जिनमें जनश्रुति के आधार तथा कल्पना के बल पर मनोहर भाव-प्रधान उपन्यासों की सृष्टि की गई है। 'प्रेम की भेंट' भी कोमल

पदावली को लेकर चलता है। अलंकारों का सुन्दर निर्वाह किया गया है और हमें कविता का-सा आनन्द आने लगता है। वर्माजी एक सफल उपन्यासकार हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

ऐतिहासिक—

भाव-प्रधान उपन्यासों की तरह ऐतिहासिक उपन्यास भी कम लिखे गये, लेकिन जो लिखे गये, उनकी टक्कर के और किसी ने नहीं लिखे। द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यासों और इन उपन्यासों में आकाश-पाताल का अन्तर है। इस दृष्टि से विश्वम्भरनाथ जिज्जा के 'तुर्क तरुणी' (१९२५), भगवतीचरण वर्मा के 'पतन' (१९२७) और 'चित्रलेखा' (१९३४), ऋषभचरण जैन के 'ग़दर' (१९३०), वृंदावन-लाल वर्मा के 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६) तथा कृष्णानंद गुप्त के 'केन' (१९३०) नामक उपन्यास विशेष महत्त्व के हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में दोनों वर्मा ने ही अधिक नाम कमाया है। 'गढ़कुंडार की भाँति यद्यपि 'विराटा की पद्मिनी' इतना सफल उपन्यास नहीं कहा जा सकता, लेकिन फिर भी इसमें वातावरण, रोमांस आदि की कोई कमी नहीं है। घटनाएँ और पात्र कल्पित हैं, पर कथा का आधार जन-श्रुति है। वातावरण उपस्थित करने में वर्माजी पूर्ण सफल हुए हैं। भगवती-चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' की धूम जब यह प्रकाशित हुआ, तब बहुत दिनों तक साहित्यिक समाज में होती रही। यह धीरे-धीरे जनता में इतना लोकप्रिय हुआ कि आज चित्रपट पर भी आ गया है। उपन्यास पाप और पुण्य की समस्या को लेकर आगे बढ़ा है। घटनाएँ हमारे सम्मुख इस रूप में आती हैं कि उनमें कृत्रिमता का नामोनिशान तक नहीं है। अपने पात्रों की विचित्रताओं का सूक्ष्म विश्लेषण लेखक ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया है। वर्णन-प्रणाली उच्च कोटि की है। संलाप सजीव और स्वाभाविक है। भाषा पात्रों के अनुकूल बन पड़ी है और उसमें सर्वत्र सरसता है। उसकी गद्य-शैली का एक उदाहरण भी देख लीजिए—

'संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।... जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं है केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा ?... संसार में इसीलिये पाप की कोई परिभाषा नहीं हो सकी—और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम वही करते हैं, जो हमें करना पड़ता है।'

चरित्र-प्रधान—

हिंदी-साहित्य में चरित्र-प्रधान उपन्यासों का जैसा सुन्दर विकास प्रसाद-युग में दिखाई पड़ता है, वैसा किसी युग में नहीं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों के आदि-गुरु प्रेमचन्द ही हैं—उन्हीं के द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होना आरम्भ हुआ था। प्रेमचन्द का 'रंगभूमि' (१९२५) इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की तरह यद्यपि इसमें उनके उद्देश्य की स्पष्ट झलक पहिले से ही मालूम हो जाती है, लेकिन फिर भी इसमें अन्धे सूरदास के व्यक्तित्व तथा उसके साथ के अन्य चरित्रों की रेखाएँ इतनी सुन्दर और स्पष्ट खींची गई हैं कि उनके उपन्यासों में इसे सर्वश्रेष्ठ चरित्र-प्रधान उपन्यास कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। 'प्रेमाश्रम' की कटु आलोचना के परिणाम स्वरूप इसमें उन्होंने अपने समस्त दोषों को हटाने का प्रयत्न किया है। इसमें काव्य, मनोविज्ञान, जीवन-दर्शन आदि सभी का एक साथ मज़ा आने लग जाता है। उपन्यास का नायक सूरदास जो एक भिखारी है जीवन को एक खेल समझता है। इसलिए उसे हार-जीत की कोई परवा ही नहीं है। उसी सूरदास को रंगभूमि के एक खिलाड़ी के रूप में चित्रित करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं—'वह खेलाड़ी जिसके माथे पर कभी मौत नहीं आई, जिसने कभी हिम्मत नहीं हारी, जिसने कभी कदम पीछे नहीं हटाये, जीता तो प्रसन्नचित्त

रहा, हारा तो प्रसन्नचित्त रहा, हारा तो जीतने वालों से कीना नहीं रखा, जीता तो हारने वालों पर तालियाँ नहीं बजाईं, जिसने खेल में सदैव नीति का पालन किया, कभी धाँधली नहीं की, कभी द्वंदी पर छिपकर चोट नहीं की। भिखारी था, अपंग था, अंधा था, दीन था, कभी भरपेट दाना नहीं नसीब हुआ, कभी तन पर वस्त्र पहनने को नहीं मिला; पर हृदय धर्म और क्षमा, सत्य और साहस का अगाध भंडार था। देह पर माँस न था, पर हृदय में विनय, शील और सहानुभूति भरी हुई थी'। इसमें सूरदास के चरित्र की कितनी सुंदर और स्पष्ट रेखाएँ हैं। उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद की प्रतिभा और चातुर्य का परिचय केवल इन इने-गिने शब्दों से ही लग जाता है। पात्रों की मनोवृत्तियों के विश्लेषण करने में तथा ग्रामीण और नागरिक जीवन के रेखा-चित्र जितने 'रंगभूमि' में सफल हुए हैं, उतने अन्यत्र कम देखने में आते हैं।

प्रेमचन्द के 'ग़बन' (१६३१) में घटनाओं और चरित्रों की आँख-मिचौनी आदि से लेकर अन्त तक होती रहती है। प्रेमचन्द की उपन्यास-कला के पूर्ण विकास के दर्शन 'ग़बन' में हो सकते हैं। इसमें कथावस्तु गठी हुई है। घटना, चरित्र और परिस्थिति की सापेक्षता इसकी प्रमुख विशेषता है। जालपा का आभूषण-प्रेम रमानाथ के चरित्र को पग-पग पर मोड़ने में समर्थ हुआ और इसी का चित्रण लेखक ने ख़ूबी के साथ किया है। परिस्थितियों के परिवर्तित होने पर हमें जालपा के चरित्र में भी परिवर्तन लक्षित होता है। उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु रमानाथ है। उसका चरित्र-चित्रण करने में प्रेमचन्द ने विशेष कौशल से काम लिया है। जालपा, देवीदीन, जग्गो प्रायः सभी का चरित्र-चित्रण सहज, स्वाभाविक और सुन्दर है। इन पात्रों के चरित्र-परिवर्तन के मूल में कोई न कोई घटना अवश्य है और प्रत्येक घटना चरित्र की विशेषता का परिणाम है। इसीलिए उपन्यास में एक अनिर्वचनीय सौंदर्य आ गया है।

अन्य चरित्र-प्रधान उपन्यासों में विनोदशंकर व्यास के 'अशांत' (१६२७), ऋषभचरण जैन के 'मास्टर साहिब' (१६२७), यदुनंदन-प्रसाद के 'अपराधी' (१६२८), प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' (१६२८), जैनेन्द्रकुमार के 'परख' (१६३०) तथा 'सुनीता' (१६३६), ऋषभचरण जैन + जैनेन्द्रकुमार के 'तपोभूमि' (१६३२), धनीरामप्रेम के 'वेश्या का हृदय' (१६३३), रूपनारायण पाँडेय के 'कपटी' (१६३४), गोविंदवल्लभ पंत के 'मदारी' (१६३६) और उषादेवी मित्रा के 'वचन का मोल' (१६३६) नामक उपन्यासों के नाम सगर्व लिये जा सकते हैं। इन उपन्यासकारों के द्वारा चरित्र-प्रधान उपन्यासों का पर्याप्त विकास हुआ। 'अशांत' में व्यासजी ने प्रेमचन्द की परम्परा का निर्वाह किया है। वह शुद्ध प्रेम का एक जीता जागता उदाहरण है। नायक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया गया है। ऋषभचरण जैन प्रधानतः 'उग्र' के ही अनुयायी हैं और अधिकांश में उनके उपन्यास प्राकृतवादी उपन्यासों की ही कोटि में आते हैं, लेकिन 'मास्टरसाहब' उस दलदल से दूर है। भाषा भावपूर्ण और सजीव है तथा वार्तालाप चुस्त है। इसमें उन्होंने मास्टर साहब का चरित्र-विश्लेषण करने में बड़ी ख़ूबी से काम लिया है। 'अपराधी' भी इसी श्रेणी का है, उसमें कोई विशेष बात नहीं। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' में नवीनता अवश्य लक्षित होती है। इस उपन्यास के चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इसमें भिन्न-भिन्न कहानियाँ होते हुए भी कुशल लेखक ने उनका वैज्ञानिक संघठन कर विदेशी सभ्यता से उत्पन्न दारुण विषमता का विश्लेषण बड़ी सतर्कता के साथ किया है। अन्त में, लेखक ने पात्रों के आदर्श का अनुष्ठान कर जिस आदर्शवाद की नींव डाली है, वह सर्वथा स्तुत्य है। उपन्यास-क्षेत्र में इसी समय जैनेन्द्रकुमार का 'परख' आता है। इसमें लेखक ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ

मानव-चरित्र के विकारों को देखने का प्रयत्न किया है। केवल बहुत ही थोड़े पात्रों को लेकर उन्होंने मनोजगत् का जो वैज्ञानिक चित्रण उपस्थित किया, उसे पढ़कर प्रेमचन्द का चित्त प्रसन्न हो गया। चट 'हंस' में लिख बैठे—'उनमें अंतःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है, इतना हृदय को मसोसने वाला, इतना स्वच्छंद और निष्कपट, जैसे बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो'। लेखक ने 'कट्टो' 'सत्यधन' आदि पात्रों के अन्तराल में प्रवेश कर उन्हें बड़ी ही बारीकी के साथ देखा है। नई भावना, नया आदर्श ! जैनेन्द्र ने प्रत्येक बात में नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। क्या भावा, क्या चरित्र-चित्रण ! 'कट्टो' और 'सत्यधन' का आत्मिक मिलन कराकर लेखक ने जिस सत्य का विश्लेषण किया है, उसमें सौंदर्य आप ही आप आ गया है। जैनेन्द्र के इस उपन्यास के विचारों को समझने के लिए पहले उनके जीवन तथा जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण का परिचय मिल जाय, तो उससे विशेष सुविधा मिल सकती है। 'परख' का जैनेन्द्र 'सुनीता' में आकर पूर्णदार्शनिक बन बैठा है। इसका कारण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को विशेष महत्त्व देना है। 'हरिप्रसन्न' 'श्रीकांत' तथा 'सुनीता' के चरित्र इस रूप में चित्रित किये गये हैं कि वे सामान्य पाठकों की बुद्धि-सीमा में आ ही नहीं सकते, इसीलिए उनके बीच दार्शनिक वाद-विवाद होते रहते हैं। जैनेन्द्र के विचार इन्हीं दार्शनिक विचारों के बोझ से दबे रहते हैं, इसलिए भाषा में भी वैसा ही मोड़ (Twist) आ गया है। कहीं 'हाँ,' तो कहीं 'ना'—इस हाँ-ना में ही वे अपने मन की सारी बातें कह डालते हैं। यह चाल कुछ लोगों को बेढंगी लगती है, कुछ कहते हैं कि जैनेन्द्र ने अपने लिए एक नया रास्ता निकाला है। कुछ भी हो, इस सत्य से तो मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि उनके चरित्र बड़े उलझे हुए रहते हैं। संसार में ऐसे बिरले ही होते हैं। जैनेन्द्र और ऋषभचरण ने सम्मिलित रूप से जो 'तपोभूमि' लिखा है, उसमें भी इसी दुरूह आत्म-विश्लेषण के दर्शन होते हैं। 'नवीन' और 'धरणी'

की कहानी जैनेन्द्र द्वारा लिखी गई है और आगे चलकर 'सतीश' और 'शशि' की कहानियों के रूप में उपन्यास का निर्वाह ऋषभचरण ने किया है। यदि जैनेन्द्र इस सम्पूर्ण कहानी को लिखने बैठते तो कदाचित उसका अन्त उस रूप में नहीं होता, जिस रूप में कि उनके सहचर ने किया है। दोनों लेखकों के कहने का ढंग निराला है जो सहज ही में आकर्षित कर लेता है। बात केवल इतनी ही है कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को ही साध्य मानकर जब साहित्यकार दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक बन बैठता है, तो उसकी वाणी अटपटी मालूम होने लगती है। 'तपोभूमि' इससे अछूता नहीं रह गया है, जैसे शशि के इस कथन में—'मैं व्यक्तिगत कर्त्तव्य को जानता हूँ। वह मेरे हृदय की लालसाओं से सना हुआ है। मैं उससे डरता हूँ क्योंकि वहाँ मुझे अपने हृदय की भूख की तृप्ति दिखाई पड़ती है। समाज के जिस गुरु प्रायश्चित को मैं संपन्न करने की चेष्टा कर रहा हूँ वह इन लालसाओं से अछूता है। मैं उसका आह्वान करता हूँ—क्योंकि वह मेरी भूख को और धधकाता है, शांत नहीं करता।'...शेष लेखकों के चरित्र-चित्रण में इस प्रकार की अस्पष्टता दृष्टिगत नहीं होती। धनीराम ने 'वेश्या का हृदय' में, जैसा कि शीर्षक से स्वयं स्पष्ट है एक वेश्या का सीधा सादा आत्म-विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है, जो सुन्दर बन पड़ा है। इसी प्रकार रूपनारायण पांडेय ने 'कपटी' में एक कपटी मनुष्य का चित्रण सफलतापूर्वक किया है। गोविंदवल्लभ पंत का 'मदारी' बड़ा ही निराला है। केवल थोड़े से पात्रों को लेकर एक मनमोहक चित्र उपस्थित कर दिया गया है। युवा मदारी पर्वतीय उपत्यकाओं में अपनी झोली लिये हुए मारा-मारा फिरता रहता है, इसमें उसी के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाया गया है। अन्त में, उषादेवी मित्रा के 'वचन का मोल' में नारी-जीवन की समस्या का चित्रण किया गया है। नायिका कजरी भावुक है अवश्य, लेकिन कर्त्तव्य उसकी भावना को दबाता रहता है। वह भावना को लेकर ही देश-सेवा की ओर अग्रसर होती है। भारतीय

एवं पाश्चात्य संस्कृति का द्वन्द्व भी लेखिका ने स्थल-स्थल पर दिखाने का प्रयत्न किया है। मनिका द्वारा भारतीय गृहिणीत्व अंगीकार करा कर चतुर लेखिका ने हमारे भारतीय आदर्श की रक्षा की है।

तिलिस्मी : जासूसी और साहसी—

इस युग में इन उपन्यासों की रचना बिल्कुल बन्द हो गई। इन धाराओं के आदि और अंतिम लेखक गोपालराम गहमरी थे। द्विवेदी-युग तक उनकी विभिन्न धाराएँ अविच्छिन्न रूप से चलती रहीं, लेकिन बाद में प्रेमचन्द, जयशंकरप्रसाद, वृंदावनलाल वर्मा आदि उत्कृष्ट लेखकों ने जब इस क्षेत्र में कार्य करना आरम्भ किया और उच्च कोटि के मनोवैज्ञानिक चरित्र-प्रधान उपन्यासों की सृष्टि की तो जनता का ध्यान उन सस्ते और भद्दे उपन्यासों पर से हटकर इनकी ओर आकर्षित होने लग गया। यही कारण है कि इस युग में गहमरीजी का एक भी अनुयायी नहीं दिखाई पड़ता।

इस युग के उपर्युक्त विविध उपन्यासों पर पाश्चात्य शैली का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। हिंदी-उपन्यासकार अंग्रेज़ी उपन्यासों को बड़े ध्यान से पढ़ते थे। उपन्यासों में यथार्थवाद की वहाँ वहीं से आई समझना चाहिए। किसी वस्तु का यथार्थ चित्र उपस्थित कर देने से उपन्यास-कला का निखरा हुआ रूप पाठकों के सामने आया। स्वगत कथन के रूप में लेखक को कुछ कहने की आवश्यकता नहीं हुई। उसे जो कुछ कहना होता, वह दो पात्रों की पारस्परिक वार्ता करा कर कहता अथवा विविध घटनाओं अथवा प्रसंगों के मध्य अपने पात्रों को छोड़ देता। वे स्वयं अपने भविष्य का निर्माण करते रहते। प्रायः सभी प्रकार के उपन्यासों का अभूतपूर्व विकास हुआ। आज प्रेमचंद, प्रसाद, कौशिक जैसी साहित्यिक विभूतियाँ कहाँ हैं? निस्संदेह इनके द्वारा तथा वृंदावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, चंडीप्रसाद हृदयेश, जैनेन्द्र-कुमार आदि प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों के द्वारा हमारा उपन्यास-साहित्य अल्प समय में ही उन्नति के सर्वोच्च स्थान पर पहुँच गया।

(५) कहानी—

द्विवेदी-युग में कहानी के कला-रूप और उसकी विभिन्न शैलियों का जन्म हो चुका था, प्रसाद-युग में आकर कहानी-साहित्य का विकास-द्रुत-गति से होने लगा। यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि इस युग में कहानी-साहित्य ने एक क्रांति उत्पन्न कर दी। विगत युगों की अपेक्षा कहानी-साहित्य का इतना विकास हुआ और जनता में साहित्य का यह अंग इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि धीरे-धीरे एक से एक सुन्दर कहानियों का पहाड़ लग गया। द्विवेदी-युग तो इसकी समानता में एक छोटे पत्थर की तरह दिखाई देता है। अभिप्राय यह है कि कहानियों की दृष्टि से यह युग विशेष महत्त्व का है, जिसका अध्ययन करना हिंदी-विद्यार्थी का परम कर्त्तव्य है।

सर्वप्रथम हमारे दृष्टि-पथ पर प्रेमचंद आते हैं। हिंदी-संसार में उनकी कहानियाँ जितनी लोकप्रिय हुई हैं, उतनी और किसी लेखक की नहीं। उन्होंने हिंदी-कहानी-साहित्य को लगभग तीन सौ कहानियाँ दी हैं, जिनके अनेकों संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन संग्रहों के मुख्य मुख्य नाम ये हैं—'सप्त-सरोज', 'नवनिधि', 'प्रेम-पचीसी', प्रेम-पूर्णिमा', 'प्रेम-द्वादशी', 'प्रेम-तीर्थ', 'प्रेम-पीयूष','प्रेम-कुंज', 'प्रेम-चतुर्थी', 'पंच-प्रसून', 'सप्त-सुमन', 'कफ़न', 'प्रेम-प्रतिमा', 'प्रेरणा', 'प्रेम-प्रमोद', प्रेम-सरोवर', 'कुत्ते की कहानी', 'जंगल की कहानी', 'अग्नि-समाधि', प्रेम-पंचमी', 'प्रेम गंगा'। सरस्वती प्रेस, बनारस ने इन सबको 'मानसरोवर' ६ भागों में विभाजित कर हिंदी-पाठकों के लिए अच्छा काम किया है। 'सप्त-सरोज' उनका पहला कहानी-संग्रह है। 'कुत्ते की कहानी' और 'जंगल की कहानी' बालोपयोगी हैं। प्रेमचंद की इन कहानियों की संख्या इतनी अधिक है कि शैली और भाव की दृष्टि से उनका वर्गीकरण करना एक दुस्तर कार्य है। जिन लोगों ने यह काम अपने हाथ में भी लिया है, वे प्रायः असफल से ही रहे हैं। पर इतना तो हम निःसंकोच कह सकते हैं कि प्रेमचंद को चाहे किसी दृष्टि से देखें, सभी प्रकार

की कहानियाँ लिखी हैं और लिखने की प्रायः समस्त पद्धतियों को ग्रहण किया है। कहानियों में उनके जीवन तथा जगत् के प्रति वही दृष्टिकोण है, जो इनके उपन्यासों का है। अर्थ यह कि वे अपने ग्राम और समाज तथा आदर्श के क्षेत्र से बाहर नहीं निकल सके। जहाँ इस बात का प्रयत्न किया है, वहाँ उनमें वह कौशल नहीं दिखाई पड़ता। लेकिन समग्रतः (as a whole) विचार करने पर ज्ञात होगा कि उनकी कहानियों की भाषा सरल, सुन्दर, चुस्त और हृदयग्राही है। वह कहानी लिखने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। ऐसी सुन्दर मुहावरेदार भाषा हमें और किसी कहानीकार में देखने को नहीं मिलती। चरित्र-चित्रण उनकी अपनी निजी विशेषता है। वे सच्चा, सजीव और भावपूर्ण चित्र अंकित करने में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण जैसा कि हम यथाप्रसंग कह चुके हैं, प्रेमचन्द की ही सर्वप्रथम देन है। मानसिक भावों के घात-प्रतिघात तथा चरित्र के उत्थान-पतन दिखाने में प्रेमचन्द अद्वितीय हैं। प्रेमचन्द का पाठक क्या उनकी 'बड़े घर की बेटी', 'रानी सारंधा', 'फ़ातिमा', 'ईदगाह', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'दिल की रानी', 'बेटों वाली विधवा', 'कामना-तरु', 'पंच-परमेश्वर', 'कफ़न', 'बूढ़ी काकी', 'पूस की रात' आदि अनेक उत्कृष्ट रचनाओं की करामातों से परिचित नहीं है। स्वयं प्रेमचन्द इनमें से बहुत-सी कहानियों का मोह नहीं छोड़ सके। जब-जब संग्रह निकालने का प्रश्न आता, तब-तब वे संग्रह-कर्त्ताओं को अपनी सम्मति देते रहते थे। 'रानी सारंधा' का यह अंश इस स्थल पर असंगत न होगा—

'रानी ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिये।

राजा—यह मेरी अंतिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने वचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—(काँपकर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रवात-सा हो गया। बोली—जीवननाथ! इसके आगे वह और कुछ न बोल सकी। आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित रहना नहीं चाहता।

रानी—मुझ से यह कैसे होगा?

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझला कर कहा—इसी जीवन पर आन निभाने का गर्व था?

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ़ लपके। राजा ने नैराश्यपूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित रूप से खड़ी रही। लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान हो जाती है। नकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारंधा ने दामिनी की भाँति लपककर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभो दी।

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी, पर चेहरे पर शांति छाई हुई थी।'

प्रेमचन्द के बाद हिंदी-कहानी-साहित्य में जिन-जिन लेखकों ने भाग लिया, उनमें सुदर्शन का नाम विशेष प्रसिद्ध है। आप प्रेमचन्द के ही अनुयायी हैं। उर्दू-क्षेत्र से हिंदी में आने के कारण भाषा का स्वरूप व्यावहारिक और रोचक है। प्रेमचन्द की तरह आप भी अपनी कहानियों में प्रचारक का रूप लेकर हमारे सामने आते हैं, लेकिन फिर भी कहने का ढंग अनूठा होने के कारण यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाई देता। आपके पात्र सजीव होते हैं। सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कहानियों में आपको विशेष सफलता मिली है। लोक-प्रियता में प्रेमचन्द से आप भी किसी तरह कम नहीं हैं। 'सुदर्शन-सुधा', 'तीर्थ-यात्रा', 'सुप्रभात', 'पनघट', 'प्रमोद' आदि आपके कहानी-संग्रह इस बात के ज्वलंत उदाहरण हैं।

इस युग के कहानी-लेखकों में जयशंकरप्रसाद का स्थान किसी लेखक से कम नहीं है। उनका क्षेत्र ही पृथक् है। अधिकांश में उनकी कहानियाँ भाव-प्रधान ही समझी जायँगी, क्योंकि उनमें कथानक नगण्य है, चरित्र-चित्रण और वातावरण की ही प्रधानता है। इनकी कहानियों को पढ़कर हमें कविता का-सा आनन्द आने लगता है। बात भी ठीक है, प्रसाद एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे, उनकी उस छाया का पड़ना स्वाभाविक ही था। कवि सदैव कल्पना और अनुभूति के लोक में निवास करता रहता है। यही कल्पना तथा अनुभूति इनकी कहानियों के प्राण हैं। शैली कवित्त्वपूर्ण है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में एक प्रकार की रहस्यात्मकता के दर्शन होते हैं। अलौकिक सौंदर्य की ओर आकृष्ट होने की प्रवृत्ति हमें सर्वत्र लक्षित होती है। वातावरण-प्रधान कहानीकारों में आपका स्थान बेजोड़ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कहानियों का आरम्भ और अन्त भी बड़ा मधुर होता है। कहानी अन्त में जाकर तो पाठकों को कुछ देर के लिए विचार-निमग्न कर देती है। जहाँ कहानियों में चरम सीमा आने लगती है, वहीं प्रायः उसका अन्त भी हो जाता है। इस प्रकार के आकस्मिक (Sudden) अन्त द्वारा कहानियों में प्रभावोत्पादकता की मात्रा बढ़ गई है, जैसे—'पुरस्कार' में—

राजा ने कहा—"मेरे निज की खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।" मधूलिका ने एक बार बंदी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिए।" अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राण दंड मिले।" कहती हुई वह बंदी अरुण के पास जा खड़ी हुई। प्रसाद के पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'आकाश-दीप', 'आँधी', इन्द्रजाल', 'छाया' और 'प्रतिध्वनि'। कुल आपने ६९ कहानियाँ लिखी हैं।

पंडित विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' गार्हस्थ्य जीवन के चित्र

उपस्थित करने में पूर्ण सफल हुए हैं। इस दृष्टि से उनका स्थान बहुत ऊँचा है। भाषा परिमार्जित है। उसमें उर्दू-हिंदी दोनों प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। लेकिन इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि शैली की दृष्टि से सुदर्शन तथा प्रेमचंद से आपकी शैली भिन्न है। 'चित्र-शाला', 'गल्प-मंदिर' और 'प्रेम-प्रतिमा' आपके सुंदर कहानी-संग्रह हैं।

शैली की दृष्टि से पाण्डेयबेचन शर्मा 'उग्र' और चतुरसेनशास्त्री अपने समकालीन बहुत से कहानी-लेखकों को पीछे छोड़ जाते हैं। लेकिन, जैसा कि उनके उपन्यासों को लेकर कहा जा चुका है, इन दोनों लेखकों की दृष्टि नग्न वास्तविकता की ओर अधिक लगी रहती है, इसलिए कहानी अपने आदर्श से हटती हुई दृष्टिगत होती है। इसके सिवाय दोनों में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं दिखाई पड़ती। 'उग्र' की शैली भावात्मक है, कहानियों की भाषा सुंदर है तथा भाव-व्यंजना सर्वथा मौलिक है। राजनीतिक कहानियों में आप किसी की सानी नहीं रखते। खटकने वाली बात यही है कि भावावेश में आकर कहीं-कहीं वे श्लीलता की सीमा का उल्लंघन कर जाते हैं। 'चिनगारियाँ', 'इन्द्रधनुष', 'निर्लज्ज' आदि आपकी कहानियों के संग्रह हैं। चतुरसेन-शास्त्री ऐतिहासिक कहानियाँ लिखने में विशेष सिद्धहस्त हैं। शैली 'उग्र' से पृथक् है, यद्यपि विचार-धारा दोनों की मिलती-जुलती है। वर्णन-शक्ति अद्वितीय है। 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'पान वाली' वर्णन-शक्ति की दृष्टि से बेजोड़ हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' का नीचे दिये अंश का हम लोग संवरण नहीं कर सकते। देखिए भाषा की व्यावहारिकता, स्वाभाविकता, वर्णन की अद्‌भुत क्षमता !

'गर्मी के दिन थे। बादशाह ने उसी फागुन में सलीमा से नई शादी की थी। सल्तनत के सब झंझटों से दूर रहकर नई दुलहिन के साथ प्रेम और आनंद की कलोल करने, वह सलीमा को लेकर काश्मीर के दौलतख़ाने में चले आए थे। ......रात दूध में नहा रही थी। दूर

के पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ़ से सफ़ेद होकर चाँदनी में बहार दिखा रही थीं। आरामबाग़ के महलों के नीचे पहाड़ी नदी बल खाकर बह रही थी।······मोतीमहल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौंदर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फ़ीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमख़ाब की कुरती और पन्नों की कमर पेटी पर, अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमर्मर के समान पैरों में ज़री के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे। ······कमरे में एक क़ीमती ईरानी क़ालीन का फ़र्श बिछा हुआ था, जो पैर रखते ही हाथ-भर नीचे धँस जाता था। सुगंधित मसालों से बने हुए शमादान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे क़द के आईने लगे थे। संगमर्मर के आधारों पर सोने-चाँदी के फूलदानों में, ताज़े फूलों के गुलदस्ते रक्खे थे। दीवारों और दरवाज़ों पर चतुराई से गूँथी हुई नागकेशर और चम्पे की मालाएँ झूल रही थीं, जिनकी सुगन्ध से कमरा महक रहा था। कमरे में अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की देश-विदेश की वस्तुयें क़रीने से सजी हुई थीं।'

'रजकण' शास्त्रीजी की कहानियों का एक सुन्दर संग्रह है।

पंडित ज्वालादत्त शर्मा ने आठ-दस मौलिक कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'भाग्य का चक्र' जनता को बहुत पसंद आई। समाज के करुण चित्र आपकी कहानियों में बड़ी सहृदयता के साथ अंकित किये गये हैं। इसी प्रकार पंडित शिवनारायण द्विवेदी ने भी थोड़ी-बहुत कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'ख़ानसामा' और 'नाटक' का विशेष रूप से आदर किया गया।

रायकृष्णदास की कहानियाँ भावुकता-प्रधान हैं। उनमें एक विशेष प्रकार का चमत्कार रहता है। कहानियों में गद्य-गीतों के समान समर्थ तथा सशक्त भाषा-शैली के प्रतिष्ठापक आप ही हैं। आपके वर्णनों में

चित्रोपमता रहती है। जिस दृश्य का वर्णन किया जाता है, उसका साकार रूप आँखों के सामने झूमने लग जाता है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बड़ी ही ख़ूबी के साथ किया गया है। भाषा में एक ऐसी मधुरिमा है, जिससे पाठकों का चित्त प्रसन्न हो जाता है। 'प्रसन्नता की प्राप्ति' में कहानी का आधुनिक रूप पाया जाता है। 'सुधांशु' और 'अनाख्या' आपके दो सफल कहानी-संग्रह हैं।

छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने में पंडित विनोदशंकर व्यास ने विशेष रुचि दिखाई है। आप जयशंकरप्रसाद के अनुयायी हैं। उनमें एक नवीन कल्पना का सन्निवेश रहता है। भाषा सरल और सीधी है तथा भाव गम्भीर होते हैं। कहानी पढ़ लेने पर एक बार तो लेखक का उद्देश्य पाठकों की समझ में ही नहीं आता। उनमें किसी छिपे तत्त्व की व्यंजना रहती है। 'तूलिका', 'भूली बात', 'नवपल्लव' तथा 'उसकी कहानी' उनके ऐसे ही कहानी-संग्रह हैं।

करुण-रस-प्रधान कहानियों में पंडित जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भाषा मधुर एवं परिमार्जित तथा भाव बड़े ही मार्मिक होते हैं। भावुक कवि होने के नाते इनकी कहानियाँ कविता के गुणों से ओतप्रोत हैं । 'किसलय', 'मालिका', 'मृदुदल' और मधुमयी' आपके कहानी-संग्रह बहुत लोकप्रिय हुए हैं।

उपन्यासों की तरह जैनेन्द्र कुमार ने कहानी-क्षेत्र में भी ख़ूब नाम कमाया है और अल्प समय के भीतर ही अपना विशेष स्थान बना लिया है। पाश्चात्य सभ्यता का भारतीय विचार-धारा पर जो प्रभाव पड़ा, उसी की छाया इनकी कहानियों में देखी जा सकती है। कहानियाँ भी, उपन्यासों के सदृश दार्शनिकता के बोझ से लदी हुई हैं। इसलिए अधिकांश कहानियाँ समझने में कठिन हो गई हैं तथा भाषा-शैली इसी के परिणाम-स्वरूप विचित्र बन गई है। 'जाह्नवी' की ही बात लीजिए, उसमें लेखक को कितनी क्लिष्ट कल्पना करने की आवश्यकता हुई है। 'एक रात', 'वातायन', 'स्पर्द्धा', 'फाँसी', 'दो चिड़ियाँ'

आदि संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रसाद-युग में डाक्टर धनीराम प्रेम ने भी कुछ सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं; जो हमें उनके 'वल्लरी' नामक संग्रह में देखने को मिलती हैं। कहानियाँ लम्बी अवश्य हो गई हैं, लेकिन उनसे पाठक का जी नहीं ऊबता। उनकी 'डोरा' कहानी हिंदी-कहानी-साहित्य में विशेष ख्याति प्राप्त कर चुकी है। इनकी कहानियाँ विदेशी ढंग पर लिखी हुई प्रतीत होती हैं, यही तो कारण है कि उनमें भारतीयता की झलक कम मिलती है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी की कहानियाँ भी इसी समय में लिखी गईं। 'झलमला' सुन्दर कहानियों का संग्रह है। भाषा सरल, स्वच्छ और परिमार्जित है। इसी प्रकार प्रफुल्लचन्द्र ओझा ने भी कहानी-साहित्य के विकास में विशेष योग दिया है। सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कहानियों के लिखने में आप विशेष कुशल हैं। भाषा मँजी हुई और विषय हृदय को स्पर्श करने वाले होते हैं। 'दो दिन की दुनिया', 'जलधारा' आदि आपके सुन्दर संग्रह हैं। इन लेखकों के अतिरिक्त चंडीप्रसाद हृदयेश, गोविंदवल्लभ पंत, शिवपूजन सहाय, मन्नन द्विवेदी आदि लेखकों की कहानियों ने भी कहानी-साहित्य को समृद्ध बना दिया।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त जिन नये लेखकों ने कहानी लिखना आरम्भ किया, उनमें सर्वश्री सियारामशरण गुप्त, श्रीनाथसिंह, श्रीराम शर्मा, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, मोहनलाल महतो 'वियोगी', स्वामी-सत्यदेव, मोहनलाल नेहरू, रघुपति सहाय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, राजेश्वरप्रसादसिंह, वाचस्पति पाठक, दुर्गाप्रसाद भास्कर, ऋषभचरण जैन, कृष्णानन्द गुप्त और इलाचन्द्र जोशी मुख्य हैं। हिंदी-साहित्य के तीन लब्धप्रतिष्ठ कवि निराला, पन्त और भगवतीचरण वर्मा इसी युग में कवि-जगत् से कहानी-लोक की ओर प्रवृत्त हुए। कविता-क्षेत्र से जो कवि-वृन्द कहानियाँ लिखने लगे, उन सब में भगवतीचरण वर्मा

ही अधिक सफल हुए। कहानीकार की दृष्टि से अन्य लेखकों का महत्त्व अधिक नहीं है। स्वामी सत्यदेव कहनी-क्षेत्र में अधिक दिनों तक नहीं टिक सके। वे जितने जल्दी इस क्षेत्र में आये, उतने जल्दी ही पुनः निकल गये। श्रीराम शर्मा ने अलबत्ता कुछ अच्छा काम अवश्य कर दिखाया। श्रीनाथसिंह ने विशेष रुचि से काम किया और सुन्दर-सुन्दर कहानियों की सृष्टि की। सद्गुरुशरण अवस्थी और सत्यजीवन वर्मा की कहानियाँ विशेष लोकप्रिय न हो सकीं। उनके द्वारा कहानियों में निबन्ध-लेखन को अपनाया गया।

मोहनलाल नेहरू की उद्देश्य-प्रधान कहानियाँ विशेष सफल हुईं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियों में कथा-भाग कम रहता है, लेकिन वे हृदय को छूने वाली होती हैं। उनकी कहानियों में हमें आधुनिकतम रूप के दर्शन होते हैं। 'मिठाई वाला' कहानी बहुत सुन्दर बन पड़ी है। मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखने में आप चतुर हैं। इलाचन्द्र जोशी कहानी-क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त नहीं कर सके। उनकी कहानियों में केवल दो-चार ही वास्तविक कहानियाँ कही जा सकती हैं। मोहनलाल महतो 'वियोगी' की प्रभाव-प्रधान कहानियाँ सुन्दर बन पड़ी हैं। 'कवि' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। कृष्णानन्द गुप्त ने दो-चार कहानियाँ पाश्चात्य शैली पर अवश्य लिखीं, पर फिर मौन होकर बैठ गये—कोई विशेष तत्परता नहीं दिखाई।

प्रसाद-युग के अन्तिम वर्षों में कुछ और नये लेखक इस दिशा की ओर अग्रसर हुए, जिनमें चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अख़्तरहुसेन रामपुरी, मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा, साधुशरण, वीरेश्वर, आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, अनन्तगोपाल शेवड़े, धर्मवीर, माधव, राजकुमार रघुवीरसिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क, रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी', उषादेवी मित्रा, राधाकृष्ण, सूर्यदेवनारायण श्रीवास्तव और यशपाल के नाम लिये जा सकते हैं। इनकी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। संग्रह आगे चलकर प्रकाशित हुए।

हास्य-रस की कहानियों में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव के नाम से हम अवगत हो चुके हैं। उनके अतिरिक्त शिवनाथ शर्मा, हरिशंकर शर्मा और मिर्ज़ा अज़ीम बेग चग़ताई के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लेकिन खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हास्य रस की कमी अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी रही। कोई अन्य लेखक इस प्रकार की कहानियाँ लिखने वाला हमें अपने दृष्टि-पथ पर नहीं दिखाई पड़ता।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रसाद-युग में कहानियों के अभूत-पूर्व विकास ने एक साहित्यिक क्रांति उत्पन्न कर दी। कहानी साहित्य का केवल मुख्य अंग ही नहीं बनी, वरन् उसके कला, रूप और शैलियों का जो विकास हुआ, वह साहित्य में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है।

(६) उपयोगी साहित्य—

इस युग में आकर उपयोगी साहित्य उन्नति की चरमावस्था, को पहुँच गया। इतिहास, जीवनी, विज्ञान, भूगोल, समाज-शास्त्र, भाषा-विज्ञान, व्याकरण, साहित्य-शास्त्र आदि अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गये।

जीवन-चरित्र—

आत्म-कथा के रूप में रामविलास शुक्ल का 'मैं क्रांतिकारी कैसे बना' (१९३३) आत्म-कथा के रूप में एक जीवन-चरित्र है, जो बहुत सुन्दर बन पड़ा है। आधुनिक संत पुरुषों को लेकर भी जीवन-चरित्र लिखे गये, जिनमें पंडित सत्यदेव का 'स्वामी श्रद्धानंद' (१९३३) तथा सत्यदेव विद्यालंकार का 'लाला देवराज' (१९३७) उल्लेखनीय हैं। राजनैतिक नेताओं को लेकर गोपीनाथ दीक्षित ने 'जवाहरलाल नेहरू' (१९३४) में एक सुन्दर जीवन-चरित्र लिखा, जिसमें नेहरूजी के जीवन सम्बन्धी प्रायः समस्त घटनाओं का रोचक ढंग से वर्णन किया गया है। कुछ विद्वानों ने अपने पारस्परिक सम्बन्ध और स्नेहवश विशेष व्यक्तियों को लेकर भी जीवन-चरित्र लिखे, जैसे रघुवंश भूषण शरण का

'रूप-कला-प्रकाश' (१९३२) ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन-चरित्र में गौरीशंकर चैटर्जी का 'हर्षवर्धन' (१९३८), विश्वेश्वरनाथ रेउ का 'राजा भोज' (१९३२) तथा गंगाप्रसाद मेहता का 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' (१९३३) विशेष प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मुसलमान-राज्य के जीवन-चरित्रों में गोपाल दामोदर तामस्कर का 'शिवाजी की योग्यता' (१९२६) तथा ब्रजरत्नदास का 'बादशाह हुमायूँ' (१९३१) और अंग्रेज़ी-राज्य के जीवन-चरित्रों में हरिहरनाथ शास्त्री के 'मीर कासिम' (१९२८) के नाम सगर्व लिये जा सकते हैं। यही नहीं हमारे मध्य-कालीन महात्माओं को लेकर भी इस युग में अनेक जीवनियाँ लिखी गईं, जिनमें शिवनन्दनसहाय की 'गौराङ्ग महाप्रभु' (१९२७), प्रभुदत्त की 'चैतन्य-चरितावली' (१९३३), चतुर्भुजसहाय की 'भक्तवर तुकारामजी' (१९२९), हरिरामचन्द्र दिवेकर की 'संत तुकाराम' (१९३७), अगरचन्द नाहटा की 'जिनचन्द्र सूरि' (१९३६) तथा मंगल की 'भक्तनरसिंह मेहता' (१९३७) सफल बन पड़ी हैं। अन्त में, जिन विदेशी महान् व्यक्तियों को लेकर कुछ जीवन-चरित्र लिखे गये, वे इस प्रकार हैं—सत्यव्रत का ,अब्राहम लिङ्कन' (१९२८), लक्ष्मीसहाय माथुर का 'बेञ्जामिन फ्रैङ्कलिन' (१९२८), शिवकुमार शास्त्री का नेलसन की जीवनी (१९२८), नारायणप्रसाद अरोड़ा का 'डी वेलेरा; (१९३२), सत्यभक्त का 'कार्ल मार्क्स, (१९३३), सदानंद भारती का महात्मा लेनिन' (१९३४) तथा चंद्रशेखर शास्त्री का 'हिटलर महान्' (१९३६)

वृत्त-संग्रह तथा इतिहास—

कहानी के रूप में महापुरुषों का इतिहास गिरीशचन्द्र त्रिपाठी ने लिखा। इस दृष्टि से उनकी दो पुस्तकें उल्लेखनीय हैं—'महापुरुषों की प्रेम-कहानियाँ, (१९३७) तथा महापुरुषों की करुण कहानियाँ' (१९३७) भारतीय इतिहास को लेकर इस युग में महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गये, इस में कोई सन्देह नहीं। जयचन्द्र विद्यालंकार का 'भारतभूमि और उसके

निवासी' (१९३१), तथा 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' (१९३४) और विद्याभास्कर शुक्ल का 'प्राचीन भारतीय युद्ध' (१९३१) ऐसे ही सामान्य भारतीय इतिहास हैं। जयचन्द्र विद्यालंकार इस क्षेत्र में प्रशंसा के पात्र हैं। एन० सी० मेहता का 'भारतीय चित्रकला' (१९३५) भी एक सुन्दर प्रयास है। हिंदू-युग के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थों के लिखने वालों में हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और लेखक गौरीशंकर हीराचंद ओझा का नाम बहुत ऊँचा है। द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों से ही आप इस क्षेत्र में बड़े उत्साह के साथ कार्य करने लग गये थे। इस युग में उन्होंने वह क्रम जारी रखा और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। हिंदू-युग का इतिहास लिखने में आपकी कोई बराबरी नहीं कर सकता है। इस समय आपने 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (१९२८) नामक ग्रंथ लिखा। अन्य लेखकों के नाम ये हैं—जनार्दन भट्ट का 'युद्धकालीन भारत' (१९२६), कमलाकान्त त्रिपाठी का 'मौर्यकालीन भारत का इतिहास' (१९२८), बेनीप्रसाद का 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' (१९३१), रघुवीरसिंह का 'पूर्व-मध्यकालीन भारत' (१९३१), महादेव शास्त्री का 'आर्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष' (१९३१), रघुनन्दन शास्त्री का 'गुप्तवंश का इतिहास' (१९३२), गंगाप्रसाद मेहता का 'प्राचीन भारत' (१९३३) तथा राहुलसांकृत्यायन का 'पुरातत्त्व-निबन्धावली' (१९३७) मुसलमान राज्य से सम्बन्ध रखने वाले केवल दो ही ग्रंथ लिखे गये, एक परमात्माशरण द्वारा 'मध्यकालीन भारत' (१९३५) और दूसरा इन्द्रविद्यावाचस्पति का 'मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' (१९३८) अंग्रेज़ी-युग के इतिहास-ग्रन्थों में ये ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—गंगाशंकर मिश्र का 'भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य' (१९३०), रामनाथलाल 'सुमन' का 'जब अंग्रेज़ आए' (१९३०), कन्हैयालाल का 'कांग्रेस के प्रस्ताव' (१९३२), बैजनाथ का 'विजय बारदोली' (१९२९), नवजादिकलाल का 'पराधीनों की विजय-यात्रा' (१९३४) तथा मन्मथनाथ गुप्त का 'भारत में सशस्त्र क्रांति-चेष्टा का

रोमाञ्चकारी इतिहास' (१९३७) राजवंशों के इतिहास-लेखकों में जोधपुरनिवासी विश्वेश्वरनाथ रेउ का स्थान ऊँचा है। आप हिंदी के एक योग्य लेखक हैं। वर्षों से इसी क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। 'भारत के प्राचीन राजवंश' (१९२६) तथा 'राठौड़ों का इतिहास' (१९३४) इसके उदाहरण हैं। अन्य लेखकों में प्रतिपालसिंह ठाकुर के 'आर्यदेवकुल का इतिहास' (१९२८) तथा गोपाल दामोदर तामस्कर के 'मराठों का उत्थान और पतन' (१९३१) नामक ग्रंथों के इतिहास लिये जा सकते हैं। जातीय और धार्मिक इतिहास शीतलप्रसाद ने 'मध्यभारत और राजपूताने के प्राचीन जैन स्मारक' (१९२६), अयोध्याप्रसाद गोयलीय ने 'जैन-वीरों का इतिहास' (१९३०) तथा 'मौर्य-साम्राज्य के जैन-वीर' (१९३२), हीरालाल जैन ने 'जैन-इतिहास' (१९१९), और भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'बुद्ध और उनके अनुचर' (१९३७) नामक ग्रंथ लिखे। स्थानीय इतिहास-लेखकों में सुखसम्पत्तिराय भंडारी का 'भारत के देशी राज्य' (१९२७), हरिकृष्ण का 'गढ़वाल का इतिहास' (१९२८), प्रतिपालसिंह ठाकुर का 'बुन्देलखण्ड का इतिहास' (१९२८) लाला सीताराम का 'अयोध्या का इतिहास' (१९२९), गोरेलाल तिवारी का 'बुन्देलखण्ड का इतिहास' (१९३३), हीरालाल का 'मध्यप्रदेश का इतिहास' (१९३७) तथा बदरीदत्त पाण्डेय का 'कुमाऊँ का इतिहास' (१९३७) मुख्य हैं। विदेशी इतिहास कम लिखे गये, इस दिशा में प्राणनाथ विद्यालंकार ने दिलचस्पी से काम किया। उन्होंने सन् १९३६ ई० में 'इंग्लैंड का इतिहास' लिखा। अन्य ग्रंथों में वासुदेव का 'राजनैतिक इतिहास' (१९२६), श्रीनारायण चतुर्वेदी का 'संसार का संक्षिप्त इतिहास' (१९३९), रामनारायणलाल का 'युद्ध छिड़ने से पहिले' (१९३६) तथा एस० एन० जोशी का 'एशिया की पराधीनता का इतिहास' (१९३०) उल्लेखनीय हैं। अन्त में, शासन-विकास सम्बन्धी इस युग के दो इतिहास ध्यान देने योग्य हैं। एक, शालिग्राम शास्त्री का 'रामायण में राजनीति' (१९३१) और दूसरा रामप्रसाद

त्रिपाठी का 'भारतीय-शासन-विकास' (१९३६)।

देश-दर्शन—

देश-दर्शन को लेकर इस युग में जो साहित्य लिखा गया, वह हमारे लिए विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ। लेखक जिन विशेष स्थानों का भ्रमण करते थे, और वहाँ जो-जो वस्तुएँ अपनी आँखों से देखते थे, उन्हीं का वर्णन इन ग्रंथों में हुआ है। भारतीय स्थानों पर लिखे गये ग्रंथों में पूरनचन्द नाहर का 'जैसलमेर' (१९२८), लाला सीताराम का 'चित्रकूट की झाँकी' (१९३०), वासुदेवशरण अग्रवाल का 'श्रीकृष्ण की जन्मभूमि' (१९३७), विजयधर्म सूरि का 'आबू' (१९३३), श्रीगोपाल का 'काश्मीर' (१९३४), राहुलसांकृत्यायन का 'लंका' (१९३५), मनोरंजन का 'उत्तराखंड के पथ पर' (१९३६), केशरीमल अग्रवाल का 'दक्षिण तथा पश्चिम के तीर्थस्थान' (१९३७) तथा शालिग्राम श्रीवास्तव का 'प्रयाग-प्रदीप' (१९३७) इस दृष्टि से बड़े काम के हैं। भारतीय अर्थ-शास्त्र को लेकर शंकरसहाय सक्सेना ने 'भारतीय सहकारिता आंदोलन' (१९३५) नामक ग्रंथ लिखा, जो सफल बन पड़ा है। इसी प्रकार ग्रामीय अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से व्रजगोपाल भटनागर का 'ग्रामीय अर्थ-शास्त्र' (१९३३) एक उपयोगी ग्रंथ है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता को लेकर अच्छी खासी पुस्तकें लिखी गईं। महेशचन्द्र-प्रसाद की 'हिंदू-सभ्यता' (१९२६), सुरेन्द्रनाथ शास्त्री की 'भारतीय शिक्षा' (१९२६) , सुरेन्द्रनाथ शास्त्री की 'प्राचीन और वर्तमान भारतीय महिला' (१९२७), रामनाथलाल 'सुमन' की 'भाई के पत्र' (१९३१), मुकुटबिहारी वर्मा की 'स्त्री-समस्या' (१९३१), सुमित्रादेवी की 'नवीन युग का महिला-समाज' (१९३२), चंद्रावती लखनपाल की 'स्त्रियों की स्थिति' (१९३३) तथा सत्यदेव विद्यालंकार की 'परदा' (१९३६) नामक पुस्तकों में भारतीय सभ्यता के गुण-दोषों की ओर संकेत किया गया है। भारतीय शासन को लेकर तीन पुस्तकें लिखी गईं—दयाशंकर दुबे की 'विदेशी विनिमय' (१९२६), उर्मिला शास्त्री

की 'कारागार' (१६३१) तथा भवानीदयाल सन्यासी की 'दक्षिण अफ्रीका के मेरे अनुभव' (१६२६) देश-देशों की शासन-व्यवस्थाओं की ओर भी इन लेखकों का ध्यान गया, और उन्होंने वहाँ का ख़ाका भी हमारे सामने रक्खा। महेन्दुलाल गर्ग की 'अमेरिकन स्त्री-शिक्षा' (१६२८) राजबहादुरसिंह की 'रूस का पंचवर्षीय आयोजन' (१६३२), प्रभुदयाल मेहरोत्रा की 'आधुनिक रूस' (१६३४), कन्हैयालाल वर्मा की 'नाज़ी जर्मनी' (१६३७), राहुलसांकृत्यायन की 'ईरान' (१६३७), 'मेरी तिब्बत यात्रा' (१६३५) तथा 'मेरी यूरोप-यात्रा' (१६३५) धरमचंद की 'यूरोप में सात मास' (१६३७) तथा महेशप्रसाद की 'मेरी ईरान यात्रा' (१६३०) अवलोकन करने योग्य हैं। राहुलजी ने इस क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त की है। विश्व-दर्शन की पुस्तकें भी लिखी गईं, पर उनमें महत्त्वपूर्ण बहुत कम हैं—रामनारायण मिश्र की 'भू-परिचय' (१६३२)' शंकरसहाय सक्सेना की 'औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल' (१६३३), राजबहादुर सिंह की 'विश्व-विहार' (१६३३), जगदीशप्रसाद अग्रवाल की 'संसार-शासन' (१६३३), तथा रामप्रसाद त्रिपाठी की 'ज्ञानकोष' (१६३४) वाद-प्रवाद को समझने के लिए जो पुस्तकें लिखी गईं, उनमें राधामोहन गोकुल की 'कम्यूनिज़्म क्या है ?' (१६२७), मुकुन्दीलाल की 'साम्राज्यवाद' (१६३३), राहुलसांकृत्यायन की 'साम्यवाद ही क्यों ?' (१६३५), भूपेन्द्रनाथ सान्याल की 'साम्यवाद की ओर' (१६३६) और सम्पूर्णानन्द की 'साम्यवाद का बिगुल' (१६३६) तथा 'समाजवाद' (१६३६) विशेष प्रसिद्ध हैं। राहुल-सांकृत्यायन और सम्पूर्णानन्द इस क्षेत्र में विशेष अनुभव रखते हैं। अन्त में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए सम्पूर्णानन्द की 'राष्ट्र-संघ और विश्व-शांति' (१६२६) नामक पुस्तक भी बड़े काम की है।

भाषा-दर्शन—

विगत युगों की भाँति हिंदी-उर्दू का संघर्ष इस युग में भी चलता रहा और इसके लिए जिन लेखकों ने कलम उठाई, उनमें रामनरेश

त्रिपाठी ने 'हिंदी-हिन्दुस्तानी' (१९३२) तथा पद्मसिंह शर्मा ने 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' (१९३२) नामक पुस्तकें लिखीं। सामान्य भाषा-विज्ञान पर अच्छा कार्य हुआ। इसके मुख्य-मुख्य ग्रंथ ये हैं— मंगलदेव शास्त्री का 'तुलनात्मक भाषा-शास्त्र' (१९२६), नलिनी मोहन सान्याल का 'भाषा-विज्ञान' (१९२७), श्यामसुन्दरदास का 'भाषा-रहस्य' (१९३६) तथा विराम-चिन्हों पर लिखा गया वेंकटेश-नारायण तिवारी का 'विराम-संकेत' (१९३३) लिपि-शास्त्र पर लिखी गई पुस्तकों में गौरीशंकर हीराचंद ओझा की 'नागरी अंक और अक्षर' (१९२६) तथा गौरीशंकर भट्ट की 'अक्षर तत्व' (१९३६), 'लिपिकला' (१९३६) 'लिपि-कला का परिशिष्ट' (१९३६) और 'देवनागरी लिपि का विधान-निर्मान-पत्र' (१९३६) महत्त्वपूर्ण हैं। हिंदी-भाषा के जो इतिहास प्रस्तुत किये गये, वे इस प्रकार हैं—दुनीचंद का 'पंजाबी और हिंदी का भाषा-विज्ञान, (१९३६), डा० धीरेन्द्र वर्मा का 'हिंदी-भाषा का इतिहास' (१९३३) तथा 'हिंदी-भाषा और लिपि' (१९३२) और अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का 'हिंदी पर फ़ारसी का प्रभाव' (१९३७)। धीरेन्द्र वर्मा ने इस क्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। हिंदी-भाषा-व्याकरण लिखने वालों में भी धीरेन्द्र वर्मा का स्थान बहुत ऊँचा है। 'ग्रामीण हिंदी' (१९३३) इस दिशा में सफल कार्य है। सन् १९३७ ई० में उन्होंने 'ब्रजभाषा-व्याकरण' लिखा, जो अपने विषय की एक ही पुस्तक है। पाली-व्याकरण के सम्बन्ध में केवल एक पुस्तक आद्यादत्तठाकुर की 'पाली-प्रबोध' (१९२८) में प्रकाशित हुई। हिंदी के सामान्य कोष-ग्रंथ भी इस युग में लिखे गये। मुकुन्दीलाल श्री-वास्तव का 'हिंदी-शब्द-संग्रह' (१९३०), रामचंद्र वर्मा का 'संक्षिप्त हिंदी-शब्दसागर' (१९३३), डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'भाषा-शब्द-कोष' (१९३७) तथा श्रीकृष्ण शुक्ल का 'हिंदी पर्यायवाची कोष' (१९३९) उत्तम बन पड़े हैं। अन्य कोषों में हरगोविन्ददास सेठ का 'पाइअसद्दमहण्णवो' (१९२६) नामक प्राकृत-कोष साहित्य में

अद्वितीय है। जम्बुनाथन का 'उर्दू-हिंदी-कोष' (१९३६) तथा रामनरेश त्रिपाठी का 'हिंदुस्तानी-कोष' (१९३३) भी उल्लेखनीय हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों के लिए तीन कोष देखने योग्य हैं—बहादुरचंद्र का 'लोकोक्तियाँ और मुहावरे' (१९३२), जम्बुनाथन का 'हिंदी-मुहावरा-कोष' (१९३५) तथा आर० जे० सरहिंदी का 'हिंदी-मुहावरा-कोष' (१९३७)। इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट विषयों पर भी कोष तैयार किये गये, जिनमें भगवानदास केला का 'राजनीति-शब्दावली' (१९२७), गदाधरप्रसाद का 'अर्थशास्त्र-शब्दावली' (१९३२) तथा सत्यप्रकाश का 'वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द' (१९३१) बड़े उपयोगी हैं। अन्त में, अन्य भाषाओं के ज्ञान के लिए जो कोष तैयार किये गये, उनका उल्लेख किये बिना भी हम नहीं रह सकते। इनमें सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का 'हिंदी-बंगला-शिक्षा' (१९२८), नारायणतमनाजी कटगरे का 'हिंदी-मराठी कोष' (१९२९) तथा शंकर-रघुनाथ का 'हिंदी-मराठी शिक्षक' (१९३३) विशेष महत्त्व के हैं।

समाज-शास्त्र और दर्शन—

समाज-शास्त्र और दर्शन पर यद्यपि उपयोगी साहित्य का निर्माण अधिक नहीं हो सका, लेकिन जितना भी हो सका वह हमारे लिए विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ। सामान्य राजनीति को लेकर सुख-सम्पत्तिराय भण्डारी ने 'राजनीति-विज्ञान' (१९२९), गोपालदामोदर तामस्कर ने 'राज्य-विज्ञान' (१९२९) तथा अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने 'हिन्दू-राज्य-शास्त्र' (१९३१) नामक ग्रंथ लिखे। अर्थ-शास्त्र पर केवल दो पुस्तकें लिखी गईं, एक गौरीशंकर शुक्ल द्वारा 'करेन्सी' (१९२८) और दूसरी दयाशंकर दुबे द्वारा 'धनकी उत्पत्ति' (१९३७)। तर्कशास्त्र पर गुलाबराय की 'तर्कशास्त्र' (१९३७) एक प्रशंसनीय पुस्तक है। इसी प्रकार मनोविज्ञान पर प्रेमवल्लभ जोशी की पुस्तक 'प्राथमिक मनोविज्ञान' (१९३३) का नाम लिया जा सकता है। नागरिक शास्त्र पर अधिक कार्य हुआ, उल्लेखनीय पुस्तकों के नाम

इस प्रकार हैं—चन्द्रराज भंडारी की 'समाज-विज्ञान' (१९२८), भगवानदास की 'नागरिक-शास्त्र' (१९३२) तथा 'अपराध-चिकित्सा' (१९३६), बेनीप्रसाद की 'नागरिक-शास्त्र' (१९३७) और राहुल-सांकृत्यायन की 'मानव-समाज' (१९३६)।

साहित्य-शास्त्र—

उपयोगी साहित्य के अन्तर्गत साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथों का अवलोकन जितनी लाभदायक वस्तु है, उतनी और कोई नहीं क्योंकि शास्त्रीय नियमों से अपने आपको परिचित किये बिना हम न तो साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन ही कर सकते हैं और न उसका सृजन ही। प्रसाद-युग में साहित्य-शास्त्र पर जो विचार हुआ वह हमारे लिए वस्तुतः बड़ा उपयोगी और सराहनीय है। अलंकार-शास्त्र पर अर्जुनदास केडिया ने 'भारती-भूषण' (१९३०) और रामशंकर शुक्ल ने 'अलंकार-पीयूष' (१९३०) तथा 'अलंकार-कौमुदी' (१९३०) नामक ग्रंथ लिखे। अलंकारों को समझने के लिए ये पुस्तकें पढ़ने योग्य हैं। शुक्लजी इसमें विशेष सफल हुए हैं। ध्वनि-शास्त्र पर भगवानदीन लाला ने व्यंग्यार्थ-मंजूषा, (१९२७) लिखा। रस-शास्त्र पर दो पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं। एक, किशोरीदास वाजपेयी की 'रस और अलंकार' (१९३१) तथा दूसरी, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की 'हास्यरस' (१९३४)। इसी प्रकार नाट्य-शास्त्र पर जो पुस्तकें निकलीं वे इस प्रकार हैं—रामशंकर शुक्ल की 'नाट्य-निर्णय' (१९३०), श्यामसुन्दरदास की 'रूपक-रहस्य' (१९३२), सेठ गोविंददास की 'नाट्य-कला-मीमांसा' (१९३६) तथा वेदव्यास की 'हिंदी-नाट्य कला' (१९३७) कहानी पर कन्हैयालाल मुंशी की 'कहानी कैसे लिखनी चाहिए' (१९३२) एक अच्छी पुस्तक है। साहित्यिक समस्याओं पर लिखी गई गोपाल दामोदर तामस्कर की 'मौलिकता' (१९२९) अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। साहित्यिक विवादों के लिए ये ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—रामचंद्र शुक्ल का 'काव्य में रहस्यवाद' (१९२९), लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु'

का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (१९३६) तथा पुरुषोत्तमलाल का 'आदर्श और यथार्थ' (१९३७) इनके अन्यत्र कवियों को अपने कर्त्तव्यों का ध्यान दिलाने के लिए भी कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की सृष्टि हुई, जिनमें बिहारीलाल भट्ट के 'साहित्य-सागर' (१९३७) का नाम लिया जा सकता है। गंगानाथ झा का 'कवि-रहस्य' (१९२९) भी एक ऐसा ही ग्रंथ है। समालोचना-साहित्य पर जैसाकि यथास्थान संकेत किया गया है, बड़े अच्छे-अच्छे ग्रंथ लिखे गये, जिनमें किशोरीप्रसाद वाजपेयी के 'साहित्य-मीमांसा' (१९२७) तथा 'साहित्य की उपक्रमणिका' (१९३०), कालिदास कपूर के 'साहित्य-समीक्षा' (१९३०), नलिनीमोहन सान्याल के 'समालोचना-तत्त्व' (१९३६), मोहनलाल महतो के 'कला का विवेचन' (१९३६) तथा शांतिप्रिय द्विवेदी के 'कवि और काव्य' (१९३७) विशेष प्रसिद्ध हैं। लेखन-कला के लिए तो इस युग में केवल एक ग्रंथ गुलाबराय ने 'प्रबन्ध-प्रभाकर' (१९३४) लिखा। पत्रकार-कला की ओर लेखकों का ध्यान नहीं जा सका।

ललित-कला—

ललित-कला के अन्तर्गत संगीत के विषय पर हरिनारायण मुकर्जी ने 'ध्रुपद स्वरलिपि' (१९२९) तथा लक्ष्मीनारायण द्विवेदी ने 'विनय-पत्रिका-स्वर-लिपि' (१९३४) नामक पुस्तकें लिखीं। चित्र-लेखन-कला पर एच० पी० माहोबिया की 'चित्र-लेखन' (१९३०), मोतीलाल शर्मा की 'सौंदर्य-चित्रावली' (१९२७) तथा बैजनाथ केडिया की 'व्यंग्य-चित्रावली' (१९३४) देखने योग्य हैं। वक्तृत्व-कला पर दो पुस्तकें महत्त्वपूर्ण हैं—एक, देवकीनंदन शर्मा की 'सभाविज्ञान और वक्तृता' (१९२६) तथा दूसरी, विष्णुदत्त शुक्ल की 'सभाविधान' (१९२९)। चित्रपट पर मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव की 'सिनेमा-विज्ञान' (१९३५) तथा दीनानाथ व्यास की 'प्रतिन्यास-लेखन-कला' (१९३५) विशेष उपयोगी सिद्ध हुईं। कला का विवेचन केवल हंसकुमार तिवारी की 'कला' (१९३७) द्वारा ही हो सका। अन्य लेखक इस ओर मौन

रहे। ललित कला की दृष्टि से हमारा साहित्य नहीं के बराबर है।

उपयोगी कला—

भारत कृषि-प्रधान देश है। कृषि को लेकर लेखकों ने अधिक पुस्तकें लिखीं, जिनमें शंकरराव जोशी की 'तरकारी की खेती' (१९२८), हरदयालसिंह की 'सिगरेट की तम्बाकू की कृषि' (१९३७), लक्ष्मी-मोहन मिश्र की 'ऊख की खेती' (१९३७), रामानन्द अरोड़ा का 'कृषि-शास्त्र' (१९३४), मुख्त्यारसिंह की 'पौदा और खाद' (१९३५), 'जल और जताई' (१९३५), 'खेती' (१९३५) तथा 'भूमि' (१९३५) और बाली (मारवाड़) निवासी रघुनाथमलराय की 'कृषि-मार्ग-दर्शक' (१९३५) तथा 'कृषि-मार्ग-दर्शक' (१९३७) पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार बाग़बानी पर दो पुस्तकें लिखी गईं—एक, शिवशंकर मिश्र की 'बाग़बानी' (१९३०) तथा दूसरी, नारायण दुलीचन्द व्यास की 'फलों की खेती और व्यवसाय' (१९३५) वस्त्र-शिल्प पर कस्तूरमल बाँठिया ने 'रूई और उसका मिश्रण' (१९३५), मगनलाल खुशालचंद गाँधी ने 'चर्खा-शास्त्र' (१९२७), राधाकृष्ण बिड़ला ने 'मिलों में रूई की कताई' (१९३३), ख़्वाजा अब्दुल मजीद ने 'वीविंग-टीचर' (१९३०) तथा डी० जी० काले ने 'रेशों की रंगाई' (१९३६) नामक पुस्तकें बड़ी काम की हैं। सिलाई, स्वर्णकारी वा अन्य शिल्पों पर लिखी गई पुस्तकों में गिरधरसिंह वर्मा की 'स्वर्णकार-विद्या' (१९३०), कनाईलाल देरे की 'मीना-विज्ञान' (१९३७), देवदत्त अरोड़ा की 'चर्म बनाने के सिद्धांत' (१९३०), ओंकारनाथ शर्मा की 'लोहा और उस पर पानी चढ़ाना' (१९३३), गोरखप्रसाद की 'फ़ोटोग्राफ़ी' (१९३१) तथा ज्योतिस्वरूप सकलानी का 'प्रकाशन-विज्ञान' (१९३२) के नाम लिये जा सकते हैं। वास्तु-शिल्प पर केवल एक पुस्तक विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र की 'भारतीय वास्तु-विज्ञान' (१९३४) लिखी गई। अन्त में, स्काउट-कला को लेकर जो उल्लेखनीय पुस्तकें लिखी गईं, उनके नाम ये हैं—जानकी

शरण वर्मा की 'कैम्प-फ़ायर' (१६३१), 'पैट्रोल-सिस्टम' (१६३१) तथा 'स्काउटमास्टरी और ट्रुपसंचालन' (१६३४)।

खेल तथा शरीर-शिक्षा—

खेलों को लेकर श्रीपतिसहाय ने 'लाठी के दाँव' (१६३७), सीताराम पांडेय ने 'लेजिम शिक्षण' (१६३३) तथा मुनेश्वरप्रसाद ने 'कबड्डी' (१६३७) नामक पुस्तकें लिखीं। गणेशदत्त शर्मा का 'स्त्रियों का व्यायाम' (१६३०), श्रीनिवासबालाजी का 'सूर्य-व्यायाम' (१६३१) तथा ज्योतिर्मयी ठाकुर का 'खेल और व्यायाम' (१६३५) भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। पाश्चात्य खेलों को लेकर प्रो० माणिक-राव ने 'संघ-व्यायाम' (१६२६), प्रो० नारायणराव ने 'जुजुत्सु' (१६३६) तथा 'स्तूप-निर्माण-कला' (१६३६) नामक पुस्तकों की रचना की। शरीर-शिक्षा के लिए आयुर्वैदिक आधार पर धर्मानन्द शास्त्री ने 'उपयोगी चिकित्सा' (१६२७), 'विष-विज्ञान' (१६३२) तथा 'शल्य-तन्त्र, (१६३३), प्रतापसिंह ने 'आयुर्वेद-खनिज-विज्ञान' (१६३१), हरिशरणानन्द ने 'आसव-विज्ञान' (१६३६), शिवचरण शर्मा ने 'फेफड़ों की परीक्षा और उनके रोग' (१६२८) तथा 'व्रणबन्धन और पट्टियाँ' (१६२६), शंकरलाल गुप्त ने 'क्षयरोग' (१६३३), विश्वनाथ द्विवेदी ने 'तैलसंग्रह' (१६३४), अत्रिदेव गुप्त ने 'मलावरोध चिकित्सा' (१६३५), रूपलाल वैश्य ने 'रूप-निघण्टु' (१६३५), प्रभुनारायण त्रिपाठी ने 'निद्रा-विज्ञान' (१६३७), दुर्गादेवी ने 'शिशु-पालन' (१६२८), कृष्णाकन्त मालवीय ने 'मातृत्व' (१६३१), कृष्णाकुमारी देवी ने 'जच्चा' (१६३२) और धर्मानन्द शास्त्री ने 'स्त्री-रोग-विज्ञान' (१६३२) नामक पुस्तकें लिखकर जनता के दुख दूर करने में सहायता दी। ऐलोपैथिक चिकित्सा पर भी कुछ ग्रंथ लिखे गये, जैसे—महेन्दुलाल गर्ग का 'डाक्टरी-चिकित्सा' (१६३१), मुकुन्दस्वरूप वर्मा का 'विष-विज्ञान' (१६३२), अम्बालाल गर्ग का 'क्षय रोग और उसकी चिकित्सा' (१६३६), त्रिलोकीनाथ वर्मा का 'हमारे शरीर की रचना'

(१६२६), मुकुन्दस्वरूप वर्मा का 'मानव-शरीर-रहस्य' (१६३०) तथा 'मानव-शरीर-रचना-विज्ञान' (१६३६), रामदयाल कपूर का 'रोगी-परिचर्या' (१६३०), हीरालाल का 'माँ और बच्चा' (१६३०), रामदयाल कपूर का 'प्रसूति-तंत्र' (१६३१) और रामचन्द्र मिश्र का'सन्तान-निग्रह-विज्ञान' (१६३७)। इस क्षेत्र में महेन्दुलाल गर्ग, मुकुन्दस्वरूप वर्मा और रामदयाल कपूर ने अच्छा काम किया है। होम्योपैथिक चिकित्सा को लेकर महेन्द्रनाथ भट्टाचार्य ने 'पारिवारिक चिकित्सा' (१६२७) तथा 'पारिवारिक भेषज-तत्व' (१६३२), मनोरंजन बैनरजी ने 'वृहत् मैटीरिया-मेडिका' (१६३५), प्यारेलाल ने 'छाती के रोगों की चिकित्सा' (१६३७) और रामचन्द्र मुनि ने 'बायोकेमिक विज्ञान-चिकित्सा' (१६३५) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। प्राकृतिक चिकित्सा (Nature Cure) की ओर भी लेखकों का ध्यान गया। तीन-चार पुस्तकें उल्लेखनीय हैं—केदारनाथ गुप्त की 'प्राकृतिक चिकित्सा' (१६३७), भगवतशरण की 'दुग्ध-तक्रादि-चिकित्सा' (१६३६), देवराज की 'जल-चिकित्सा-विज्ञान' (१६२६) तथा केदारनाथ गुप्त की ही 'स्वास्थ्य और जल-चिकित्सा' (१६३३) स्वास्थ्य-रक्षा संबंधी जो ग्रंथ प्रकाशित हुए, उनमें महत्त्वपूर्ण बहुत कम हैं, जैसे रामदास गौड़ का 'स्वास्थ्य-साधन' (१६२७), केदार-नाथ गुप्त का 'हम सौ वर्ष कैसे जीएँ ?' (१६२६), मुकुन्दस्वरूप वर्मा का 'स्वास्थ्य-विज्ञान' (१६३२), ठाकुरदत्त शर्मा का दुग्ध और दुग्ध की वस्तुएँ, (१६२७) तथा जगन्नाथप्रसाद शुक्ल का 'आहारशास्त्र' (१६३३)।

विज्ञान—

भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में इस युग की एक पुस्तक निहालकरण सेठी की 'प्रारम्भिक-भौतिक-विज्ञान' (१६३०) बड़े महत्त्व की है। गणित पर ये पुस्तकें लिखी गईं—नंदलाल की 'पैमाइश' (१६२७), सत्यप्रकाश की 'बीज-ज्यामिति' (१६३१) तथा शुकदेव पाण्डेय की 'त्रिकोणमिति' (१६३५) ज्योतिष पर केवल गोरखप्रसाद ने 'सौर-परिवार' (१६३२) लिखी, जो बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई है। रसायन-विज्ञान

पर फूलदेवसहाय वर्मा ने 'प्रारम्भिक रसायन' (१६२८) तथा 'साधारण रसायन' (१६३२), रामशरणदास सक्सेना ने 'गुणात्मक विश्लेषण, क्रियात्मक रसायन' (१६२६), सत्यप्रकाश ने 'साधारण रसायन' (१६२६) तथा 'कारबॉनिक रसायन' (१६२६) और वासुदेव विट्ठल ने 'प्रकाश रसायन' (१६३२) नामक कृतियाँ लिखीं। इसी प्रकार वनस्पति-शास्त्र पर केशव अनन्त पटवर्धन की 'वनस्पति-शास्त्र' (१६२८), प्रवासीलाल की 'वृक्ष-विज्ञान' (१६२६) तथा ब्रजेशबहादुर की 'जन्तु-जगत्, (१६३०) पढ़ने योग्य हैं। जीव-साहित्य पर मुकुटबिहारी वर्मा के 'जीवन-विकास' (१६३०), प्रभुदयाल मिश्र के 'जीवन-विज्ञान' (१६३३), सत्यप्रकाश के 'सृष्टि की कथा' (१६३७), तथा धीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती के 'जीवत्व-जनक' (१६३४) नामक ग्रंथों के नाम लिये जा सकते हैं। इस विषय पर फुटकर ग्रंथों में महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'विज्ञान-वार्ता' (१६३०), मनोहर कृष्ण के 'विज्ञान-रहस्य' (१६३५), चन्द्रशेखर शास्त्री के 'आधुनिक आविष्कार' (१६३६), यतीन्द्रभूषण मुकर्जी के 'वैज्ञानिकी' (१६३६) तथा रामदास गौड़ के 'विज्ञान-हस्तामलक' (१६३६) नामक ग्रंथों की गणना की जा सकती है।

शिक्षा—

शिक्षा-सिद्धान्त-सम्बंधी सामान्य ग्रंथों में प्रेमवल्लभ जोशी का 'पाठशाला तथा कक्षा-प्रबन्ध और शिक्षा-सिद्धान्त' (१६३०), गोपीलाल माथुर का 'शिक्षा-विधि' (१६३०), कालिदास कपूर का शिक्षा-मीमांसा' (१६३७), लज्जाशंकर झा का 'भाषा-शिक्षण-पद्धति' (१६२६) तथा इन्द्रनारायण अवस्थी का 'भाषा-शिक्षण-विधान' (१६३१) महत्त्वपूर्ण हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान पर दो पुस्तकें अच्छी निकलीं—एक, भैरवनाथ झा की 'मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र' (१६३२) तथा दूसरी, चंद्रावती लखनपाल की 'शिक्षा-मनोविज्ञान' (१६३४)। कन्या-शिक्षा पर केवल एक पुस्तक चन्द्रशेखर शास्त्री की 'कन्या-शिक्षा' (१६२८) उल्लेखनीय है। शिक्षा की विविध समस्याओं को लेकर जिन पुस्तकों का प्रकाशन हुआ,

उनमें शेषमणि त्रिपाठी की 'शिक्षा का व्यंग्य' (१९२७), कन्हैयालाल की 'राष्ट्रीय शिक्षा का इतिहास और उसकी वर्तमान अवस्थाएँ' (१९२९), लज्जाशंकर की 'शिक्षा और स्वराज्य' (१९३४) तथा श्रीनारायण चतुर्वेदी का 'शिक्षा-विधान-परिचय' (१९३५) के नाम लिये जा सकते हैं।

धर्म—

धार्मिक पुस्तकों का इस युग में अभाव रहा। इसका प्रमुख कारण नवयुग की हवा थी। इसलिए जो थोड़ी-बहुत पुस्तकें लिखी गईं, वे उन्हीं लोगों के द्वारा लिखी गईं जिन का धर्म में अटल विश्वास था। भिन्न-भिन्न संप्रदायों पर लिखी गई धार्मिक पुस्तकों में शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी की 'जैन-बौद्ध-तत्त्वज्ञान' (१९३४), विजयधर्म सूरि की 'जैन तत्वदिग्दर्शन' (१९३६), नारायणस्वामी की 'मृत्यु और परलोक' (१९२९), लेखराम की 'सृष्टि का इतिहास' (१९२८), गंगाप्रसाद उपाध्याय की 'आस्तिकवाद' (१९२६) 'जीवात्मा' (१९३३) तथा आनन्दस्वरूप की 'सत्संग के उपदेश' (१९३७) नामक पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। वेदान्त पर बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'जीव-विज्ञान' (१९२८), गंगाप्रसाद उपाध्याय ने 'अद्वैतवाद' (१९२८), आनन्दभिक्षु सरस्वती ने 'भावना' (१९२८), सुधाधर ने 'आनन्दामृत' (१९३३) तथा नारायण स्वामी ने 'ब्रह्म-विज्ञान' (१९३३) लिखीं। भक्ति पर लिखे गये ग्रंथों में हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' का 'प्रेम योग' (१९२९) ही देखने को मिलता है। योग पर नारायणसिंह ने 'राजयोग' (१९३१) तथा 'जीवन-मरण-रहस्य' (१९३३) और वंशीधर सुकुल ने 'वाममार्ग' (१९३३) लिखा। व्यापक धर्म पर महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'आध्यात्मिक' (१९२८), गंगानाथ झा की 'धर्म-कर्म-रहस्य' (१९२९), हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' की 'विश्व-धर्म' (१९३०) तथा हरिभाऊ उपाध्याय की 'युग-धर्म' (१९३१) नामक पुस्तकों में धर्म की व्यापकता और उदार वृत्ति का परिचय मिलता है। अन्त में, नीति-धर्म पर भी कुछ ग्रंथों का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिनमें गुलाबराय का 'मैत्री-धर्म' (१९२७),

पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी का 'तीर्थरेणु' (१६२६), नियाज़ मुहम्मदख़ाँ का 'लोक-सेवा' (१६३३) तथा लक्ष्मणप्रसाद भारद्वाज का 'मनन' (१६३२) नहीं भुलाया जा सकता

इनके अतिरिक्त भारतीय और अभारतीय भाषा-साहित्य पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचनाएँ हुईं, जो हमारे लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ—

हिंदी-साहित्य के विकास में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्रों का जितना हाथ रहा है, उतना अन्य किसी माध्यम का नहीं। इन पत्रों में नाटक, प्रहसन, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना तथा नाना साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं, जिनसे गद्य पुष्ट होकर उन्नति की ओर अग्रसर होता गया। प्रसाद-युग की पत्र-पत्रिकाएँ साहित्यिक हैं, उन पत्रिकाओं के सम्पादक योग्य, अनुभवी और प्रतिभासम्पन्न लेखक हैं। भारतेंदु-युग में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या तो बहुत थी, लेकिन उनके सम्पादक सम्पादन-कला से अनभिज्ञ थे। फिर बहुत-सी पत्रिकाएँ तो कुछ समय के लिए निकल कर बन्द हो गईं। द्विवेदी-युग में कुछ साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन अवश्य हुआ, लेकिन एक तो वे संख्या में बहुत थोड़ी थीं, द्वितीय सब प्रकार की रचनाएँ प्रायः एक ही पत्र में प्रकाशित होती रहती थीं। अभिप्राय यह कि कविता, कहानी, समालोचना आदि के लिए पृथक्-पृथक् पत्र नहीं थे। प्रसाद-युग इस दृष्टि से भिन्न है। इस युग में जितने पत्रों का प्रकाशन हुआ, वे शुद्ध साहित्यिक हैं। प्रायः सभी प्रकार की रुचि वाले मनुष्यों को अपनी-अपनी सामग्री इन पत्रों में मिल जाती है। भाषा की दृष्टि से भी यह युग विशेष महत्त्व का है। इस युग में प्रायः सभी पत्र शुद्ध खड़ी बोली को लेकर आगे आते हैं। भाषा का इतना परिमार्जित और परिष्कृत रूप विगत युगों की पत्र-पत्रिकाओं में देखने को नहीं मिलता। दैनिक समाचार-पत्रों में जो-जो मुख्य-मुख्य पत्र प्रकाशित हुए वे इस प्रकार

हैं—'जागरण' (१६३२, झाँसी), 'दरबार' (१६२७, अजमेर), 'नवज्योति' (१६३६,अजमेर, दुर्गाप्रसाद चौधरी + रामपालसिंह), 'नवभारत' (१६३४, नागपुर, श्री रामगोपाल महेश्वरी), 'नवराष्ट्र' (पटना, देवदत्त शास्त्री) 'भारत' (१६३३), प्रयाग, श्रीबलभद्रप्रसाद मिश्र), 'लोकमान्य' (१६३०, बम्बई, मदनलाल चतुर्वेदी), 'लोकमत' (१६३०, नागपुर, श्रीद्वारकाप्रसाद), 'हिन्दुस्तान, (१६३३), नई दिल्ली, श्रीमुकुटबिहारी वर्मा), 'हिन्दुस्तान' (कलकत्ता) तथा 'हिंदी मिलाप' (१६२८, दिल्ली, खुशहालचंद आनन्द)। धार्मिक एवं दार्शनिक पत्रों में—'आर्यसमाजी' (मासिक) तथा 'सार्वदेशिक' (१६२७), दिल्ली, धर्मदेव सिद्धांतालंकार), जैनधर्म मासिक पत्रों में—'सनातनजैन' (१६२८, यू० पी० मनोहरलाल जैन), पाक्षिक—'ओसवाल' (१६३५, आगरा, मूलचंद बोहरा), साप्ताहिक—'सुदर्शन' (१६२७, यू० पी०' प्यारेलाल सारस्वत), बौद्ध धर्म मासिक में—'धर्मदूत' (१६३६, बनारस, भिक्षु धर्म रत्न), ईसाई; मासिक में—'भानूदय' (१६२६, जबलपुर, पी० डी० सुखनंदन), आध्यात्मिक त्रैमासिक पत्रों में—'अदिति' (पाण्डीचेरी, डा० इन्द्रसेन), मासिक पत्रों में—'संजय' (१६३३, दिल्ली, श्रीभद्रसेन गुप्त), पौराणिक मासिक पत्रों में—'कल्याण' (१६२६, गोरखपुर, हनुमान्प्रसाद पोद्दार), ऐतिहासिक एवं शोध-पत्रिकाओं में—'जैन-सिद्धांत-भास्कर' (१६३३, बिहार, ए० एन० उपाध्याय) तथा 'भारतीय विद्या' (बम्बई, कन्हैयालाल), त्रैमासिक पत्रों में—'हिंदुस्तान'(१६३१, इलाहाबाद, रामचन्द्र टंडन), साहित्यिक एवं शैक्षणिक पत्रों में ये पत्र उल्लेखनीय हैं—प्रगतिवादी मासिक पत्रों में 'हंस' (१६३०, बनारस, अमृतराय) गल्प व कहानियों में 'अरुण' (१६३२, मुरादाबाद, पृथ्वी-राज मिश्र), 'आरती' (पटना, श्रीअज्ञेय + प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'), साहित्यिक एवं शैक्षणिक पत्रों में (गल्प तथा कहानियों के पत्र)—'माया' (१६३०, प्रयाग, श्रीक्षितीन्द्र मोहन मित्र 'मुस्तफ़ी', हास्य-रस-प्रधान साप्ताहिक—'मतवाला' (१६२२, यू० पी० पाण्डेय बेचन

शर्मा उग्र), शिक्षा सम्बन्धी मासिक-पत्र—'शिक्षक बन्धु' (१९३३, यू० पी० रामचंद्र गुप्त, तथा 'शिक्षण-पत्रिका' (१९३३, इन्दौर, श्री बंसीधर), सामान्य साहित्यिक मासिक पत्रों में—'विश्वामित्र' (१९३२, कलकत्ता, देवदत्त मिश्र), 'विशालभारत' (१९२८,कलकत्ता, श्रीराम शर्मा) 'वीणा' (१९२६, इन्दौर, गोपीवल्लभ उपाध्याय) तथा 'नवयुग' (१९३२, दिल्ली, इन्द्रनारायण गुर्टू), राजनैतिक हिंदू-राष्ट्रवादी मासिक पत्रों में—'श्रद्धानन्द' (१९३०, दिल्ली), 'हिन्दू' (१९३५, हरद्वार, हरिश्चन्द्र-सिंह भाटी), 'विजय' (१९३१, मुरादाबाद, सोम शर्मा), तथा 'हरि-सेवक' (१९३२, अहमदाबाद, किशोरलाल), समाजवादी साप्ताहिक पत्रों में—'प्रभात' (१९३३, जयपुर, बाबा नरसिंहदास), राष्ट्रीय-पत्रों में मुख्य-मुख्य ये हैं—(साप्ताहिक)—'कर्मवीर' (१९२६, सी० पी० माखनलाल चतुर्वेदी), 'योगी' (१९३३, पटना, ब्रजशंकर), 'वीर अर्जुन' (१९३४, दिल्ली, कृष्णचंद विद्यालंकार), 'स्वराज्य' (१९३१, सी० पी०, यशवन्त), सामाजिक संस्था प्रचारक एवं जातीय मासिक पत्रों में—'यादव' (१९२६, बनारस, राजितसिंह) तथा 'सनाढ्यजीवन' (१९३२, यू० पी०, प्रभुदयाल शर्मा), उपयोगी मासिक पत्रों में 'सेवा' (१९२०, इलाहाबाद, रमाप्रसाद पहाड़ी), 'जीवन-सखा' (१९३६, प्रयाग, बालेश्वरप्रसादसिंह), 'बालहित' (१९३६, उदयपुर, कालूलाल श्री-माली), 'पण्डिताश्रम' (१९२६, उज्जैन, ज्योतिषाचार्य संकर्षण व्यास) तथा 'बेकार सखा' (१९३२, यू० पी०), बालोपयोगी मासिक-पत्रों में—'खिलौना' (१९२६, प्रयाग, श्रीरघुनंदन शर्मा), 'चमचम, (१९३०, प्रयाग, गंगाप्रसाद उपाध्याय), 'बालविनोद' (१९२३, लखनऊ, श्रीसरस्वती डालमियाँ) तथा 'बालक' (१९२७, पटना, श्री आचार्य रामलोचनशरण), और अंत में कला, संगीत तथा चलचित्रों के लिए (मासिक) 'लेखक' (१९३५, प्रयाग), 'संगीत' (१९३४, यू० पी०, श्री प्रभुलाल गर्ग), 'सारंग' (१९३५, दिल्ली, एस० एन घोष) तथा 'चित्रपट' (१९३२, दिल्ली, श्री सत्येन्द्र शर्मा) देखने योग्य हैं।

टीकाकार—

इस युग के टीकाकारों में सब से महत्त्वपूर्ण लेखक जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा लाला भगवानदीन हैं। रत्नाकरजी ने हिंदी में अनेक प्राचीन काव्यों का सफल सम्पादन करके टीकाएँ भी लिखीं। 'बिहारी सतसई' पर लिखी गई टीका बहुत ही सुंदर बन पड़ी है। उसका अर्थ बड़ी ही सरलता से समझाया गया है। लाला भगवानदीन ने केशव और बिहारी पर जो उच्च कोटि की टीकाएँ लिखी हैं, उनसे इन कवियों के काव्य को समझने में भारी सुविधा हुई है। अन्य लेखकों में विश्वनाथप्रसाद मिश्र उल्लेखनीय हैं।

सम्पादन—

बाबू श्यामसुंदरदास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्राचीन हिंदी-ग्रंथों का जो आदर्श सम्पादन किया, उससे बहुत से लेखकों को इस क्षेत्र में प्रेरणा मिली। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'मतिराम-ग्रंथावली' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का सम्पादन प्रस्तुत किया। रामनरेश त्रिपाठी ने युक्तप्रान्त और बिहार के ग्राम-गीत का एक बड़ा ही सुंदर सम्पादन किया है। 'कविता-कौमुदी' नामक हिंदी-कवियों की कविताओं का संग्रह हिंदी-संसार में अत्यंत लोकप्रिय हुआ। राजस्थानी साहित्य के ग्रंथों का सम्पादन करने वाले लेखकों में ठाकुर रामसिंह और सूर्यकरण पारीक के नाम सर्वप्रसिद्ध हैं। उनके द्वारा सम्पादित 'कृष्ण-रुक्मिणीरीबेलि' को देखकर डाक्टर ग्रियर्सन ने भी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। 'ढोला मारूरा दूहा' भी एक ऐसा ही सम्पादित ग्रंथ है। इसी प्रकार पुरोहित हरिनारायण ने 'सुंदर ग्रंथावली' का सम्पादन बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया है।

अनुवाद—

प्रसाद-युग हिंदी-साहित्य में प्रधानतः मौलिक साहित्य-सृजन का युग है, इसलिए विगत युगों की भाँति इसमें अनुवाद की भीड़-भाड़ नहीं दिखाई देती। केवल अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रंथों का अनुवाद ही इस युग में देखने को मिलेगा। अनुवाद उस अवस्था में हमारे साहित्य में अधिक

हुए जब हमारे पास कहने को कुछ नहीं था, हम दूसरों के पास अच्छी-अच्छी वस्तुओं को देखकर ललचा रहे थे। द्विवेदी-युग के दो प्रसिद्ध अनुवादक इस युग में भी बड़े उत्साह के साथ अनुवाद करते रहे। इस दिशा में दोनों की शक्ति उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होती रही। पंडित रूपनारायण पांडेय ने इस युग में भागवत का अनुवाद 'शुकोक्ति-सुधा-सागर' के नाम से किया। अनुवाद में कहीं-कहीं कुछ शिथिलता अवश्य लक्षित होती है, लेकिन फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उनकी भाषा अन्य भाषाओं के भावों को प्रौढ़ता के साथ व्यक्त करने में सफल हुई है। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने भी अनेक सुंदर और सफल अनुवाद किये हैं। हमारी भाषा के अनुवादकों में आचार्य शुक्ल का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। आपके अनुवाद कहीं-कहीं तो मौलिक रचनाओं से भी सुन्दर हो गये हैं, क्योंकि मूल त्रुटियों को बचाकर ग्रंथ को एक समुन्नत रूप देने की चेष्टा की गई है। राखालदास के 'शशांक' का अनुवाद इसका ज्वलंत उदाहरण है। संस्कृत से जो अनुवाद हुए, उनमें पंडित ऋषीश्वरनाथ भट्ट के 'कादम्बरी' नामक ग्रंथ का अनुवाद ही सफल हुआ है। पंडित चंद्रशेखर शास्त्री ने 'वाल्मीकी रामायण' के अनुवाद करने के अनन्तर महाभारत का अनुवाद किया। मराठी से बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'दासबोध' का एक सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया। इसी प्रकार पंडित लक्ष्मण नारायण गर्दे ने मराठी से अनुवाद किये हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर के ग्रंथों का सफल अनुवाद धन्यकुमार जैन ने किया। गुजराती ग्रंथों के अनुवाद में बाबू रामचन्द्र वर्मा, पंडित हरिभाऊ उपाध्याय तथा काशीनाथ त्रिवेदी ने बड़ी तत्परता दिखाई। अन्त में, अंग्रेज़ी साहित्य का भी अनुवाद हिंदी में किया गया, जिनमें पंडित छबिनाथ, प्रेमचन्द, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, पंडित जनार्दन भट्ट आदि के नाम सगर्व लिये जा सकते हैं। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी का 'बलिदान' तथा श्रीकृष्णदत्त पालीवाल का 'अमरपुरी' नामक अनुवाद विशेष रूप से प्रशंसनीय है।

१३

वर्तमान-युग

(सन् १९३७ से १५ अगस्त, १९४७ ई० तक)

प्रसाद-युग से आगे चलकर जब हम वर्तमान-युग में प्रवेश करते है, तो हमें मौलिक गद्य की दृष्टि से कोई विशेष उन्नति नहीं दिखाई देती। विगत युग के वे ही लेखक, वही लेखन-शैली और वे ही विचारधाराएँ—कोई नवीनता नहीं। हाँ, इस युग तक पहुँचते-पहुँचते दुर्भाग्य से बहुत से लेखकों ने हमारा साथ छोड़ दिया, लेकिन जो हमारे साथ रहे, उनके द्वारा भी गद्य का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो सका। क्या हुआ, यदि उनमें से दो-चार साहित्यकारों के गद्य पर हम मुग्ध हो जाएँ? गद्य की इस हीनावस्था के अनेकों कारण हैं। इस युग में विज्ञान के नवीन आविष्कारों—उदाहरणार्थ चलचित्र, रेडियो आदि ने गद्य को प्रोत्साहन तो अवश्य दिया, लेकिन उनके द्वारा साहित्यिक रूप का कोई विकास नहीं हो पाया। हमारे विश्व-विद्यालयों में अध्यापकों तथा खोजियों की दृष्टि एक मात्र अन्वेषण-कार्य की ओर ही लगी रही। न तो उन्होंने स्वयं कोई मौलिक गद्य की उद्भावना की और न किसी को इसके लिए आगे ही बढ़ाया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों में राजनीतिक नेतागण सभापति का आसन ग्रहण करने लगे और इससे हमारा गद्य राजनीति के दलदल में फँस गया। यही नहीं, हमारे साहित्यिक निर्माता इन राजनीतिक नेताओं के ऐसे भक्त हो गये कि उन्होंने स्वतंत्र रूप से साहित्य-सृजन करना एक प्रकार से बन्द कर दिया। इन राजनीतिक नेताओं ने काँग्रेस-मंच पर हिन्दुस्तानी का ही समर्थन किया, क्योंकि उनके विचार से राष्ट्र-भाषा की समस्या का हल, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, हिन्दू-

मुस्लिम-समस्या का हल था। इस साम्प्रदायिक भावना से साहित्य को कोई विशेष लाभ नहीं हो सका। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र की तरह साहित्य के क्षेत्र में भी हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का संघर्ष अपना विकराल रूप लेकर हिन्दी-साहित्य-सेवियों के सन्मुख आया। अँग्रेज़ों की कूटनीति ने इस प्रश्न को उभारा और हर समय उर्दू वालों से अपना निकटतम सम्बन्ध बनाये रखा।

वर्तमान-युग वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना का युग है। इसलिए साहित्यकारों को राष्ट्रीय भावना का प्रचार ही अभीष्ट हुआ। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक होगा कि भारतीय राजनीतिक विचारधारा में राष्ट्रीयता का समावेश अँग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन से ही नहीं आया। भारत में राष्ट्रीयता की चेतना पुरातन है। लेकिन हाँ, तिलक, गाँधी तथा अन्य प्रमुख नेताओं की विचारधाराओं ने भारतीय जनता को इस युग में विशेष प्रभावित किया। इससे सबने अपने अपने दायित्त्व को समझा, सोचा और उसके लिए लड़ मरने की आन ठान ली। सम्पादक, लेखक और भारतीय जनता गाँधी की काँग्रेस से इतनी प्रभावित हुई कि सबने मिलकर एक स्वर से स्वतंत्रता के नारे लगाना आरम्भ किया। तिरंगा झंडा घर-घर में फहराने लगा और उसकी शान के लिए सबने तन, मन, धन और जन से सहायता देना आरम्भ किया। फिर साहित्यकार जिस का हृदय सामान्य मनुष्य की अपेक्षा अधिक भावुक और कोमल होता है, इससे कैसे पीछे रह सकता था? यही कारण है कि महात्मा गाँधी के सिद्धान्त की सूक्ष्म भावनाओं से प्रेरित होकर उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द गाँधीवाद का सन्देश लेकर हमारे सामने आये। उनके उपन्यासों में ग्रामीण समस्याओं का चित्रण, सत्याग्रह-आन्दोलन और विभिन्न परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उनकी अहिंसात्मक आन्दोलन की सफलता या असफलता का चित्र हम देख चुके हैं। हिन्दी के क्षेत्र में राष्ट्रीय भावना को सबसे गम्भीर और सुसंस्कृत रूप में हमारे सामने प्रसाद

जी ने रखा था। उनकी राष्ट्रीयता में भारत का उस महान् संस्कृति का स्वर जो युगों से भारतीयता का शृङ्गार करता आ रहा है, सुनाई देता है। इसी प्रकार पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, श्यामलाल पार्षद, दिनकर आदि न जाने कितने लेखकों को इस राष्ट्रीय भावना ने प्रभावित किया। वर्तमान युग की विशेषता ही राष्ट्रीय भावना है।

साहित्य में प्रधानतः यह राष्ट्रीय भावना तीन प्रकार से अभिव्यक्त हुई। प्रथम, सृजनात्मक साहित्य और कथाओं में ब्रिटिश-विरोधी देश-भक्त भावनाओं के रूप में जिसमें परतन्त्र मनुष्य की कठिनाइयों तथा संकटों का चित्रण किया गया है। द्वितीय, नवीन भारतीय इतिहास के रूप में, जिसमें अपनी संस्कृति के वास्तविक महत्त्व को जनता के सामने उपस्थित कर राष्ट्रीय सांस्कृतिक स्वाभिमान को जगाया गया है। और तृतीय, भारतीय दर्शन के रूप में, जिसमें दर्शन की महत्ता का स्पष्ट विवेचन हुआ है। रचनात्मक साहित्य, इतिहास तथा दर्शन के अतिरिक्त राष्ट्रीय भावना के प्रचार में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम में इस युग की पत्र-पत्रिकाओं ने चतुर सेनानायकों का सा काम किया। हिन्दी के प्रचार में उनका योग शायद ही इतना रहा हो। प्रायः प्रत्येक पत्र में राजनीतिक रचनाओं का प्रकाशन होता रहा। कोई नगर इस प्रकार की रचनाओं से खाली नहीं रहा। यथार्थ में यह युग इस दृष्टि से पत्र-पत्रिकाओं का युग भी कहा जा सकता है। लेकिन राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत, राजनीतिक रचनाओं के एकाधिपत्य से मौलिक गद्य की धारा मंद पड़ गई। लेखकों का ध्यान दूसरी ओर न जा सका।

वर्तमान-युग संक्षेप में, हमारी राजनीतिक, सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का जाग्रति-युग है, इसलिए साहित्य में नवचेतना के चिन्ह इस समय की रचनाओं में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। हिन्दी ने अपने जन्म-सिद्ध साहित्यिक अधिकारों के लिए इस युग में जितनी दौड़-धूप की

उतनी शायद और कभी नहीं। इन सब कारणों से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के चिन्ह तो स्पष्ट दिखाई देने लग गये, राजनीतिक साहित्य भी अच्छा-खासा तैयार हो गया, लेकिन उत्कृष्ट कोटि के ठोस साहित्यिक गद्य का निर्माण नहीं हो सका। अन्त में, साहित्यिक गद्य का सर्वथा अभाव तो नहीं, लेकिन फिर भी अभाव इस युग की समस्त रचनाओं को देखकर खटकता ही रहता है।

(१) निबन्ध—

इस युग के निबन्ध-साहित्य के अन्तर्गत हमारे दृष्टि-पथ पर प्रसाद-युग के ही अधिकांश लेखक दिखाई पड़ते हैं। उनकी गद्य-शैली से हम परिचित हो चुके हैं, अतः उन्हें यहाँ दोहराना व्यर्थ है। उनके संबंध में केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उनके निबन्ध प्रकाशित होते रहे। निबन्धों की कमी इन पत्र-पत्रिकाओं में नहीं है, लेकिन निबन्ध-संग्रह केवल इने-गिने ही निकल सके। साहित्य के अन्य अंगों की भाँति लेखकों का ध्यान इस ओर अपेक्षाकृत कम ही गया।

नवीन लेखकों में विविध विषयों के निबन्ध-संग्रह की दृष्टि से गंगाप्रसाद पाण्डेय के 'निबंधिनी' (१९४०), नलिनीमोहन सान्याल के 'उच्च विषयक लेखमाला' (१९४१), मोहनलाल महतो 'वियोगी' के 'विचारधारा (१९४१), धीरेन्द्र वर्मा के 'विचारधारा' (१९४२), महादेवी वर्मा के 'श्रृङ्खला की कड़ियाँ' (१९४२) आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

गंगाप्रसाद पाण्डेय हिन्दी के एक सफल आलोचक ही नहीं; वरन् एक कुशल निबन्ध-लेखक भी हैं। आपने अपने निबन्ध मनोवैज्ञानिक तल के आधार पर सूक्ष्म अंतर्दृष्टि से लिखे हैं। निबन्ध अधिकांश में विचारात्मक हैं और उनमें साहित्य के आधारभूत सिद्धान्तों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इनके निबन्धों की सब से बड़ी विशेषता यही है कि वे गम्भीर होते हुए भी हमारे हृदय को स्पर्श करते रहते हैं।

विचार परिपक्व हैं और शैली पर उनका अपना अधिकार है। शैली वेगशील है, उसमें सजीवता है। भाषा का झुकाव तत्सम शब्दों की ओर अधिक है। एक उदाहरण देखिए—

'इस जीवन में जो वैषम्य है, विकार और अन्धकार है, उसका कारण ज्ञान का अभाव नहीं है, वरन् इसका कारण है—आत्मा की संकीर्णता। कला इसी आत्मा को अपने संजीवन से सदैव सींचने की चेष्टा करती है। कला की सीमा में आकर हमारी सभी शक्तियाँ, प्रवृत्तियाँ क्रियमाण हो उठती हैं और हम जीवन के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। सारांशतः कला हमें आँखों में प्रसन्नता का प्रकाश, चित्त में चैतन्य की एक अलौकिक आभा, शरीर में सुख का स्पन्दन, भावना में एकभव्यता और मन में एक उल्लासमयी मादकता तथा समाज और संसार के बीच समानता का संदेश देने वाली जीवन की दिव्य अनुभूति है।'

धीरेन्द्र वर्मा के निबन्धों में साहित्यिक चर्चाएँ अधिक होती हैं और इसलिए निबन्ध-साहित्य में आपका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। साथ ही उन्होंने उनका जीवन के साथ सामञ्जस्य भी स्थापित किया है। विचारधारा में खोज, हिन्दी-प्रचार और हिन्दी-साहित्य पर ही निबन्ध लिखे गये हैं। भाषा सरल, शुद्ध और स्वाभाविक है तथा हृदय की चुटकी लेने वाली होती है। खोज और अध्ययन की दृष्टि से ये निबंध अद्वितीय हैं, जिनमें जीवन और साहित्य दोनों का सापेक्ष्य अध्ययन हुआ है। 'हमारे प्रान्त की कुछ समस्याएँ' निबन्ध के अन्तर्गत आप लिखते हैं—

'हमारे प्रान्त की सभी समस्याएँ उलझी पड़ी हैं, क्योंकि काव्य-चर्चा तथा भारतीय राजनीतिक चाट के आगे हम लोगों ने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया है। सब से पहली समस्या प्रान्त के नाम की है। अपने प्रान्त के इस आवश्यक संस्कार के सम्बन्ध में हम लोगों ने अभी विचार तक नहीं किया है। अपने धर्म में मनुष्य के संस्कारों

में नामकरण एक मुख्य संस्कार है, जो जन्म के बाद शीघ्र ही किया जाता है। शौक़ीन लोग कुत्तों को 'पीटर' तथा अपने साधारण मकान को 'लक्ष्मी-निवास' से नीचा नाम देना नहीं पसंद करते। लेकिन प्रांत के नाम के सम्बन्ध में वही सनातनी उपेक्षा।'

कविता के क्षेत्र की भाँति महादेवी वर्मा ने अपने उत्कृष्ट निबन्धों के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि वे हिन्दी के अच्छे से अच्छे निबन्धकार से किसी प्रकार कम नहीं है। महादेवी के निबन्ध एक निश्चित उद्देश्य को लेकर लिखे गये हैं। उन में उपदेश की मात्रा नहीं, उनके निर्णयों में एक अद्‌भुत शक्ति है। उनके निबन्धों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन की यथार्थता की पर्याप्त मात्रा रहती है। कल्पना की बेपर उड़ानें कम हैं, हाँ अनुभूतियों का आधिक्य अवश्य है। 'शृङ्खला की कड़ियाँ' में नारी विषयक निबन्ध हैं, जिनमें भारतीय नारी की समस्याओं का सुन्दर विवेचन किया गया है। साथ ही प्रत्येक समस्या पर विद्वत्ता और निष्पक्षता के साथ विचार किया गया है। रहस्यवादी कविता की तरह विचारों के उलझन में पड़ी हुई महादेवी के निबन्ध कहीं-कहीं पहेलियों के सदृश हो गये हैं, जिन्हें सुलझाना अत्यन्त ही कठिन है। निबन्धों में नारी की घनीभूत मार्मिक वेदना को जिस रूप में प्रकट किया गया है, वह हमारे लिए विशेष हृदयग्राही हुई है। चित्रोपमत्ता इन निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के चित्र सजीव और यथार्थ हैं। बीच-बीच में विनोद-व्यंग्यों से निबन्धों की मनोहरता बढ़ गई है। शैली अपूर्व है। उसमें निष्प्राण शब्दों तथा वाक्यों की बहुलता नहीं, वरन् उनके हृदय से निकलती हुई एक मौन और मूक वाणी सन्निहित है। प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर उपयुक्त है, उसे हटा देना मानों सारे निबन्ध के सौन्दर्य को नष्ट करना है। नारी जाति की समस्याओं का उद्‌घाटन करने वाली इस प्रथम लेखिका के गद्य का यह उदाहरण देखिए, कितना सुन्दर है :—

'आदिम युग से ही नारी ने पशुबल में अपने आपको पुरुष से दुर्बल पाया। प्रकृति ने केवल उसके शरीर को ही अधिक सुकुमार नहीं बनाया, वरन् उसे मनुष्य की जननी का पद देकर उसके हृदय में अधिक समवेदना, आँखों में अधिक आर्द्रता तथा स्वभाव में अधिक कोमलता भर दी। मातृत्व के कारण उसके जीवन का अधिक अंश संघर्ष से भरे विश्व के एक छिपे कोने में बीतता रहा। पुरुष चाहे उसे युद्ध में जीतकर लाया, चाहे अपहरण कर; चाहे उसकी इच्छा से उसे प्राप्त कर सका; चाहे अनिच्छा से; परन्तु उसने प्रत्येक दशा में नारी को अपनी भावुकता का अर्घ्य देकर पूजा। नारी भी नारियल के कड़े छिलके के भीतर छिपे जल के समान पुरुष की बाह्य कठोरता के भीतर छिपी स्निग्ध प्रवृत्ति का पता पा गई थी। अतः उसने सारी शक्ति केवल उसकी कोमल भावना को जगाने में लगा दी। उसने न अपनी भुजाओं में शक्ति भरने और उस शक्ति के प्रदर्शन से पुरुष को चमत्कृत करने का प्रयत्न किया और न अपनी विद्याबुद्धि से पुरुष को पराजित करने का विचार किया। वह जानती थी कि इन गुणों के प्रदर्शन से पुरुष में प्रतिद्वन्द्विता की भावना जागेगी, परन्तु वह पराजित होने पर भी वशीभूत न हो सकेगा, क्योंकि प्रतिद्वन्द्वियों की हार-जीत में किसी प्रकार का भी आत्म-समर्पण सम्भव नहीं।'

नलिनी मोहन सान्याल के निबन्ध विचारात्मक हैं। उनमें सर्वत्र गम्भीरता दृष्टिगत होती है। विषयों का चुनाव श्रेष्ठ है। भाषा सशक्त है और विचारों को अभिव्यक्त करने में पूर्ण सफल हुई है। मोहनलाल महतो 'वियोगी' के निबन्ध भावात्मक हैं, उन में उनके कवि-हृदय की छाप प्रतिबिम्बित है। भाषा की सरसता ने उनके निबन्धों को विशेष हृदयग्राही बना दिया है। यही कारण है कि विषय कितना ही गम्भीर क्यों न हो, वे उसे एक सरल रूप देकर हमें अपने विचारों का पूरा पूरा परिचय दे सकते हैं।

अन्य लेखकों में इलाचन्द्र जोशी ने विशेष ख्याति प्राप्त की है।

जोशी जी साहित्य-मर्मज्ञ ही नहीं, सफल निबन्धकार भी हैं। आपके निबन्धों में विचार सुलझे हुए होते हैं। विचार-प्रधान होते हुए भी उनमें सरसता बराबर रहती है, इस लिए पाठक कहीं ऊबता नहीं। भाषा और शैली की दृष्टि से आधुनिक लेखकों में आपका स्थान महत्त्वपूर्ण है। भाषा का तत्सम शब्दों की ओर झुकाव अधिक रहता है। सरल और मिश्र दोनों वाक्यों पर आपका पूर्ण अधिकार है। हिन्दी-लेखकों में सशक्त भाषा-संस्थापकों में आपका नाम चिरस्मरणीय रहेगा। 'कला में सौंदर्य का आदर्श' से यह अंश देखिए—

'वन-गज के मद से वासित, जंबू-कुंज के तीर में बहने वाले जल को ग्रहण करता हुआ, सारंगों से सूचित मार्ग से होकर चलता हुआ, सजल-नयन मोरों द्वारा अभिनंदित होकर विश्राम करता हुआ, बन-नदियों में पानी बरसाता हुआ, उद्यानों में अपने नव-जलकणों से यूथिका-जालकों को सेवन करता हुआ, गालों में उत्पन्न हुए स्वेद-कणों को बार बार पोंछने से क्लांत कर्णोत्पल वाली मालिनों को शीतल छाया प्रदान करके उनसे क्षण काल के लिए परिचित होकर जब मेघ मन्द गति से चला जाता है, तो उस दृश्य में कितना अनुपम सौंदर्य नहीं भरा रहता। अभिराम सौंदर्य की कैसी अविराम धारा बही जा रही है। केवल रमणी के रूप और उसकी विलासिता में ही सौंदर्य नहीं है। प्यासों को पानी पिलाने में, उत्कंठितों को दिलासा देने में, तप्तों को छाया प्रदान करने में जो माधुर्य है, उसके आगे कोई सौंदर्य नहीं ठहर सकता।'

महाराज रघुवीरसिंह के निबन्धों से तो हिन्दी-निबन्ध-प्रेमी चिर-परिचित ही हैं। 'सप्तदीप' (१९३८) आपके सात निबन्धों का एक सफल संग्रह है जिसमें 'आधुनिक हिन्दी-काव्य', 'वह प्रतीक्षा', 'जब बादशाह खो गया था', 'सेवासदन से गोदान तक', 'इतिहास-शास्त्र', 'शिमला से' तथा 'भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व' नामक निबन्ध देखने को मिलते हैं। 'शिमला से' उनके जीवन

का प्रथम निबन्ध है। महाराजा साहब के निबन्धों में गम्भीरता है और है विचारों की गहराई। वे अपने विषय के साथ न्याय करने में सफल हुए हैं। उनकी अनूठी व्यंजना-शक्ति ने उनके निबन्धों को एक सुन्दर रूप दिया है। भाषा पर उनका अधिकार है, इसके द्वारा वे अपने भावों को स्पष्ट करने में पूर्ण सफल हुए हैं। 'आधुनिक हिन्दी-काव्य' नामक साहित्यिक निबन्ध का यह उदाहरण देखिए—

'कवि, सच्चा कवि, अपने देश-काल का सच्चा प्रतिनिधि होता है। मानव-जीवन सम्बन्धी चिरस्थायी सत्य, वे अक्षय तत्व, प्रत्येक बार नवीन स्वरूप में भिन्न भिन्न कवियों के मस्तिष्क में निर्मित होकर जन-समाज के सम्मुख समुपस्थित होते हैं। तत्कालीन समाज या परिस्थिति के अनुसार ही हर बार मानव-जीवन की नित नई आलोचना होती है, और जब यह आलोचना साधारण गम्भीरता से भी अधिक गम्भीर हो जाती है, जब वह देश-काल के उस संकुचित वायु-मंडल से भी ऊपर मँडराने लगती है, तभी उस देश में विश्व-कवि अवतरित होते हैं, जो किसी विशिष्ट देश, काल तथा समाज की वस्तु न रहकर सारे विश्व की एक अमूल्य निधि बन जाते हैं।'

नरोत्तमदास स्वामी भी छोटे छोटे भावात्मक निबन्ध लिखने में कुशल हैं। उनके निबन्धों का विषय प्रधानतः साहित्यिक होता है और उसमें छोटे छोटे वाक्यों और कोमल वाक्यावली के द्वारा वे अपने भावों को स्पष्ट करने में पूर्ण सफल हुए हैं। उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषता उनकी सरलता, स्वाभाविकता और सरसता है। 'लोकगीत' का यह अंश देखिए—

'चहारदीवारी लाँघकर ये गीत हमारे घरों के भीतर जा पहुँचे। चक्की चलाती हुई और दही मथती हुई स्त्रियों ने प्रभातियाँ छेड़ीं, माता ने लोरियाँ गायीं; बहनों ने अन्तःकरण का सारा स्नेह भाइयों पर उँडेल दिया। पत्नी ने मान-मनावन किए, विरह-वेदना गाई, कागों और कुरजों के साथ संदेसे भेजे और सूनी सेज की शिकायत

की। सिर पर घड़ा और घड़े पर 'बेवड़ा' रखे, पानी को जाती हुई, पनिहारिनों ने अपनी मीठी वाग्धारा से अग-जग को आप्लावित कर दिया। आज भी सन्ध्या समय काम-काज से निपटने के पीछे गानार्थ जुड़ा हुआ नारी-मंडल और बालिका-समाज गाँव-गाँव में दिखाई पड़ेगा।'

अन्य निबन्ध-लेखकों में डा० भगवानदास, सियारामशरण गुप्त, देवेन्द्रप्रसाद जैन, हरिभाऊ उपाध्याय, शांतिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० इन्द्रनाथ मदान, जैनेन्द्र, डा. नगेन्द्र, डा० सूर्यकान्त, प्रभाकर माचवे, डा० सोमनाथ गुप्त आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनके निबन्ध समय समय पर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं, इधर कुछ संग्रह भी प्रकाशित होने लगे हैं। इनमें नन्द-दुलारे वाजपेयी, डा० मदान, प्रभाकर माचवे और डा. नगेन्द्र ने इस क्षेत्र में विशेष आदर प्राप्त किया है।

गद्य-गीत की दृष्टि से इस युग में दिनेशनंदिनी चोरड्या के 'मौक्तिक माल' (१९३७), 'शारदीया' (१९३९) तथा वंशीरव, महाराजकुमार रघुवीरसिंह के 'शेष-स्मृतियाँ' (१९३९), सियारामशरण गुप्त के 'झूठ-सच' (१९३९), गुलाबराय के 'मेरी असफलताएँ' (१९४०), 'रजनीश' के 'आराधना' (१९४१), तारा पाण्डेय के 'रेखाएँ' (१९४१) तथा हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' के 'मेरी हिमाक़त' (१९४२) नामक संग्रह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रायः सभी गद्य-गीत उत्कृष्ट कोटि के हैं जिनमें विगत युग के गद्य-गीतों की तरह रहस्यवादी एवं छायावादी भावनाओं का स्फुरण हुआ है। कहीं-कहीं देश की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक दुर्बलताओं की ओर संकेत किया गया है तो कहीं-कहीं प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए प्रार्थना को गई है।

महाराजकुमार रघुवीरसिंह के 'शेष-स्मृतियाँ' नामक संग्रह ने इस क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। इनके गद्य-गीतों को हम यदि

भावात्मक उच्च कोटि के निबन्ध भी कह दें, तो अनुचित न होगा। भावुक लेखक ने 'ताज', 'एक स्वप्न की शेष स्मृतियाँ', 'अवशेष', 'तीन क़ब्रें' और 'उजड़ा स्वर्ग' में केवल ऐतिहासिक घटनाओं का ही आश्रय नहीं लिया है, वरन् उनमें अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा जीवन और स्फूर्ति भर दी है। प्रायः सभी निबन्ध गंभीर चिन्तन के शुभ परिणाम हैं, जिनमें मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करने की अपूर्व क्षमता है। जीवन के रहस्योद्‌घाटन के लिए कुशल गद्य-गीतिकार ने जिन स्वाभाविक व्यापारों को चुना है, इससे उनकी सहृदयता तथा प्रकृति के अनन्य अनुराग का परिचय प्राप्त होता है। इन गद्य-गीतों की प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें मानसिक दशाओं और भावों के उद्‌गारों को पर्याप्त स्थान दिया गया है। वे हृदय के उमड़ते हुए भावों की अनूठी व्यंजना में पूर्ण सफल हुए हैं। निरीक्षण सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इन निबंधों का कला-पक्ष तो अत्यन्त ही कलापूर्ण, आकर्षक और मर्मस्पर्शी है। सभी तरंग-शैली में लिखे गये हैं। भाषा की भावभंगी ही निराली है—'कहीं कुछ दूर तक सम्बद्ध और बीच-बीच में उखड़े हुए वाक्य, कहीं छूटे हुए शून्य स्थल, कहीं अधूरे छूटे प्रसंग, कहीं वाक्य के किसी मर्मस्पर्शी शब्द की आवृत्ति, ये सब लक्षण भावाकुल मनोवृत्ति का आभास देते हैं।' लक्षणा के द्वारा वाग्वैचित्र्य का सुन्दर और आकर्षक संविधान जैसा इनके निबन्धों में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भाषा निःसंदेह पाठकों पर नया रंग जमाती है। उसमें चंचलता, मादकता, स्फूर्ति प्रायः सभी आवश्यक गुण विद्यमान हैं। एक उदाहरण से ये सब गुण स्पष्ट हो जाएँगे—

'आज भी उन सफ़ेद पत्थरों से आवाज़ आती है—"मैं भूला नहीं हूँ"। आज भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रति वर्ष उस सुन्दर सम्राज्ञी की क़ब्र पर टपक पड़ती है; वे कठोर निर्जीव पत्थर भी प्रति वर्ष उस सुन्दर सम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की उस करुण कथा के इस दुःखान्त को

देखकर, पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से अनजाने एक आँसू ढलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा समाधि को चूमती हुई भग्न मानव-जीवन की वह करुण कथा अपने प्रेमी सागर को सुनाने के लिए दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न-हृदय की व्यथा को याद कर कभी कभी यमुना नदी का हृदय-प्रदेश उमड़ पड़ता है और उसके वक्षःस्थल पर भी आँसुओं की बाढ़ आती है।'

दिनेशनंदिनी चोरड्या ने भी अपने गद्य-गीतों के द्वारा हिन्दी-निबन्ध-जगत् में अपना प्रमुख स्थान बना लिया है। उनके गद्य-गीतों में आत्माभिव्यंजन की मात्रा अधिक है। एक विशेष भाव को भिन्न भिन्न रूपों से चित्रित करने में उन्हें सफलता मिली है। उनके गीतों में नारी-व्यथा की तीव्रता सुनाई देती है। एक उदाहरण देखिए—

'संसार के सूने पत्रों में अपना मोतिया यौवन ढालकर मैं विश्वास के पर तोड़ रही हूँ, सौंदर्य की विषम बाहुओं में अपने जीवन को उलझा, समय का रुख मोड़ रही हूँ। 'कल' की आँखों में आशा का प्यार झूलता है, पर 'आज' तिल-तिल कर मिट रहा है, सौरभ की रंगीन घाटी से उतर मेरी कल्पना कछारों की शीतलता पर विश्राम करे, तब तक संसार के सूने पलों में अपना यौवन ढाल विश्वास के पर तोड़ दूँ।

÷ ÷ ÷

'तुम्हारे आकर्षण का किरण-जाल मुझ में प्रवेश न करने पाएगा। तुम्हारी मधुरिमा श्मशान से जीवन में सुरसरिता नहीं बहा सकती। ...मेरी जरा हरने के लिए व्यर्थ ही अपने यौवन की बलि क्यों देते हो? वह सुनहरी आब उस पर चढ़ते ही स्याह हो जाएगी!'

सियारामशरण गुप्त के गद्य-गीत अपेक्षाकृत सरल हैं। उनमें भावना की रेखाएँ सीधी-सादी हैं। रहस्यवादी और छायावादी कवियों की तरह उलझनों में पाठक को खो नहीं जाना पड़ता। भाषा स्वाभाविक है, उसमें चंचलता के दर्शन होते हैं। 'अपूर्ण' का यह उदाहरण देखिए—

'इनमें कौन प्रकाश है और कौन अन्धकार, इसका पता मुझे नहीं लगने पाता। इन दोनों सहोदरों का चिरन्तन द्वन्द्व मिट चुका है, दो होकर भी दोनों जैसे यहाँ एक हैं। अपूर्ण और पूर्ण, दुख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं, इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया।'

अन्य लेखकों में रामप्रसाद विद्यार्थी, नरोत्तमलाल गुप्त 'नरेन्द्र', प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि के नाम लिये जा सकते हैं। रामप्रसाद विद्यार्थी का 'पूजा' (१६३७) स्वाभाविकता और अनुभूति का चिरन्तन प्रवाह है। लेखक की आकांक्षा सांसारिक परिस्थितियों को सुलझा कर प्रियतम के लोक में पहुँचने के लिए आतुर है। उसका प्रियतम वह असीम है, जिसमें लीन होने की प्रबल महत्त्वाकांक्षा हमारे साहित्य की प्रमुख विशेषता रही है। 'जीवन-रेखाएँ' (१६४७) के गद्य-गीत नरोत्तम लाल गुप्त 'नरेन्द्र' ने लिखे हैं। प्रगतिशील बोधात्मक गद्य-काव्य का यह सुन्दर गद्य-काव्य है। नवीन शैली और अनूठी भाव-व्यंजना के द्वारा लेखक ने हमें जीवन के कार्य-व्यापारों की मनोहर झांकी दिखलाई है। भावनाएँ न तो रहस्यवादी की तरह अस्पष्ट और न आख्यायिकाओं की तरह सरल ही हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त के 'रेखा-चित्र' (जुलाई, १६४०) की शैली सरल और मधुर है, चित्र अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक हैं। प्राकृतिक दृश्यों के साथ सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण अच्छा हुआ है। तारा पाण्डेय का 'रेखाएँ' (१६४१) सुन्दर है। इधर के गद्य-गीतों को देखकर हमें इनके उज्ज्वल भविष्य की आशा है।

विनोद-व्यंग्यपूर्ण निबन्धों की ओर लेखकों का ध्यान इस युग में भी बहुत कम गया। यों तो इस प्रकार के निबन्ध यदा-कदा पत्रों में प्रकाशित होते रहे, लेकिन उनमें कोई विशेषता दृष्टिगत नहीं होती। उल्लेखनीय रचनाएँ इस प्रकार हैं—कान्तानाथ चोंच की 'टालमटोल' (१६३५), 'छड़ी बनाम सोंटा' (१६३६) तथा 'चूना-घाटी' (१६४२)

और सरजूप्रसाद पंडा गौड़ की 'मिस्टर तिवारी का टेलीफ़ोन' (१९३७) तथा 'चार-चण्डूल' (१९३८) इनमें हास्य-रस की सुन्दर सृष्टि की गई है। शेष रचनाएँ महत्त्व की नहीं हैं। जीवन में हास्य-रस की महत्ता स्वीकार करते हुए भी देश के दुख और दारिद्र्य के कारण लेखकों का इस ओर ध्यान न जाना साहित्यिक दृष्टि से अच्छा नहीं, फिर भी स्वाभाविक ही है।

(२) समालोचना—

प्रसाद-युग की भाँति समालोचना के वे ही प्रधान रूप जिनसे हम अवगत हो चुके हैं, इस युग में भी जारी रहे। विविध पाठ्य-पुस्तकों को दृष्टि में रखकर समालोचना का कार्य यद्यपि बड़ी तेज़ी से चल रहा है, लेकिन उनमें स्वतन्त्र रूप से विचार बहुत ही कम हैं।

प्राचीन कवियों पर प्रस्तुत की गई समालोचनाओं में कबीर पर हरिहरनिवास के 'महात्मा कबीर' (१९३८) तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' (१९४२) नामक ग्रंथों के नाम लिये जा सकते हैं। द्विवेदी जी की समालोचनाओं में हमें विद्वत्ता, गुण-ग्राहकता तथा निष्पक्षता के दर्शन होते हैं, और वे निःसंदेह उच्च कोटि की हैं। आपने कबीर पर वैज्ञानिक ढंग से विवेचना की है और उपेक्षित अंशों को पाठकों के सम्मुख लाने का प्रयत्न किया है। कबीर की तरह प्राचीन कवि सूर पर भी अच्छा काम हुआ है। 'सूर-संदर्भ' (१९४१) के भूमिका-भाग में नन्ददुलारे वाजपेयी का लिखा हुआ एक संक्षिप्त लेकिन महत्त्वपूर्ण समालोचनात्मक निबन्ध है। अन्य समालोचनाओं में शिखरचन्द जैन का 'सूर : एक अध्ययन' (१९३८), नलिनी-मोहन सान्याल का 'सूरदास' (१९३८), रामरत्न भटनागर+वाचस्पति त्रिपाठी का 'सूर-साहित्य की भूमिका' (१९४१), रामरत्न भटनागर का 'सूरदास : एक अध्ययन' (१९४६) तथा कृष्णदेव वर्मा का 'सूरदास का एक पद—अथवा सूरवंश निर्णय' (१९४१) आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इन सबमें 'सूर-साहित्य की भूमिका' विशेष सफल है।

इसमें सूर के सम्बन्ध में प्रायः सभी बातों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। उनमें से बहुत सी बातों पर अन्य लेखकों की दृष्टि नहीं गई है। ऐसे अंश जो पूर्ववर्ती समालोचकों के उठाये गये हैं, उन पर भी नवीन दृष्टि से विचार किया गया है, यथा यशोदा के वात्सल्य पर विचार करते हुए कहा गया है—'यशोदा का वात्सल्य इतना पूर्ण है कि संयोग और वियोग दोनों में कृष्ण ही उसके प्राण हैं। दोनों अवस्थाओं में वह उनमें इतनी तन्मय रहती है कि उसका अपना व्यक्तित्व कृष्ण के व्यक्तित्व के सिवा कुछ नहीं रहता। संयोग के अवसर पर उसे वियोग की तनिक भी आशंका नहीं रहती। वियोग के अवसर पर वह पिछले संयोग को भूल नहीं पाती, यद्यपि उसका वियोग भी उसके लिए कृष्ण की क्रीडाओं की स्मृति के कारण अत्यंत मधुर हो गया है। उसका वात्सल्य जिस समय परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है, उस समय वह पति-प्रेम के भी ऊपर उठ जाता है। यशोदा नंद को उलहना देती है कि उन्होंने दशरथ के पथ का अनुसरण क्यों नहीं किया। ऐसा वह केवल वात्सल्यपूर्ण हृदय के वियोग-दुख की अनुभूति वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त का लक्ष्य था। सूरदास इस वियोग-दुख की गम्भीरता को अभिव्यक्त करने में सफल हुए हैं।...' सान्याल के 'सूरदास' में कोई विशेष चमत्कार नहीं, भटनागरजी की 'सूरदास : एक अध्ययन' भी कोई विशेष महत्त्व की नहीं दिखाई देती।

नन्ददास पर उमाशंकर शुक्ल ने 'नन्ददास' (१९४२) के भूमिका-भाग में एक संक्षिप्त समालोचना लिखी है। अन्य लेखकों का ध्यान इस ओर न जा सका। तुलसीदास पर, अलबत्ता अच्छे ग्रंथ लिखे गये—जिनमें रामनरेश त्रिपाठी के 'तुलसीदास और उनकी कविता' (१९३८), रामदत्त भारद्वाज के 'तुलसी-चर्चा' (१९४१), महादेव पाण्डेय के 'तुलसी-चरितावली' (१९४२), चन्द्रशेखर पाण्डेय के 'रामायण के हास्य-स्थल' (१९३९), राजबहादुर के 'विश्व-साहित्य में

रामचरितमानस' (१९४०) आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इन सब में त्रिपाठीजी की आलोचना सफल हुई है, शेष समालोचनाएँ उतनी महत्त्व की नहीं हैं। वे केवल एक विशेष उद्देश्य की दृष्टि से ही लिखी गई हैं। तुलसी के सम्बन्ध में अनेक ऐसे संकलनों का प्रकाशन भी हुआ, जिनके आरम्भ में भूमिकाओं के रूप में समालोचनाएँ दी गई हैं। उल्लेखनीय संकलनों में बजरंगबली विशारद का 'तुलसी-रचनावली' (१९३९) और डा. सूर्यकान्त शास्त्री का 'तुलसी-रामायण-शब्द-सूची' (१९३७) हैं।

रहीम, बिहारी तथा अन्य कवियों पर लेखकों का ध्यान बहुत ही कम गया। रहीम पर तो किसी ने आलोचना ही न की और न कोई ऐसा संग्रह ही निकल सका, जिसके भूमिका-भाग में समालोचना देखने को मिलती हो। बिहारी पर दो-तीन समालोचनाएँ अवश्य लिखी गईं, जिनमें लोकनाथ द्विवेदी के 'बिहारी-दर्शन' (१९३७) तथा मिश्रबंधु के एक संकलन 'बिहारी-सुधा' (१९४१) के नाम लिये जा सकते हैं। मिश्रबन्धु बिहारी की आलोचना में जितने सफल हुए हैं, उतने लोकनाथ द्विवेदी नहीं।

वर्तमान-युग में पुराने कवियों की अपेक्षा आधुनिक कवियों तथा लेखकों पर अच्छी समालोचनाएँ लिखी गईं। जो संग्रह प्रकाशित हुए और उनके अनुकूल जो भूमिकाएँ पढ़ने को मिलती ह, वे उतनी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकतीं। एक तो इन संग्रहों को तैयार करते समय सर्वसम्मत वैज्ञानिक सिद्धान्तों की अवहेलना कर दी जाती है और द्वितीय, इतना संक्षेप में कवि अथवा लेखक के विषय में कहा जाता है कि यथार्थ में वह एक प्रकार का पिष्टपेषण होता है। हमारे सम्पादकों को चाहिए कि वे इन दोनों बातों का पर्याप्त ध्यान रक्खें, अन्यथा उन समालोचनाओं से साहित्य का कोई लाभ नहीं हो सकता है। संपादित ग्रंथों की इन भूमिकाओं के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से जो समालोचनाएँ लिखी जा रही हैं, उनकी स्थिति कुछ ठीक

अवश्य है। इस युग में भारतेंदु हरिश्चन्द्र पर गोपाललाल खन्ना ने 'भारतेंदु की भाषा-शैली' (१९४०), बेनी माधव शर्मा ने अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पर 'झलक' (१९३९), प्रेमनारायण टंडन ने 'द्विवेदी-मीमांसा' (१९३९), मैथिलीशरण गुप्त पर गिरजादत्त शुक्ल ने 'गुप्त जी की काव्य-धारा' (१९३७), गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' ने 'गुप्तजी की कला' (१९३७), रामदीन पाण्डेय ने 'काव्य की उपेक्षिता' (१९४०), नगेन्द्र ने 'साकेत—एक अध्ययन' (१९४०) और धर्मेन्द्र ने 'गुप्त जी के काव्य की कारुण्य-धारा' (१९४२) नामक समालोचनात्मक ग्रंथ लिखे। मैथिलीशरण गुप्त पर लिखी गई इन आलोचनाओं में नगेन्द्र और सत्येन्द्र विशेष सफल हुए हैं। उन्होंने कवि को गहराई से नापा है।

गुप्त जी की तरह प्रसाद पर भी विविध दृष्टियों से अच्छा विचार किया गया है। नन्ददुलारे वाजपेयी का 'जयशंकरप्रसाद' (१९४१), रामनाथलाल 'सुमन' का 'प्रसाद की काव्य-साधना' (१९३८), गुलाबराय का 'प्रसाद जी की कला' (१९३८), विनोदशंकर व्यास का 'प्रसाद और उनका साहित्य' (१९४०), शिखरचन्द जैन का 'प्रसाद का नाट्य-चिन्तन' (१९४१), गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'कामायनी—एक परिचय' (१९४२) नामक ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। गुलाबराय, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा विनोदशंकर व्यास ने प्रसाद की समस्त कृतियों को दृष्टि में रखकर आलोचनाएं की हैं, जिनमें प्रथम दो विशेष सफल हुए हैं। अन्य समालोचनाओं में प्रसाद के किसी विशेष पक्ष को ध्यान में रखा गया है। शिखरचन्द जैन की समालोचना विशेष हृदयग्राही है। इसी प्रकार प्रेमचन्द पर लिखी हुई महत्त्वपूर्ण समालोचनाओं में प्रेमनारायणटंडन की 'प्रेमचन्द और ग्राम-समस्या' (१९४१) तथा रामविलास शर्मा की 'प्रेमचन्द' (१९४१) स्मरणीय हैं। दोनों ही सफल हैं। नगेन्द्र की 'सुमित्रानन्दन पन्त' (१९३८) में उनकी कविताओं की सुन्दर आलोचना की गई है। अन्य महत्त्व-

पूर्ण समालोचनाओं में हम भगवतशरण उपाध्याय की 'नूरजहाँ' (१६४१), सत्यप्रकाश मिलिंद की 'प्रयोगकालीन बच्चन' (१६४२) तथा रत्नकुमारी देवी की 'सेठ गोविंददास' (१६३६) और 'सेठ गोविंददास के नाटक' (१६३६) को नहीं भूल सकते। इनमें लेखकों की कृतियों का सूक्ष्म अध्ययन किया गया है। उपाध्याय जी की 'नूरजहाँ' नामक समालोचना गुरुभक्तसिंह के प्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य पर लिखी गई है, जो साहित्य में अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। समालोचना विस्तृत है और उसमें कवि के काव्य का सर्गानुसार अनुशीलन किया गया है। भाषा का प्रवाह भी प्रबन्ध-काव्य के अनुकूल हो गया है। देखिए, समालोचना करते समय कवि की प्रमुख विशेषता को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने का सुन्दर ढंग—

'विख्यात नायिकाओं की काया-धातु का निर्माण महाकवियों के होते हुए भी अपूर्ण सा प्रतीत होता है। उनकी प्रभा इस ज्योत्स्ना की कान्ति में कुछ क्षीण हो जाती है, इसकी कमनीयता और सौकुमार्य के समकक्ष महा मर्मज्ञ और कलाधुरीण की भी सृष्टि कुछ अप्रतिभ और अप्रकृतिस्थ हो जाती है। किसी साहित्य की कोई नायिका इस प्रकार के प्रकृति-साहचर्य एवं सौहार्द्र के बीच नहीं जन्मी, नहीं बढ़ी। महाकवि शेक्सपीयर की डेस्डिमोना बड़ी मधुर, बड़ी नाज़ुक है, पर उसकी मिट्टी भी इतनी कीमती, इतनी मृदु नहीं।'

(३) उपन्यास—

समालोचना-साहित्य से आगे जब हम उपन्यास-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, तो हमें अधिकांश प्रसाद-युग के ही लेखक दिखाई देते हैं। इस युग के उपन्यासों में विगत युगों की अपेक्षा तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण अधिक है। कला-रूप में कोई विकास लक्षित नहीं होता और जहाँ तक वर्गीकरण का सम्बन्ध है, हम अपने बने-बनाये आधार पर ही आगे बढ़ सकते हैं।

प्रेमाख्यानक—

प्रेमाख्यानक उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री के 'नीलमती' (१९४०), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र के 'घंटा' (१९३७) तथा 'सरकार तुम्हारी आँखों में' (१९३७) उपन्यास उल्लेखनीय हैं। ये उपन्यास नग्न शृंगार के उदाहरण हैं, विशेष इनके सम्बन्ध में ध्यान देना अनावश्यक है। शैली के सम्बन्ध में हम पीछे कह चुके हैं।

चरित्र-प्रधान—

चरित्र-प्रधान उपन्यासों के अन्तर्गत उपदेश-प्रधान उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं—सियारामशरण गुप्त का 'नारी' (१९३८), गोविन्दवल्लभ पंत का 'जूनिया' (१९३८), भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'दो बहनें' (१९४०), तथा 'निमन्त्रण' राधिकारमणप्रसादसिंह का 'पुरुष और नारी' (१९४०) तथा इन्द्रविद्यावाचस्पति का 'ज़मींदार' (१९४२)। 'नारी' में गुप्त जी ने अपने अन्य उपन्यासों की तरह नारी की कोमलता और सहृदयता का आदर्श चित्रण किया है। पुरुष-पात्र सफल नहीं हुए हैं। उनकी दुर्बलताओं का चित्रण तो सुन्दर है, लेकिन वे उन्हें दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते। उनमें भावुकता है, स्थिति पर आधिपत्य करने की शक्ति नहीं। लेकिन इतना होने पर भी उनके साथ हमारी सहानुभूति है। 'जूनिया' में अछूत-समस्या का चित्रण किया गया है। पंत जी ने जूनिया और उसके प्रिय कलाकार का चित्र बड़ा ही सुन्दर खींचा है, जो पाठकों का ध्यान सहज ही में आकर्षित कर लेता है। जूनिया का समुद्र में डूब जाने वाला चित्र तो सचमुच पाठकों के हृदय को द्रवित कर देता है। 'दो बहनें' में वाजपेयीजी ने वर्तमान शिक्षा और सभ्यता के दोषों को चित्रित किया है। उनका यह उपन्यास बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। एक व्यक्ति के दो प्रेमिकाओं के होने से किस प्रकार मानसिक विकार बढ़ते रहते हैं, उन्हीं का चित्रण इसमें प्रधानतः हुआ है। 'निमन्त्रण' उनका नया उपन्यास है। कला की दृष्टि से त्रुटियाँ होते हुए भी

इतना तो हम कह सकते हैं कि इसमें भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य सभ्यता का संघर्षमय चित्रण अच्छा बन पड़ा है। लेकिन घटनाओं के जाल और पात्रों की भीड़भाड़ से चरित्र स्पष्ट नहीं हैं। मिस मालती का चरित्र-चित्रण इस कथन का पोषक है। 'पुरुष और नारी' में जो समस्या है, वह इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है। उनके अन्य उपन्यास 'टूटा तारा', 'सावनी सभा', 'गाँधी टोपी' भी भारतीय भावना को लेकर लिखे गये हैं। लेखक के शब्दों में 'आजकल की टकसाली कला के पहलू में अपनी पुरानी धज भी कायम रखने की कोशिश की गई है'...परिस्थितियों के चित्रण में लेखक पूर्ण सफल है, लेकिन लम्बे-लम्बे संवाद और अलंकृत भाषा कहीं-कहीं पाठकों को अखरने लगती है। अन्त में, ज़मींदार के सम्बन्ध में इतना ही ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि इसमें ज़मींदारों द्वारा किसान-वर्ग पर किये जाने वाले अत्याचारों की करुण कहानी है। कला की दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ हैं।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को लेकर भी अनेक उपन्यासों की सृष्टि हुई, जिनमें दो उपन्यास-लेखकों सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का 'शेखर' (१९४१) तथा इलाचंद्र जोशी के 'सन्यासी' (१९४१) 'पर्दे की रानी' (१९४१) तथा 'निर्वासित' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अज्ञेय का उपन्यास उच्च कोटि का है और है अपने ढंग का अद्वितीय। कथावस्तु की दृष्टि से इसका मूल्य नहीं, क्योंकि यह तो केवल एक जीवनी के रूप में लिखा गया है, लेकिन इसे हम यदि ध्यानपूर्वक देखें तो एक जीवनी भी नहीं कह सकते और न यह है ही, क्योंकि इसमें तो लेखक ने एक नवीन प्रणाली का चमत्कार हमारे सामने खड़ा किया है। अब तक के उपन्यासों में इसे एक नवीन आयोजन समझना चाहिए। लेखक की दृष्टि में यह घनीभूत वेदना भी केवल एक रात में देखे हुए (विजन) को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है। एक विशेष परिस्थिति में

जेल की चहारदीवारी के भीतर लेखक को यह (विजन) प्राप्त हुआ और उसने तीन-सौ पृष्ठों में उसे शब्द-बद्ध कर डाला। शेखर की अभूतपूर्व सफलता का एक मात्र कारण उसका सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण है। बाल्यकाल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटना का उल्लेख बड़ी सतर्कता के साथ किया गया है। एक उदाहरण असंगत न होगा—

'वह डर उस समय दब गया, किन्तु उसने शिशु के मन में घर कर लिया। उस दिन के बाद उसे भयंकर स्वप्न आने लगे, रात को वह चीख़-चीख़ उठता और कभी जागकर यदि पाता कि कमरे में अंधेरा है, तब तो वह अंधकार एक नहीं; असंख्य बाधों से सजीव हो उठता, एक से एक खूँखार······उस दिन से उसके कमरे में रात भर प्रकाश रहने लगा, किन्तु किसी ने जाना नहीं कि उसे क्या हो गया है, क्यों उसे ऐसे भयंकर स्वप्न आने लगे हैं, क्यों वह दुबला और चिड़चिड़ा होता जा रहा है।'

मानसिक विश्लेषण की यह प्रवृत्ति फ्रायड, जुंग, एडलर आदि से हमारे यहाँ धीरे-धीरे आई। इलाशचन्द्र जोशी के उपन्यासों में इसकी छाया अधिक है। 'प्रेत और छाया' की भूमिका में लेखक ने स्वयं इसे स्वीकार किया है। अतः जोशी जी के उपन्यासों को इसी प्रवृत्ति का प्रतिफल समझना चाहिए। 'संन्यासी' उपन्यास से वे हिन्दी-संसार में विशेष लोकप्रिय हुए। 'संन्यासी' आत्मकथा के रूप में है। उसका नायक दो स्त्रियों से प्रेम करता है, लेकिन अपनी ही कमज़ोरियों के कारण न तो वह स्वयं को प्रसन्न कर पाता है और न अपनी स्त्रियों को ही। अन्त में वह संन्यासी बन जाता है। मनुष्य से संन्यासी के रूप में बदलने तक पात्र की मनःस्थिति को कसकर परखने का लेखक को अच्छा अवसर हाथ लगा और इसलिए उसका पूरा लाभ उठाया गया है। 'पर्दे की रानी' में यही विश्लेषण अधिक हुआ है। उपन्यास मनोरंजक है, संलाप तो कहीं-कहीं बड़े ही मार्मिक और स्वाभाविक हैं।

ऐतिहासिक—

विगत युगों की तरह इस युग में भी ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव ही है। इस युग में केवल दो ही उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास हमारे दृष्टि-पथ पर आते हैं। एक, प्रेमचन्द लिखित 'दुर्गादास' (१९३८) और दूसरा चतुरसेन शास्त्री लिखित 'राणा राजसिंह' (१९३९)। दोनों में ही लेखकों को सफलता मिली है।

अन्य उपन्यासकार—

अन्य उपन्यासकारों में यशपाल का नाम लिया जा सकता है। आपके तीन उपन्यासों से हम परिचित हैं—'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और 'दिव्या'। यशपाल एक क्रांतिकारी लेखक है। इनके उपन्यासों में राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों को व्यक्त किया गया है। शोषित वर्ग उन्हें प्यारा है, पूँजीपतियों से वे घृणा करते हैं। राजनीतिक सिद्धान्तों से हटकर जहाँ यशपाल ने मानव जीवन की भावनाओं का चित्र खींचा है, वहाँ उन्हें पूर्ण सफलता मिली है, लेकिन जहाँ ऐसा नहीं हो पाया, वहाँ अस्वाभाविकता के दोष स्पष्ट दिखाई देते हैं। प्रथम दो उपन्यासों से उनका तीसरा उपन्यास पृथक् है, जो अपेक्षाकृत अधिक सफल बन पड़ा है। 'दादा कामरेड' द्वारा अहिंसा के महत्त्व को नीचा गिराकर विप्लव की महत्ता प्रदर्शित की गई है, 'देशद्रोही' में साम्यवाद की चर्चा अधिक है। यशपाल में प्रतिभा है, लिखने का अपना ढंग है, लेकिन इस प्रतिभा और कलात्मक शक्ति का प्रयोग यदि भारतीय विचारा-धारा से प्रभावित होकर किया जाय, तो साहित्य तथा जीवन दोनों का समान रूप से उद्धार हो सकता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का इधर का उपन्यास 'बिल्लेसुर बकरिहा' है। इसमें गाँवों के सजीव और यथार्थ चित्र देखने को मिलते हैं। शैली की दृष्टि से अनूपलाल मंडल के 'निर्वासित', 'समाज की वेदी पर' 'साक़ी', 'रूप-रेखा', ज्योतिर्मयी', 'गरीबी के वे दिन', 'ज्वाला', 'वे अभागे', मीमांसा' और 'अभिशाप' नामक उपन्यास उल्लेखनीय हैं, जिन में प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

आदि की शैलियों के सम्मिश्रण-रूप के दर्शन होते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इन उपन्यासों का महत्त्व अधिक है। सर्वदानन्द वर्मा एक आदर्शवादी उपन्यासकार हैं। उनके 'संस्मरण', 'नरमेध' 'रानी की डायरी', 'निकट की दूरी', 'प्रश्न' तथा 'आनन्द-निकेतन' में इसी भावना को प्रमुख स्थान मिला है। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है। प्रायः सभी पात्र अपनी मर्यादा और आदर्श के लिए मर-मिटनेवाले हैं।

स्त्री-लेखिकाओं में उषादेवी मित्रा का स्थान ऊँचा है। 'वचन का मोल', 'पिया', 'जीवन की मुस्कान' और 'पथचारी' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन सब में नारी-जीवन की विभिन्न समस्याओं का चित्रण किया गया है, इसलिए कथावस्तु की दृष्टि से एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। कहीं-कहीं रूढ़ियों के प्रति तीव्र व्यंग्य भी कस दिये गये हैं। वर्णन-प्रणाली मित्राजी की साधारण है। उसमें कोई चमत्कार नहीं। नरोत्तमदास नागर 'दिन के तारे' में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में सफल हुए हैं। राहुल सांकृत्यायन ने साहित्य और राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले 'भागो नहीं बदलो', 'जादू का मुल्क', 'जीने के लिए', 'सोने का ढाल', तथा 'सिंह सेनापति' उपन्यास स्मरणीय हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' एक प्रगतिशील उपन्यास-लेखक हैं। 'सितारों का खेल' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। पहाड़ी के 'सराएँ' तथा 'चलचित्र', देवनारायण द्विवेदी के 'दहेज' तथा पश्चात्ताप' और कुटुंबप्यारीदेवी का 'हृदय का ताप' साधारण कोटि के हैं। पहाड़ी अपने उपन्यासों में विशेष सफल हैं। अभी इनकी कला प्रयोग में है, भविष्य के लिए हमारी आशाएँ सुनहरी हैं।

(४) कहानी—

प्रसाद-युग की कहानियों ने साहित्य में एक क्रांति उत्पन्न कर दी थी। उस युग में कहानियों के कला-रूप और शैली का इतना विकास हुआ तथा कहानी-साहित्य इतना लोकप्रिय हुआ कि हिन्दी-साहित्य में इसने अपनी पूर्ण पृथक् सत्ता धारण कर ली। लेखकों को

अपनी प्रतिभा और बुद्धि का उपयोग करने में जितनी सुविधा और जितना अवकाश इस क्षेत्र में मिला, उतना किसी अन्य क्षेत्र में नहीं। पंत, निराला और भगवतीचरण वर्मा जैसे उत्कृष्ट कवि भी कविता-कामिनी की रहस्यमयी छबि को भूल कर इस ओर आकृष्ट हुए। निःसंदेह कहानी में ऐसा ही अनुपम सौंदर्य है। लेकिन खेद है कि उस युग के लेखकों के अतिरिक्त इधर के कहानीकारों में हमें किसी विशिष्ट शैली अथवा कला-रूप के दर्शन नहीं होते। हाँ, दो-चार हमारे दृष्टि-पथ पर अवश्य आते हैं। यदि और आगे बढ़ते हैं तो घर-घर में कहानी सुनाने वाले मिल जाते हैं, लेकिन उनकी कहानियों से हमारा अलसाया हुआ मन प्रसन्न नहीं होता। न मनोरंजन, न साहित्यिकता—कैसा अजीब ढंग है, जो हमारे आज के तरुण कहानीकार प्रयोग में ला रहे हैं। इस युग में हिन्दी के नये-पुराने लेखकों की संख्या बढ़ी अवश्य। मोहनलाल नेहरू, रघुपति सहाय, भगवती प्रसाद वाजपेयी, बेचन शर्मा 'उग्र', विनोदशंकर व्यास, राजेश्वरप्रसाद-सिंह, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', वाचस्पति पाठक, दुर्गाप्रसाद भास्कर, जैनेन्द्र कुमार, ऋषभचरण जैन और इलाचन्द्र जोशी—सभी तो हमारे सामने हैं। इनमें से कुछ तो पहले के हैं, कुछ इधर के। उपर्युक्त कवि-कहानीकारों में से भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ सुन्दर बन पड़ी हैं, शेष दोनों में नवीन कला के दर्शन अवश्य होते हैं, लेकिन कवि-कला ने उनकी कहानियों के सौंदर्य को नष्ट कर डाला है। मोहनलाल नेहरू ने उद्देश्य-प्रधान कहानियाँ लिखने में विशेष ख्याति प्राप्त की है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियाँ उत्कृष्ट कोटि की मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं, जिनमें प्रभाव डालने की अद्भुत क्षमता है। 'उग्र' में प्रतिभा है, बढ़िया से बढ़िया कहानी लिखने की चुनौती दे सकते हैं, लेकिन नग्न-यथार्थवाद के चक्कर में वे अधिक सफल नहीं हो रहे हैं। चतुरसेन शास्त्री का भी यही हाल है। उनकी कहानियों के शीर्षक बड़े ही मजेदार होते हैं। हाल ही में आपने मिस्टर जिन्ना (मुस्लिम नेता) को अपनी

विचारधारा का केन्द्र-बिन्दु बनाकर वीभत्स नर-संहार को दृष्टि में रखकर 'लम्बग्रीव' नामक सुन्दर कहानी लिखी है। विनोदशंकर व्यास और जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' भाव-प्रधान कहानियाँ लिखने में सिद्धहस्त हैं। जैनेन्द्रकुमार ने शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन करते हुए अपनी इच्छानुकूल तथा अपने ही आदर्शों के अनुसार कहानियों की सृष्टि की है, जो हमें अच्छी लगने पर भी शुष्क और नीरस हैं। जैनेन्द्र की भावभंगी तथा भाषा-शैली ही निराली है। उनके जैसे वे ही हैं, इसी में उनकी विशेषता है, अद्वितीयता है, मौलिकता है। इलाचन्द्र जोशी की कहानियाँ भी कुछ सीमा तक सफल अवश्य हुई हैं।

नवीन कहानी-लेखकों में सियारामशरणगुप्त, श्रीनाथसिंह, श्रीरामशर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, मोहनलाल महतो 'वियोगी' और सत्यदेव के नाम सगर्व लिये जा सकते हैं। गुप्तजी और वियोगी जी दोनों ही कवि हैं, इसलिए कहानियों में कविता का-सा आनन्द आना स्वाभाविक ही है, यद्यपि कहानी-कला से वे दूर हैं। श्रीराम शर्मा ने कहानी-क्षेत्र में अच्छा काम किया है। श्रीनाथसिंह की कहानियाँ भी सफल बन पड़ी हैं। निबन्धों के ढंग पर लिखी हुई सद्गुरुशरण अवस्थी की कहानियाँ आख्यायिका-प्रेमी दिलचस्पी से पढ़ते हैं। सत्यजीवन वर्मा भी सफल कहानी-लेखक कहे जा सकते हैं।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा, अख़्तरहुसेन रामपुरी, वीरेश्वर, साधुशरण, आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', धर्मवीर, अनन्तगोपाल शेवड़े, राजकुमार रघुवीरसिंह, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रामप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी,' सूर्यदेवनारायण श्रीवास्तव, यशपाल, श्रीभारतीय तथा श्रीराधाकृष्ण आदि भी आज कहनी-क्षेत्र में तत्परता से कार्य कर रहे हैं। इन समस्त लेखकों में महाराजकुमार रघुवीरसिंह और अख़्तरहुसेन रामपुरी की कहानियाँ विशेष रूप से लोकप्रिय हुईं। रघुवीरसिंह ने ऐतिहासिक और अख़्तरहुसेन ने क्राँतिकारी कहानियाँ लिखने में प्रवीणता दिखलाई

है यद्यपि संख्या की दृष्टि से इन दोनों लेखकों की कहानियाँ बहुत ही कम हैं। 'अज्ञेय' इस क्षेत्र में एक नवीन प्रतिभा लेकर आये। उनकी कहानियों का आधार क्रांति और मानव-हृदय का करुण रुदन है। प्रतिभा और अनुभूति की दृष्टि से अज्ञेय अपने समकालीन लेखकों को बहुत पीछे छोड़ जाते हैं। यशपाल की कहानियाँ भी सुन्दर हैं।

हास्य-रस के कहानी-लेखकों में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव नाम कमा चुके हैं। इस युग में उनकी परम्परा का निर्वाह करने वालों में शिवनाथ शर्मा, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेवप्रसाद गौड़ और अन्नपूर्णानन्द के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं। हरिशंकर शर्मा ने अनेक सुन्दर रेखा-चित्र (sketch) लिखे। अन्नपूर्णानन्द भी अपनी कहानियों में सफल हुए हैं, लेकिन उनकी कहानियों का कथानक साधारण होता है। कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढ़ब' हास्य-रस की कहानियाँ लिखकर जनता की जिह्वा पर चढ़ गये हैं, लेकिन उनमें ऊँचे दर्जे का हास्य नहीं है। मिर्ज़ा अजीब बेग चग़ताई ने सुन्दर हास्य-प्रधान कहानियाँ लिखीं। 'यह तस्वीर किसकी है' इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, लेकिन दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि आज वे हमारे बीच नहीं रहे।

स्त्री-कहानी-लेखिकाओं में सर्वप्रथम उमा नेहरू ने अपनी लेखिनी उठाई। उनके बाद शिवरानी प्रेमचन्द ने कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। फिर तो सुभद्राकुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, कमलादेवी चौधरानी, सुशीला आग़ा, सरस्वती, होमदेवी, तारा पाण्डेय, रत्नकुमारी और सत्यवती मलिक ने इस क्षेत्र में विशेष रुचि दिखलाई। आज भी उनमें से अधिकांश लेखिकाओं की कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिल ही जाती हैं। शिवरानी ने गार्हस्थ्य जीवन के सीधे-सादे चित्र खींचे और सुभद्राजी ने पुरुषों के प्रति विद्रोह की भावनाओं को अपनी कहानियों में व्यक्त किया। लेकिन इनमें वे अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकीं। उनसे हमें काफ़ी आशा थी,

लेकिन दुर्भाग्य से आज वे भी हमें छोड़कर चली गई हैं। उषादेवी की कहानियों में व्यक्तित्व का सुन्दर विकास दिखाई देता है। कमलादेवी ने अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में विशेष कुशलता का परिचय दिया है। सुशीला आग़ा की कहानियाँ सफल बन पड़ी हैं। सत्यवती मलिक की छोटी-छोटी भाव-प्रधान कहानियों में सुन्दर-सुन्दर भाव-चित्र उतरे हैं। सौनरिक्सा दम्पति ने भी कहानी-कला को ध्यान में रखकर अपनी कहानियाँ लिखी हैं। हमें अपने लेखकों और लेखिकाओं से अभी काफ़ी आशा है।

कहानी लिखने वाले उन भाइयों से दो शब्द यदि वे बुरा नहीं मानें! आज कहानी रूप दीपक पर असंख्य पतंगे उड़ उड़कर जा रहे हैं। कहानी की लोकप्रियता और पत्र-पत्रिकाओं के मान ने उन्हें ऐसा करने के लिए अग्रसर किया है। साथ ही अपने इस साधन द्वारा वे अपनी व्यक्तिगत रहस्यवाद की बातें भी दूसरों तक पहुँचा सकते हैं। कहानी का यह प्रयोग सर्वथा अनुचित और घातक है। इसीलिए तो खेद के साथ लिखना पड़ता है कि इन पतंगों में सच्चे प्रेमी केवल इने-गिने ही हैं। कहानी-साहित्य की यह दुर्दशा देखकर गला भर आता है। क्या सस्ता और भद्दा प्रेम ही उनका प्रेरक हो सकता है? नवीन लेखकों को कहानी प्रकाशित कराते समय जरा संयम, धैर्य और शांति से काम लेना चाहिए। उनकी प्रतिभा का पाकिस्तान-हिन्दुस्तान की तरह विभाजन नहीं होने का। वे सदैव उनके साथ ही रहेंगी। फिर इतनी व्यग्रता क्यों? मैं अपने ऐसे मित्रों से कहूँगा कि वे तनिक देर के लिए रुकें, शीघ्रता न करें। साहित्य में शांति और धैर्य के साथ ही काम लेना हितकर होगा। कहानी लिखना कोई आसान काम नहीं है। कहानी किसी पर लिख डालना जिना आसान है, उसके दुष्परिणामों को झेलना उतना ही कठिन! दूसरी ओर सम्पादकों को भी चाहिए कि पैसे के लोभ में पड़कर वे साहित्यिकता का गला नहीं घोंटें। वे साहित्यिकता की ओर क्यों ध्यान देने लगे, निराश-प्रेमियों की सस्ती

और भद्दी कहानियाँ उन्हें मुफ्त ही मिल जाया करती हैं। इस तरह पैसा भी बच जाता है और पत्र की खानापुरी भी हो जाती है। अन्धी जनता ऐसी कहानियों की भक्त बनती जा रही है। आज इस प्रकार के सम्पादकों और लेखकों पर कड़ा नियन्त्रण रखे बिना हमारी कहानियों का भविष्य उज्ज्वल कदापि नहीं हो सकता, नहीं हो सकता—यह निश्चित है। आज भारत को जिन कहानियों की आवश्यकता है, वैसी कहानियाँ बिल्कुल नहीं लिखी जा रही हैं। सर्वत्र सस्ती, सारहीन, कुरुचिपूर्ण और गन्दी कहानियों का प्रचार है। हम अपनी नवजात स्वतंत्रता की रक्षा किस प्रकार करें, इसका किसी को कुछ भी ध्यान नहीं है। यहाँ इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा—गद्य के विकास में अधिक गुंजायश भी तो नहीं! अस्तु।

(५) नाटक—

चलचित्रों के प्रचार और उनकी लोकप्रियता से नाटक-साहित्य को एक भारी ठेस लगी। उनका स्थान चलचित्रों ने ले लिया। इतना होने पर भी कतिपय साहित्यकार नाट्य-साहित्य को बनाये रखने के लिए नाटक लिखते रहे। इन नाटकों का रूप विगत युगों के नाटकों से कुछ भिन्न अवश्य है। वर्तमान-युग में नाटक, प्रहसन और एकांकी का ही रूप विशेष प्रचलित है और इनमें भी नाट्य-शास्त्र के नियमों का उतना पालन नहीं किया गया है, जितना कि इसके पूर्व किया जाता था। आजकल नाटक केवल साहित्यिक समारोहों, विभिन्न संस्थाओं तथा कॉलेजों में ही खेले जाते हैं और वे भी किसी विशेष अवसर पर। इतना होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिंदी-जनता में इनका प्रचार दिन-दिन कम ही होता जा रहा है। इसलिए वर्तमान युग का नाटक-साहित्य इतना समृद्ध नहीं। नाटक और प्रहसन तो और भी कम हैं। यथार्थ में हमारे पास जो कुछ रह गये हैं, वे केवल एकांकी नाटक ही हैं। केवल इने-गिने लेखक ही इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। जहाँ तक वर्गीकरण का सम्बन्ध है, हम अपने पुराने आधार

पर ही चल सकते हैं। प्रेमलीलापूर्ण रोमांचकारी नाटकों की धारा इस युग में बन्द हो गई है। व्यंग-विनोदपूर्ण नाटकों की ओर किसी का ध्यान नहीं जा सका।

पौराणिक—

पाश्चात्य सभ्यता के स्थान पर भारतीय संस्कृति का ध्यान रखने के लिए हमारे नाटककारों ने जनता को पौराणिक नाटक लिखकर बार बार सचेत किया है। उदयशंकर भट्ट के 'सागर-विजय' (१९३७), 'मत्स्यगंधा' (१९३७), 'विश्वामित्र' (१९३८) तथा 'कमला' (१९३९) ऐसे ही नाटक हैं। उदयशंकर पौराणिक नाटक लिखने में सफल हुए हैं। महाभारत की कथा को लेकर पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने एक नाटक सन् १९४० ई० में 'गंगा का बेटा' लिखा, जिसमें भीष्म का चरित्र-चित्रण हुआ है।

राम और कृष्ण के चरित्रों को लेकर जो नाटक लिखे गये वे बहुत ही थोड़े हैं। राम के चरित्र को लेकर चतुरसेन शास्त्री ने दो नाटक लिखे; 'सीताराम' (१९३९) और 'श्रीराम' (१९४०)। इसी प्रकार कृष्ण-चरित्र पर भी दो ही नाटक दिखाई देते हैं—एक, उदयशंकर भट्ट का 'राधा' (१९४१) और दूसरा किशोरीलाल वाजपेयी का 'सुदामा' (१९३९)

ऐतिहासिक—

ऐतिहासिक नाटकों की स्थिति कुछ सन्तोषजनक है। प्राचीन इतिहास का आश्रय लेकर रूपनारायण पाण्डेय ने 'अशोक' (१९३९), लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'अशोक' (१९४०), गोविंदवल्लभ पन्त ने 'अंतःपुर का छिद्र' (१९४०), विश्वंभर सहाय ने 'बुद्धदेव' (१९४०), कैलाशनाथ भटनागर ने 'श्रीवत्स' (१९४१) तथा गोविंददास सेठ ने 'कुलीनता' (१९४०) और 'शशिगुप्त' (१९४२) नामक नाटक लिखे हैं। पंतजी और सेठजी के नाटक अच्छे बन पड़े हैं। उनमें शृङ्गार की कमी और वीरता की प्रधानता है। अंग्रेज़ी शासन-काल की कथा-वस्तु

से निर्मित शिवदत्त ज्ञानी का 'नीमाड़-केसरी' (१९३८) तथा परिपूर्णानन्द वर्मा का 'रानी भवानी' (१९३८) दो ऐसे नाटक हैं, जिनमें ऐतिहासिक घटनाएँ अधिक और वातावरण कम है। वर्मा जी का नाटक अपेक्षाकृत अधिक सफल है। अन्त में, मुस्लिम युग के इतिहास को दृष्टि में रखकर हरिकृष्ण प्रेमी ने 'शिवा-साधना' (१९३७), 'रक्षा-बन्धन' (१९३८), जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (१९३८), गौरीशंकर 'सत्येंद्र' ने मुक्ति-यज्ञ' (१९३८), मायादत्त नैथानी ने 'संयोगिता' (१९३९) तथा रूपनारायण पांडेय ने 'पद्मिनी' (१९४२) नामक नाटक लिखे। प्रेमीजी के नाटक विशेष लोकप्रिय हुए। उनमें हमें चरित्रों का सुन्दर विकास देखने को मिलता है। 'मिलिंद जी' का नाटक भी संलाप की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

सामाजिक, सामयिक और राष्ट्रीय—

तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों को लेकर इस युग में नाटक अधिक लिखे गये। ये नाटक वस्तुतः हमारे विभिन्न आन्दोलनों के प्रतिरूप हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों को दृष्टि में रखकर सूर्यनारायण शुक्ल ने' खेतिहर देश' (१९३९), वृन्दावनलाल वर्मा ने 'धीरे-धीरे' (१९३९) तथा गोविंददास ने 'विकास (१९४१) लिखे। तीनों ही सफल रचनाएँ हैं। 'विकास' में राजनैतिक समस्याओं पर विचार अच्छा हुआ है। सामाजिक कुरीतियों और उनके निवारण के हेतु को लेकर जो नाटक लिखे गये, उनमें लेखकों को विशेष सफलता मिली है। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'चुम्बन' (१९३८) तथा 'आवारा' (१९४२) इस दिशा में सफल प्रयास हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'स्वर्ग की झलक' (१९४०) में शिक्षित पति-पत्नियों के गृह-कलह का सुन्दर चित्रण है। गोविंददास सेठ का 'सेवापथ' (१९४०) तथा शारदा देवी का 'विवाह-मंडप' भी इस दृष्टिसे उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान-युग में एकांकी नाटकों को विशेष प्रोत्साहन मिला,

मिलता जा रहा है। डा० रामकुमार वर्मा इस क्षेत्र में अपना नाम कमा चुके थे। इस युग में उन्होंने विशेष रुचि दिखलाई। 'रेशमी टाई' (१६४१) तथा 'चारुमित्रा' (१६४२) बहुत लोकप्रिय हुए। वर्माजी एक सफल एकांकी नाटककार हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनके किसी भी एकांकी की टेकनीक देखिए, स्पष्ट हो जायगा। अन्य लेखकों में राधेश्याम कथावाचक के 'घंटापंथ' (१६३६), द्वारकाप्रसाद के 'आदमी' (१६४०), सद्गुरुशरण अवस्थी के 'दो एकांकी नाटक' (१६४०), उदयशंकर भट्ट के 'अभिनव एकांकी नाटक' (१६४०), तथा 'स्त्री का हृदय' (१६४२), गोविंददास सेठ के 'सप्तरश्मि' (१६४१) तथा 'पंच-भूत' (१६४२) और प्यारेलाल के 'माता की सौग़ात' (१६४२) के नाम लिये जा सकते हैं। वर्माजी के बाद इस क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट तथा सेठजी ने खूब नाम कमाया। भट्टजी के एकांकियों में मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ दो विपरीत भावनाओं का संघर्ष स्पष्ट रूप से हुआ है और इसमें उन्हें सफलता भी मिली है। घटनाओं में कौतूहलता की मात्रा अवश्य कम है, लेकिन उनकी स्वाभाविकता से हमारा मन रमा रहता है।

आज सुदर्शन, भुवनेश्वरप्रसाद, गोविंदवल्लभ पंत, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गणेशप्रसाद विद्यार्थी, धर्मप्रकाश आनन्द आदि भी इस क्षेत्र में प्रयत्नशील हैं। इन सबके एकांकी लोकप्रिय हो रहे हैं। भुवनेश्वर की शैली यथार्थ है, वातावरण स्पष्ट है। जो कुछ कहना होता है, वह एक ही साँस में कह डालता है। 'कारवाँ' में उनके अच्छे एकांकी हैं। 'स्ट्राइक' सबसे अच्छा लगता है। पंतजी ने भी इस ओर सफलता का परिचय दिया है। गणेशप्रसाद विद्यार्थी भी अच्छा लिखते हैं। अश्कजी के जीवन की कटु अनुभूतियों ने उनके एकांकी नाटकों को एक विशेष दर्द से ओतप्रोत कर दिया है। भाषा सरस, मुहावरेदार और प्रभावशाली है। उर्दू से आने के कारण व्यावहारिकता उसका सबसे बड़ा गुण है। पात्रों में वास्तविकता कम

है । धर्मप्रकाश निर्धन श्रमिकों के यथार्थ चित्र अपने नाटकों में कुशलतापूर्वक उतार लेते हैं । उनमें निराशा का भाव अधिक है, आशा का कम । भगवतीचरण वर्मा के एकांकी नाटक इधर पत्रों में बहुत पढ़ने को मिलते हैं । इनमें कवि-प्रतिभा स्पष्ट रूप से झलकती है । जीवन की व्याख्या वर्माजी बड़ी प्रवीणता से करते हैं । भाषा सरल, सुन्दर और सुगठित होती है । सुदर्शन की व्यंजना बड़ी तेज़ है । सरल भाषा और सरस वाक्यावली के द्वारा वे हम पर चोट कर देते हैं । पात्रों की व्यावहारिकता और संवेदनशीलता ने उनके एकांकियों में एक अनूठा सौंदर्य भर दिया है । संलापों में वेग है, जो एकांकी के लिए सर्वथा उपयुक्त है । 'राजपूत की हार' का एक उदाहरण देखिए—

महामाया—(कुलीना के कन्धे पर सिर रखकर)—माँ । क्या तुझे मेरे दुर्भाग्य पर दया नहीं आती ? राजपूत माँ की कोख से जन्म लिया, राजपूतों के वीर-परिवार में ब्याही गई और फिर भी मुझे भीरु, कायर, जीवन का लोभी पति मिला ! जहाँ शूरवीर हर्ष से पागल हो उठता है, जहाँ सच्चे राजपूतों को आगे-पीछे का ध्यान नहीं रहता, उसने वहाँ भी अपने प्राणों को प्यारा समझा और भागकर घर में आश्रय लेने आया है । माँ ! क्या सचमुच वह तेरा बेटा है ? नहीं, मालूम होता है, वह तेरा बेटा नहीं है । तूने किसी का पुत्र लेकर पाल लिया है । तू सच्ची राजपूतनी है । तेरे दूध में यह निर्लज्जता नहीं हो सकती । वह तेरा बेटा नहीं है । वह तेरा बेटा नहीं हो सकता ।'

लेकिन इन एकांकी नाटकों की प्रगति दिन-दिन कम ही दिखाई देती है । रंगमंच के अभाव में तथा सस्ते और भद्दे चलचित्रों के इस युग में साहित्यकार क्षुब्ध हैं ।

(६) उपयोगी साहित्य—

विज्ञान का यह युग उपयोगी साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण हो तो इसमें कोई आश्चर्यजनक बात नहीं । ज्यों ज्यों विज्ञान की उन्नति होती

जायगी, त्यों त्यों हमारे इस साहित्य का भी विकास होता जायगा। आज की अगणित पत्र-पत्रिकाओं तथा छोटी-मोटी पुस्तकों में इस प्रकार के साहित्य की पर्याप्त मात्रा देखकर प्रसन्नता होती है। लेकिन इतना होते हुए भी उच्च श्रेणी की पुस्तकों के अभाव को देखकर हमें कुछ खेद अवश्य होता है। यह सच है कि हमारी शिक्षा-दीक्षा अँग्रेज़ी में ही हुई और हम उधर के पारिभाषिक शब्दों को अपने साहित्य में लाने में असमर्थ रहे, लेकिन यदि प्रयत्न किया होता तो इस समस्या को हल किया जा सकता था। इस सम्बन्ध में हमारा तो केवल इतना ही कहना है कि विषय के साथ लेखक की सच्ची जानकारी हो और वह उसे पाठकों के सामने इस रूप में रखे कि जिससे अधिक से अधिक लोगों का हित हो सके। आगे जब हमारी शिक्षा-दीक्षा हिन्दी में ही होगी, तब इस क्षेत्र में आशातीत सफलता मिल सकती है और हम अधिक से अधिक पारिभाषिक शब्दों को भी अपने साहित्य में ला सकेंगे। उपयोगी साहित्य को हृदयंगम करने के लिए हमें अपना बना-बनाया वर्गीकरण ही अभीष्ट होगा।

साहित्य-शास्त्र—

साहित्य-शास्त्र की पुस्तकें नवीन लेखकों का पथ-प्रदर्शन करने में विशेष उपयोगी सिद्ध हुईं। कहानियों के लिए विनोदशंकर व्यास ने 'कहानी-कला' (१९३८) और पत्र-लेखन-कला पर सूर्यबलीसिंह ने 'लव-लेटर्स' (१९३९) नामक पुस्तकें लिखीं। साहित्यिक समस्याओं की दृष्टि से दो रचनाएँ उल्लेखनीय हैं, एक 'शैली' (१९४२) जो करुणापति त्रिपाठी द्वारा लिखी गई और दूसरी 'काव्य और संगीत' (१९३८) जो लक्ष्मीधर वाजपेयी द्वारा लिखी गई। वाद-विवाद की दृष्टि से पुरुषोत्तमलाल की 'आदर्श और यथार्थ' (१९३७), जयशंकर की 'काव्य और कला' (१९३९) तथा गंगाप्रसाद पाण्डेय की 'छायावाद और रहस्यवाद' (१९४१) नामक रचनाएँ देखने योग्य हैं। 'आदर्श और यथार्थ' अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। अन्त में, समालोचना

करते समय जिन-जिन आवश्यक बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है, उसके लिए इलाचन्द्र जोशी की 'साहित्य-सर्जना' (१९४०), विनय मोहन की 'साहित्य कला' (१९४०) तथा डा. सूर्यकांत शास्त्री की 'साहित्य -मीमांसा' (१९४३) उल्लेखनीय हैं। साहित्य के अन्य अंगों पर लेखकों का ध्यान नहीं गया। लेखन-कला के लिए सत्यजीवन वर्मा ने 'लेखनी उठाने के पूर्व' (१९४०) तथा किशोरीदास वाजपेयी ने 'लेखन-कला' (१९४१) अवश्य लिखीं।

जीवन-चरित—

आत्म-चरितों के लिए भवानीदयाल संन्यासी की 'प्रवासी की कहानी' (१९३९), राजाराम की 'मेरी कहानी' तथा घनश्यामदास बिड़ला की 'डायरी के कुछ पृष्ठ' (१९४१) देखने योग्य हैं। संत-चरितों के जीवन-चरित नहीं लिखे गये। आधुनिक राजनैतिक चरित्रों पर कुछ पुस्तकें अवश्य लिखी गईं—प्रेमनारायण अग्रवाल ने 'भवानीदयाल संन्यासी' (१९३९), जगदीश नारायण तिवारी ने 'सुभाषचन्द्र बोस' (१९४०), रामनरेश त्रिपाठी ने 'तीस दिन मालवीयजी के साथ' (१९४२) और घनश्यामदास बिड़ला ने 'श्री जमुनालालजी' (१९४२)। विदेशी चरित्रों में दो उल्लेखनीय हैं—त्रिलोकीनाथसिंह कृत 'स्टालिन' (१९४०) तथा रामनारायण कृत 'हिटलर की विचार-धारा' (१९४१)।

वृत्तसंग्रह तथा इतिहास—

वृत्त-संग्रह के लिए मोहनलाल महतो की 'आरती के दीप' (१९४०) और श्यामनारायण कपूर की 'भारतीय वैज्ञानिक' (१९४२)। महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्य इतिहास लिखने में रायकृष्णदास को अच्छी सफलता मिली है। 'भारत की चित्रकला' (१९३९) और 'भारत की मूर्तिकला' (१९३९) इसके उदाहरण हैं। हिंदू-युग के इतिहास-लेखकों में चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने 'बृहत्तर भारत' (१९३९), प्राणनाथ विद्यालंकार ने 'हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो तथा सिन्धु-सभ्यता' (१९४१) और सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदि देश' (१९४१)

लिखकर इस क्षेत्र में अच्छा नाम कमाया है। इनके अतिरिक्त एक-दो रचनाएँ स्थानीय तथा विदेशीय इतिहास पर भी लिखी गई हैं, जो अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

देश-दर्शन—

ग्रामीण अर्थशास्त्र की दृष्टि से सुखदेवबिहारी माथुर की 'हमारे गाँव' (१९३९), मुख़्त्यारसिंह की 'हमारे गाँव और किसान' (१९४०), शंकर सहाय सक्सेना की 'गाँवों की समस्या' (१९४१) तथा अमर-नारायण अग्रवाल की 'ग्रामीण अर्थशास्त्र और सहकारिता' (१९४१) नामक रचनाओं के नाम लिये जा सकते हैं। शंकरसहाय सक्सेना को इस क्षेत्र में विशेष सफलता मिली है। भारतीय शासन पर जो महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ लिखे गये, वे ये हैं—हरिश्चंद्र गोयल का 'भारत का नया शासन-विधान' (१९३८), कन्हैयालाल वर्मा का 'भारतीय शासन' (१९४२) और बी० एम० शर्मा का 'भारत और संघ-शासन' (१९४२)। पाकिस्तान तथा साम्प्रदायिक समस्याओं पर लिखे गये ग्रंथों में रुद्र-नारायण अग्रवाल के 'हिन्दुस्तान बनाम पाकिस्तान' (१९४१), राम-नारायण यादवेन्दु का 'पाकिस्तान' (१९४१) तथा 'भारतीय साम्प्रदा-यिक समस्या' (१९४१) आदि के नाम लिये जा सकते हैं। असहयोग-आन्दोलन को लेकर भी अनेक रचनाएँ लिखी गईं। विदेश-दर्शन में राहुल सांकृत्यायन की 'सोवियतभूमि' (१९३८) तथा सत्यनारायण की 'रोमांचकारी रूस' (१९३९) ध्यान में रखने योग्य हैं। अन्त में, आर्थिक और वैधानिक वाद-विवाद के लिए नरेन्द्रदेव को 'समाजवाद' (१९३८), राहुल सांकृत्यायन को 'दिमाग़ी गुलामी' (१९३८) तथा रामनारायण यादवेन्दु को 'समाजवाद और गाँधीवाद' (१९४०) में अधिक सफलता मिली है।

भाषा-दर्शन—

हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी की समस्या में सब से अधिक भाग चन्द्रबली पाण्डेय ने लिया। 'कचहरी की भाषा और लिपि' (१९३९),

'भाषा का प्रश्न' (१६३६), 'बिहार की हिन्दुस्तानी' (१६३६), 'उर्दू का रहस्य' (१६४०), 'मुग़ल बादशाहों की हिन्दी' (१६४०) तथा 'राष्ट्रभाषा का प्रश्न' (१६४२) नामक पुस्तकों में उन्होंने तर्कपूर्ण हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने तथा उर्दू और हिन्दुस्तानी के झमेले में न पड़ने के लिए सुन्दर विवेचना की है। सामान्य भाषा-विज्ञान पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें डा० धीरेन्द्रवर्मा और डा० बाबूराम सक्सेना ने लिखीं।

उपयोगी कला—

कृषि और बाग़बानी पर बैजनाथप्रसाद यादव ने विशेष रुचि दिखलाई है। उनकी 'कृषि-सुधार का मार्ग' (१६४१) तथा 'उद्यान-शास्त्र' (१६४०) इस दिशा में विशेष उपयोगी सिद्ध हुई हैं। शिव-चरण पाठक की 'रंगाई-धुलाई-विज्ञान' (१६३८) वस्त्र-शिल्प की दृष्टि से एक अच्छा प्रयास है। मिट्टी के व्यवसाय पर लिखी गई पुस्तकों में फूलदेव सहाय की 'मिट्टी के बर्तन' (१६३६) तथा मनोहरलाल की 'भारतीय चीनी मिट्टियाँ' (१६४१) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुद्रण-कला के लिए विष्णुदत्त शुक्ल की 'प्रूफ़रीडिंग' (१६४१) तथा गोवर्धनदास गुप्त की 'हिन्दी टाइप राइटिंग' (१६४०) नामक रचनाएँ छापेखानों में काम करने वालों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करती हैं। युद्ध-कला पर भी एक दो पुस्तकें महत्त्व की हैं जैसे सत्यनारायण की 'टैंक-युद्ध' (१६४०) तथा 'हवाई-युद्ध' (१६४०)।

समाज-शास्त्र—

राजनीति के सम्बन्ध में केवल दो रचनाएँ लिखी गईं—चन्डी-प्रसाद द्वारा 'राजनीति के मूल सिद्धान्त' (१६३६) तथा रघुनाथसिंह द्वारा 'फ़ासिज़्म' (१६३६)। अर्थशास्त्र पर शंकरसहाय सक्सेना की 'प्रारम्भिक अर्थशास्त्र' (१६४०) विशेष उपयोगी सिद्ध हुई। मनो-विज्ञान पर महाजोतसहाय की 'जीववृत्ति-विज्ञान' (१६३६) ही दिखाई देती है। नागरिक शास्त्र के लिए भगवानदास केला की 'निर्वाचन-

पद्धति' (१६३८) तथा घनश्यामदास बिड़ला की 'बिखरे-विचार' (१६४१) उल्लेखनीय हैं।

साहित्य का इतिहास—

आधुनिक काव्य, लोकगीत, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि के इतिहासों के लिए स्वतंत्र ग्रंथ बहुत कम लिखे गये। संकलन करते समय अथवा विशेष लेखकों पर विचार करते समय भूमिका-भाग में ही संक्षिप्त इतिहास लिखने की प्रवृत्ति रही। साहित्य के सामान्य इतिहास लिखने की परम्परा अवश्य चलती रही, जिनमें नरोत्तमदास स्वामी का 'हिंदी-गद्य का इतिहास' (१६३८), रामकुमार वर्मा का 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१६३८), गुलाबराय का 'हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास' (१६३८), डा. सूर्यकांत शास्त्री का 'हिंदी साहित्य की रूप-रेखा' (१६३८), डा. रामकुमार वर्मा का 'हिंदी साहित्य की रूप-रेखा' (१६३८), मिश्रबंधु का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (१६३६), कृष्णशंकर शुक्ल का 'हमारे साहित्य की रूप-रेखा' (१६३६), हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' (१६४०), 'अज्ञेय' का 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (१६४०), प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'नया हिंदी साहित्य' (१६४१), शांतिप्रिय द्विवेदी का 'युग और साहित्य' (१६४१) आदि उल्लेखनीय हैं। बहुत से इतिहास विश्वविद्यालयों में अन्वेषण-कार्य करते समय लिखे गये, जिनका पृथक् उल्लेख किया गया है। स्वतंत्र रूप से खोज का कार्य मोतीलाल मेनारिया ने किया और सन् १६४२ ई० में 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' (१६४२) के नाम से प्रकाशित कराया।

पत्र-पत्रिकाएँ—

आज का युग प्रचार की दृष्टि से अभूतपूर्व है। प्रचार के कार्य में पत्र-पत्रिकाओं का जो हाथ है, वह किसी से छिपा नहीं। इस युग में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। देश में विविध

आन्दोलन हुए, हो रहे हैं—सब अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आगे बढ़ रहे हैं। अपनी आवाज़ को सशक्त बनाने के लिए जनता का सहयोग आवश्यक है और इसके लिए पत्र दूतों का काम करते हैं। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी न मालूम कितनी दलबंदियाँ हैं। प्रत्येक का अपना-अपना पत्र है। लेकिन साहित्यिक कार्य यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो बहुत ही कम हो रहा है। सम्पादक न तो सम्पादन-कला से भिज्ञ हैं और न अपने दायित्त्वों का ही पालन करते हैं। जनता से पैसा एकत्रित किया जाता है—जनता का ही बहाना कर, लेकिन वह व्यर्थ में बहाया जाता है। कैसी नीति है? आज एक ओर जहाँ हमें समाचार-पत्रों की संख्या देखकर प्रसन्नता होती है वहाँ दूसरी ओर दुःख भी होता है। वर्तमान युग में हमारे देश में लगभग ३६० हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ हैं, लेकिन उनमें से साहित्यिक कितनी हैं, आप स्वयं विचार कर सकते हैं।

यथार्थ में हिन्दी की सेवा करने वाले पत्र केवल इने-गिने ही हैं। दूसरे पत्रों में चाहे वे दैनिक हों, या साप्ताहिक अथवा अर्ध-साप्ताहिक गद्य-साहित्य का समावेश बहुत ही कम, बल्कि नहीं के बराबर होता है। हिन्दी के दैनिक पत्रों के समाचार तो वस्तुतः सूची या दवाइयों या सिनेमा के इश्तहारों की चयनिका कह सकते हैं। अधिक से अधिक वे सप्ताह में एक बार कोई हल्की सी कहानी या किसी राजनीतिक विषय की चर्चा कर बैठना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठते हैं। साप्ताहिक पत्रों में कहानी, विवादास्पद सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रश्नों पर लेख, पुस्तक-परिचय या समीक्षा के दर्शन होते रहते हैं। आज के साप्ताहिक पत्रों का कलेवर भी इन्हीं से सज्जित रहता है। अन्य पत्रों का सम्बन्ध किसी न किसी दल से है। हमारा प्रयोजन केवल एक मात्र शुद्ध साहित्यिक पत्रों से है।

हिन्दी के वे दैनिक पत्र जो भाषा की शुद्धता पर अन्य पत्रों की अपेक्षा अधिक ध्यान रखते हैं, इस प्रकार हैं—बनारस का 'आज',

कानपुर का 'प्रताप', दिल्ली का 'हिन्दुस्तान' दिल्ली का 'मिलाप', प्रयाग का 'भारत', मुम्बई का 'स्वाधीन भारत', कलकत्ता का 'विश्वमित्र' आदि। इस दृष्टि से वर्तमान, संसार, अर्जुन, नवयुग, स्वतन्त्र भारत, लोकमान्य, राष्ट्र-बन्धु आदि भी उल्लेखनीय हैं। सत्यदेव विद्यालंकार और बाबूराव विष्णुराव पराड़कर ही हमारे सामने सर्वश्रेष्ठ सम्पादकों के रूप में आते हैं। भाषा की दृष्टि से 'आज' सर्वश्रेष्ठ है। इनमें से कुछ पत्र विगत युगों से भी प्रकाशित होते आ रहे हैं। कुछ दैनिक पत्रों ने साप्ताहिक अंक भी निकालना आरम्भ किया, जिनमें 'प्रताप', 'विश्वमित्र', 'अर्जुन', 'भारत' और 'मिलाप' मुख्य हैं। सर्वश्रेष्ठ साप्ताहिक 'जागरण' और 'विश्वमित्र' हैं। मासिक पत्रों में सरस्वती, माधुरी, सुधा, चाँद, विशाल भारत, हंस, विश्वमित्र, गंगा, अरुण, भारती, वीणा, वाणी, आदि मुख्य-मुख्य साहित्यिक पत्र हैं। बहुत से विगत युगों से चले आ रहे हैं। इनमें चित्रों के साथ-साथ समाज, धर्म, साहित्य, इतिहास, गवेषणा तथा मनोरंजन की सामग्री प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है। बालोपयोगी पत्रिकाओं में वानर, बालक, बालसखा, खिलौना, बालविनोद, कमल आदि प्रशंसनीय हैं। अन्य पत्रों में प्रयाग का 'विज्ञान', गोरखपुर का 'कल्याण', काशी का 'भूगोल' विविध विषयों की दृष्टि से उत्तम पत्र हैं। विगत युगों की तरह 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' और 'हिन्दुस्तानी पत्रिका' नामक त्रैमासिक पत्रिकाओं द्वारा साहित्यिक खोजों का कार्य जोरों से चल रहा है। इन पत्रों के अपने-अपने विशेषांक भी निकले हैं, जिनमें बड़े-बड़े विद्वानों की साहित्यिक रचनाएँ हैं।

आज दिन तक जितने हिन्दी के पत्र निकले हैं, उनमें 'सरस्वती' के द्वारा ही हिन्दी-गद्य की उन्नति अधिक हुई है। सच तो यह है कि इसी के द्वारा हिन्दी-गद्य में क्रांति उत्पन्न हुई और हमारे साहित्य को आज का अभिनव रूप मिल सका है। 'साहित्य-संदेश' ने गुलाबराय का आश्रय ग्रहण कर गद्य-साहित्य के अन्तर्गत आलोचना की जो अभि-

वृद्धि की है वह भूलने योग्य नहीं। हिंदी में ऐसे पत्रों का संचालन करना कोई साधारण खेल नहीं है। 'विशाल-भारत' की नीति भी दृढ़ और परिपक्क रही है, आज दिन तक इसने अपना स्टैण्डर्ड बनाये रखा है। 'हंस' की अपनी विशेष पद्धति है, टेकनीक है। तथाकथित प्रगतिवादी रचनाएँ इसमें छपती रहती हैं। अतः प्रगतिवादी गद्य का हमारे यहाँ जीता-जागता उदाहरण केवल यही है। निःसंदेह इसके निबन्ध बड़े ही कलात्मक होते हैं, लेकिन प्रगतिवाद अभी धुँधला है। उसका स्पष्ट स्वरूप हमारे सामने नहीं लाया गया। 'माधुरी' की सेवाएँ भी चिरस्मरणीय हैं, उसके द्वारा भी हिन्दी-गद्य की अच्छी सेवा हो रही है। 'आरती' और 'विश्व-भारती' पत्रिकाएँ भी अपना-अपना सहयोग प्रदान कर रही हैं। हमें अपने इन प्रमुख मासिक पत्रों पर गर्व है। उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए हम मंगल-कामना करते हैं।

साप्ताहिक पत्रों में 'कर्मवीर', 'स्वराज्य' 'संगम' आदि तथा पाक्षिक पत्रों में 'जागरण', 'विचार' 'विश्वमित्र' आदि के द्वारा समालोचना-साहित्य की विशेष अभिवृद्धि हो रही है।

देश में ऐसे पत्रों की कमी नहीं है, जो साहित्यिकता के नाम पर जनता को सस्ती और भद्दी कहानियाँ देकर एक दूषित राह पर ले जा रहे हैं। स्वतंत्र भारत में आशा है वे स्वस्थ और ठोस साहित्य के द्वारा न केवल अपना स्टैण्डर्ड ही ऊँचा करेंगे बल्कि समाज और राष्ट्र की रुचि का भी परिमार्जन करने में सफल होंगे।

अनुवाद—

अन्य भाषाओं से अनुवाद करने की प्रवृत्ति दिन-दिन कम होती जा रही है। लेखक मौलिक रचनाओं की ओर ही अधिक ध्यान दे रहे हैं। यहाँ यह न भूलना चाहिए कि ऐसी विदेशी रचनाएँ जो बहुत ही उच्च कोटि की हों और जिनके द्वारा हमारे साहित्य को भी लाभ होता हो, अवश्य अनूदित रूप में हमारे सामने लाई जायँ। इधर उपन्यासों और कहानियों के अनुवाद कुछ निकले हैं जो इस प्रकार

हैं—'क्रौंचवध' (खांडेकर), 'निशागीत' (शेवडेकर), 'आम्रपाली' (रामचन्द्र ठाकुर), 'बन्धन और मुक्ति' (दर्शक) 'करुणा' (राखालदास), 'मुक्ति की राह' (सोमरसेट माम), 'शशांक' (राखालदास), 'जो दास थे' (सदरुद्दीन एनी), 'स्नेहयज्ञ', 'कोकिला', 'पैसा' (रमणलाल देसाई), 'तेल', 'जंगल', 'देश-भक्त और देश-द्रोही' (अपटन सेक्लेयर), 'फाँसी के तख्ते से' (लियास फूचिक), 'गाड़ी वालों का कटरा' (कुप्रिन), 'टूटे हुए पर' (खलिल जिब्रान), 'विराट्' (स्टीफन ज्विग) आदि। इसी प्रकार कहानियों के अनुवाद ये हैं—'बटोही' (खलील जिब्रान), 'पागल' और 'जीवन-संदेश' (खलील जिब्रान), 'शतरंज का खेल' (स्टीफन ज्विग), पूँजीपति (जार्ज गिसिंग) आदि।

अन्वेषण-कार्य—Research work

हिन्दी भाषा तथा साहित्य सम्बंधी अन्वेषण-कार्य (Research work) का बीजारोपण प्रसाद-युग में हो चुका था। इस युग में आकर वह विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हो गया। वस्तुतः इस युग में अन्वेषण-कार्य ने जितना जोर पकड़ा, उतना और किसी कार्य ने नहीं। अतएव हम निःसंकोच कह सकते हैं कि इस युग की प्रमुख विशेषता—अन्वेषण-कार्य—ही है। इसका सूत्रपात हमारे विश्व-विद्यालयों में हुआ था, शनैः शनैः इसका विकास भी वहीं हो पाया। विश्व-विद्यालयों के बाहर इस कार्य को बहुत कम प्रोत्साहन मिल सका। एक तो हमारे देश में अन्य राष्ट्रीय एवं साहित्यिक संस्थाओं का अभाव था, द्वितीय, इस कार्य के लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता होती है, जो नहीं मिल पाई। इन दोनों अभावों की पूर्ति विश्व-विद्यालयों के द्वारा ही हुई, यह हमें मानना पड़ेगा। विश्व-विद्यालयों की ओर से हिन्दी के श्रेष्ठ पुस्तकालयों की स्थापना हो जाने के अनन्तर विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को विशेष सुविधा मिली। प्रति वर्ष विद्वान् खोजियों (Research Scholars) को आर्थिक सहायता भी मिलती रही, जिससे वे जमकर कार्य करते रहे।

एम० ए० पास करके जो विद्यार्थी अथवा अध्यापक अन्वेषण-कार्य करना चाहते हों, उन्हें अपनी रुचि से चुना हुआ विशिष्ट विषय विश्व-विद्यालय को सूचित कर देना चाहिए, जहाँ से उस विषय पर जाँच के पश्चात् कार्य करने की आज्ञा मिल जाती है। साधारणतया दो वर्ष के बाद वह कार्य स्वीकार किया जाता है, इसके पूर्व नहीं। यदि वास्तव में, किसी विद्यार्थी ने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा है, तो उसे डी० फ़िल० अथवा पी०एच० डी० की उपाधि दी जाती है। यदि परीक्षकों को ग्रंथ और भी अधिक महत्त्वपूर्ण दिखाई देता है, तो छात्रको डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित किया जाता है। डी० लिट् को डी० फ़िल० अथवा पी०एच० डी की अपेक्षा अधिक उत्तम माना गया है, और उसके लिए विशेष परिश्रम की आवश्यकता होती है।

डी० फ़िल० अथवा पी०एच० डी० तथा डी० लिट्० के खोजियों द्वारा चाहे वे अपने कार्य में लफल हों अथवा नहीं, साहित्य की सेवा तो हो ही जाती है। यह बात अवश्य है कि सफल खोजियों का भविष्य उज्ज्वल हो जाता है और उनका कार्य असफल खोजियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर वा अधिकृत माना जाता है। लेकिन असफल खोजी भी अपना कार्य प्रकाशित अवश्य करते रहते हैं। इनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थ उतने महत्त्वपूर्ण तो नहीं कहे जा सकते, लेकिन फिर भी वे हमारे साहित्य में भाषा, शैली आदि की दृष्टि से उपेक्षणीय कदापि नहीं। एम० ए० परीक्षा से उत्तीर्ण होकर हिन्दी में विशेष रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को जब मनचाही नौकरी नहीं मिलती है, तब वे खोजी (Research Scholar) बन बैठते हैं और ऐसा ही कार्य करते रहते हैं। नौकरी मिल जाने पर उस कार्य को छोड़ देते हैं, फिर स्वतन्त्र रूप से उसे प्रकाशित करा देते हैं। इस प्रकार हम देखेंगे कि सफल अथवा असफल दोनों प्रकार के कार्यों द्वारा हमारे साहित्य को आगे बढ़ने में यथेष्ट सहायता मिली है। हमें मानना पड़ेगा कि इस दिशा में हमारे विद्वान् खोजियों ने अथक परिश्रम किया है। कितनी ही हिन्दी-

भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण खोजें प्रकाश में लाई गई हैं, जिससे हमारे साहित्य की रक्षा के साथ-साथ उसकी पर्याप्त उन्नति हुई है। आज भी कितने ही विद्यार्थी इस क्षेत्र में बड़ी तत्परता से कार्य कर रहे हैं।

अँग्रेज़ी-शासन-काल में इन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन अँग्रेज़ी में होता था और बाद में उनका हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत किया जाता था। आजकल यह बात नहीं है। भारत को स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद विश्वविद्यालयों में हिंदी में लिखने की स्वकृति दे दी गई है। जहाँ नहीं दी गई है, वहाँ शीघ्र ही मिलने की सम्भावना है। इन ग्रन्थों को उपरोक्त उपाधियों के लिए स्वीकार करते समय मौलिकता की ओर विशेष ध्यान रखा जाता है और इस मौलिकता के अन्तर्गत खोज, विषय का प्रतिपादन, भाषा और शैली आदि समस्त गुणों की परख की जाती है।

इन्टर-यूनिवर्सिटी-बोर्ड के तत्संबंधी बुलेटिन के आधार पर दिसम्बर, सन् १९४२ ई० तक भारतीय विश्वविद्यालयों में डाक्टरेट (Doctorate) की उपाधि के लिए परीक्षार्थियों द्वारा गृहीत विषयों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रयाग विश्वविद्यालय—

'हिंदी छंद शास्त्र का विकास', 'हिंदी-चारण-साहित्य (१६००-१८००)' 'अष्टछाप के कवि', 'हिन्दी भक्त कवियों की श्रृङ्गार-भावना', 'पृथ्वीराज रासो का अध्ययन', 'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन', हिन्दी वैष्णव साहित्य का दार्शनिक और धार्मिक आधार', 'संस्कृत साहित्य का हिंदी साहित्य पर प्रभाव', 'खड़ीबोली हिंदी—पश्चिमी हिंदी की एक जनभाषा', 'प्रेमचन्द की कृतियों का समालोचनात्मक तथा विस्तृत अध्ययन' तथा 'हिंदी उपन्यास और कहानी—उत्पत्ति और विकास।'

(२) लखनऊ विश्वविद्यालय—

'जयशंकरप्रसाद—जीवन और कृतियों का अध्ययन', 'हिंदी काव्य शास्त्र', 'त्रिपाठी बंधु—जीवन और कृतियों का अध्ययन' तथा 'हिंदी कहानियों का अध्ययन'।

(३) नागपुर विश्वविद्यालय—(छत्तीसगढ़ कॉलेज, रायपुर में)

'भक्ति-काल की हिंदी कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियाँ', 'आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ', 'आधुनिक हिंदी कविता में विदेशी प्रभाव' तथा 'हिंदी काव्य के रहस्यवाद का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण'।

(४) उसमानिया विश्वविद्यालय—

'उर्दू में हिन्दी-तत्त्व'।

(५) आगरा विश्वविद्यालय—(सनातन धर्म कॉलेज, कानपुर में)

'सूरदास'

विश्वविद्यालयों से डी० फ़िल अथवा पी०एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत निबन्ध ये हैं:—

(१) डा० जनार्दन मिश्र—'सूरदास का धार्मिक काव्य' (कोनिग्सबर्ग, १९३४, मूल अँग्रेजी में यूनाइटेड प्रेस लिमिटेड, पटना से प्रकाशित, १९३५)

(२) डा० इन्द्रनाथ मदान—'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (पंजाब, १९३९, मूल अँग्रेज़ी में, मिनर्वा बुक शॉप, लाहौर से प्रकाशित, १९३९)

(३) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'आधुनिक हिंदी साहित्य' (१८५०-१९००) (प्रयाग, १९४०, हिन्दी रूपान्तर प्रयाग-विश्वविद्यालय-हिन्दी परिषद् से प्रकाशित, १९४१)

(४) डा० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (७५० वि०-१७०० वि०) (नागपुर, १९४०, मूल हिन्दी में रामनारायणलाल बुकसेलर, प्रयाग द्वारा प्रकाशित, १९३९)

(५) डा० श्रीकृष्णलाल—'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'—(१९००-१९२५) (प्रयाग, १९४१, हिन्दी रूपान्तर प्रयाग-विश्वविद्यालय

हिन्दी-परिषद् से प्रकाशित, १९४२)

विश्वविद्यालयों से डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत निबन्ध ये हैं:—

(१) डा० बाबूराम सक्सेना—'अवधी का विकास' (प्रयाग, १९३१, मूल अँग्रेजी में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित, १९३८)

(२) डा० एफ़० ई० के—'कबीर तथा उनके अनुयायी' (लंदन, १९३१, मूल अँग्रेजी में आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन से प्रकाशित, १९३७)

(३) डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—'हिन्दी काव्य की निर्गुण-धारा' (बनारस, १९३२, मूल अँग्रेजी में इंडियन बुक शॉप, बनारस से प्रकाशित, १९३६)

(४) डा० धीरेन्द्र वर्मा—'ला लांग ब्रज (व्रजभाषा)'—(पेरिस, १९३६, मूल फ्रेंच में पेरिस से प्रकाशित, १९३६)

(५) डा० रामशंकर शुक्ल—'हिन्दी काव्य-शास्त्र का विकास, (प्रयाग, १९३७, अप्रकाशित, मूल अँग्रेजी में)

(६) डा० बलदेवप्रसाद मिश्र—'तुलसी-दर्शन' (नागपुर, १९३९, मूल हिन्दी में, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित, १९३८)

(७) डा० हरिहरनाथ हुक्कू—'रामचरितमानस में तुलसीदास की कला का विश्लेषण' (आगरा, १९३९, अप्रकाशित, मूल अँग्रेजी में)

(८) डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास—जीवन और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन' (प्रयाग, १९४०. हिन्दी रूपान्तर प्रयाग-विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद् से प्रकाशित, १९४२)

(९) डा० केसरीनारायण शुक्ल—'आधुनिक हिन्दी काव्य का विकास' (बनारस, १९४०, अप्रकाशित, मूल अँग्रेजी में)

दिसम्बर, सन् १९४२ ई० के अनन्तर भी आज दिन तक विश्वविद्यालयों में अन्वेषण-कार्य बराबर होता चला आ रहा है। सुविधा के लिए हमने काल-क्रम का अधिक ध्यान न रखकर एक ही स्थान पर

इनका विवरण दे डाला है।

सन् १९४३ में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी से पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम० ए० को 'प्रसाद का नाट्य-साहित्य' विषय पर डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की गई। इसी प्रकार कलकत्ता-विश्वविद्यालय से श्री नलिनी मोहन सान्याल, एम०ए० को 'बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास' विषय पर पी०एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई और प्रयाग विश्वविद्यालय से श्री छैल बिहारी गुप्त एम० ए० को 'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर डी० फ़िल० की उपाधि दी गई।

सन् १९४० ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी से जिस निबन्ध (Thesis) के आधार पर डा० केसरीनारायण शुक्ल को डी० लिट्० की उपाधि मिली थी, वह पुस्तक-रूप में 'आधुनिक काव्य-धारा' नाम से सरस्वती-मंदिर बनारस से प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष डा० जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा को जो 'प्रसाद का नाट्य-साहित्य' विषय पर डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की गई थी, वह पुस्तकरूप में 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' के नाम से सरस्वती-मंदिर, बनारस से प्रकाशित हुआ।

आगे प्रयाग-विश्वविद्यालय में डाक्टर की उपाधियों के लिए परीक्षार्थियों द्वारा जो गृहीत विषय थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—

सन् १९४४-४५ तक :—'गुरुग्रन्थसाहब का अध्ययन', 'हिंदी साहित्य के भक्ति और रीतिकालों में प्रकृति और काव्य', 'प्राकृत और अपभ्रंश का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव', 'ब्रज के वैष्णव सम्प्रदाय और उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव', 'अंग्रेज़ी का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव', 'नायिका-भेद का अध्ययन।'

सन् १९४५-४६ तक :—'हिन्दी-प्रबन्ध-काव्य का विकास', 'तुलसीकृत रामायण के मूल उद्‌गम और उसका धार्मिक महत्त्व।'

सन् १९४६-४७ तक :—'संयुक्त प्रान्त में हिन्दू पुरुषों के नामों का अध्ययन', 'हिन्दी काव्य (१९००-१९४५) में नारी-भावना', 'हिंदी

गीतिकाव्य का जन्म और विकास' (१५वीं–१७वीं शताब्दी), 'हिंदी गीतिकाव्य का अध्ययन' (१८५७–१९४५)

सन् १९४७–४८ तक—'राम कथा का विकास', 'हिन्दी वीर साहित्य', (१६००–१८०० ई०) 'हिन्दी और बंगला साहित्य के वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन' (१६वीं श०), 'हिंदी और गुजराती कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' (१५वीं–१७वीं श०) 'सिद्ध-साहित्य', 'बँगला साहित्य का आधुनिक हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' (१९वीं और २०वीं श०), 'सूरसागर की हस्तलिखित पोथियों का पाठ-सम्बन्धी अध्ययन', 'मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में नारीभावना' (१५००–१७०० ई०)

प्रयाग-विश्वविद्यालय से डी० फ़िल्० उपाधि के लिए स्वीकृत निबन्ध ये हैं। इनमें से बहुतों के हिन्दी-रूपान्तर बाद में प्रकाशित हुए, मूल तो पहिले ही प्रकाशित हो चुके थे —

(१) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५०–१९००)—(१९४०, हिन्दी रूपान्तर प्रयाग-विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् से प्रकाशित, १९४८, संशोधित संस्करण)

(२) डा० श्रीकृष्णलाल—'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९००–१९२५)—(१९४१, हिन्दी-रूपान्तर प्रयाग-विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् से प्रकाशित, १९४१।

(३) डा० छैल बिहारी गुप्त 'राकेश'—'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन' (१९४३, अप्रकाशित)।

(४) डा० जानकीनाथसिंह 'मनोज'–'हिन्दी-छन्द-शास्त्र' (अप्रकाशित)

(५) डा० ब्रजेश्वर वर्मा—'सूरदास' (१९४५, प्रयाग-विश्वविद्यालय हिन्दी-परिषद् से प्रकाशित, १९४६)

(६) डा० ब्रजमोहन गुप्त—'हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ'

(१६४६, अप्रकाशित)

(७) डा० पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ—'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' (१६४७, अँग्रेज़ी में लिखित निबंध के आधार पर 'जायसी' नामक ग्रन्थ, भारती भवन, इलाहाबाद से प्रकाशित)।

(८) डा० रामरतन भटनागर—'हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास' (१६४८, किताब महल, इलाहाबाद से प्रकाशित)

और, प्रयाग-विश्वविद्यालय से डो० लिट् उपाधि के लिए स्वीकृत निबन्ध इस प्रकार हैं :—

(१) डा० बाबूराम सक्सेना—'अवधी का विकास' (अँग्रेज़ी ही में प्रकाशित)

(२) डा० रामशंकर शुक्ल—'हिंदी काव्य-शास्त्र का विकास' (अप्रकाशित)।

(३) डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास—जीवन और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन' (१६४०, हिंदी-रूपान्तर प्रयागविश्वविद्यालय हिन्दी-परिषद् से प्रकाशित हो चुका था)

(४) डा० उदयनारायण तिवारी—'भोजपुरी का विकास' (१६४५, अप्रकाशित)।

(५) डा० हरदेव बाहरी—'हिंदी अर्थ विचार' (१६४५, अप्रकाशित)

(६) डा० दीनदयालु गुप्त—'हिन्दी के अष्टछाप कवियों का अध्ययन' (१६४५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित, १६४८)

(७) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—'हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक पीठिका' (१७५७–१८५७ ई०), (१६४६ अप्रकाशित)

इधर सर्वश्री डा० सोमनाथ गुप्त, डा० भागीरथ मिश्र, डा० नगेन्द्र आदि को भी पी-एच० डी० की उपाधियों से विभूषित किया गया है। गुप्तजी का थीसिस (निबंध) 'हिन्दी नाट्य-साहित्य का इतिहास' प्रकाशित भी हो चुका है। उसमें उन्होंने एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

(८) चलचित्र और हिन्दी—

जहाँ सिनेमा लोकतंत्र का महत्त्वपूर्ण अंग है, वहाँ वह हमारे देश का एक प्रमुख व्यवसाय भी है। लोकतंत्र के अंग के रूप में सिनेमा की मूल प्रवृत्ति लोक-शिक्षण है। व्यवसाय और लोक-शिक्षण का स्वाभाविक रूप से जैसा अभिनव समन्वय सिनेमा में हो गया है, उसकी रक्षा का हमें सबसे पहले प्रयत्न करना होगा और इस प्रयत्न में हम जैसा दृष्टिकोण बनावेंगे, वह दृष्टिकोण ही हमारे सामने प्रस्तुत सिनेमा और-साहित्य के सम्बन्ध की समस्या को हल करेगा—हमें इन दोनों प्राचीरों को मिलाना होगा, जिन पर सिनेमा का अस्तित्व स्थिर है। उसके व्यावसायिक पक्ष को निर्जीव करना भी उतना ही अहितकर है जितना उसके भाव-पक्ष को। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। हमें तो सिर्फ यह देखना है कि एक ओर व्यावसायिक मनोवृत्ति अपनी मर्यादाओं की उपेक्षा करते हुए कहीं एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न न कर सके और दूसरी ओर सिनेमा का भावपक्ष कहीं अर्थाभाव से पंगु होकर अपने उद्देश्य को ही पराजित न कर दे। चलचित्र और साहित्य की विकट समस्या को हल करते हुए ये शब्द हरबर्ट बुलिनबर्ग ने कहे हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों को सन्मुख रखकर हमें आज चलचित्र के विषय में किसी निर्दिष्ट निर्णय पर पहुँचना होगा। व्यावसायिक दृष्टि से हमारे देश में चलचित्रों का भविष्य उज्ज्वल है, क्योंकि इतना बड़ा जन-समुदाय संसार के और किसी देश में दुर्लभ है। लेकिन इसमें व्यावसायिक मनोवृत्ति की लाभ-लिप्सा की प्रधानता होने से चलचित्र का असाहित्यिक होना अवश्यम्भावी हो जाता है, और इस प्रकार हम चलचित्र तथा साहित्य का जटिल प्रश्न हल नहीं कर सकते। जिन चलचित्र-निर्माताओं ने 'बॉक्स-आफ़िस' को ही चलचित्र के सफलता की यथार्थ कसौटी समझ रक्खा है, वे अपने कर्तव्य का लेश मात्र भी ध्यान नहीं रख रहे हैं। उन्हें अपने स्थान से अविलम्ब हट जाना

चाहिए। आज चलचित्रों में प्रेमलीलापूर्ण, रोमांचकारी, कामोत्तेजक नृत्य तथा गीत और हालीवुड ढंग के नग्न प्रदर्शनों से भारतीय सभ्यता और संस्कृति को जो ठेस लगी है, उसे देखकर सभ्य पुरुष आठ-आठ आँसू बहाने लगता है। यदि चलचित्रों के इन दोषों को हटाया जा सकता है तो वह एक मात्र साहित्य के द्वारा। साहित्यिक भावभूमि में आकर ही इन चलचित्रों का कायापलट हो सकता है और हमें अभीष्ट भी यही है। आज हमारे देश के प्रत्येक साहित्यकार की यही पुकार है कि सांस्कृतिक मान्यताओं के रक्षार्थ इन चलचित्रों को साहित्य-साधना में सम्मिलित किया जाय, ताकि साहित्य और व्यवसाय के अशुभ सम्बन्ध का अन्त हो जाय। सरकार ने भी 'बोर्ड ऑफ सेंसर' की स्थापना कर हस्तक्षेप करना आरम्भ किया है और यदि नहीं भी किया तो हमें उससे कुछ नहीं कहना है। सरकार अपने कर्तव्य का ध्यान रखे और हम अपने का। यदि हम आपसे मिल भी जाएँ तो ठीक और नहीं भी मिलें तो कोई पश्चात्ताप की बात नहीं। सरकारी हस्तक्षेप सदैव निषेधात्मक और विध्वंस-मूलक होता है, इसलिए समस्या सुलझने के बजाय और उलझती रहती है। हम तो शांति, रचनात्मक और समन्वय की भावना को लेकर आगे बढ़ना चाहते हैं। अतएव साहित्यकार ही यदि बुद्धिमानी से काम ले तो धीरे धीरे चलचित्रों का उद्धार हो सकता है। इसके लिए उन्हें चलचित्रों की कड़ी आलोचना कर साहित्य के साथ समझौता कराने का प्रयत्न करना चाहिए। साहित्य के स्तर से ही हमारे उद्देश्य की पूर्ति सम्भव है।

चलचित्रों का क्षेत्र आधुनिक युग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और विस्तृत हो गया है। महायुद्ध के अनन्तर संसार के बड़े बड़े राष्ट्रों ने, जिनमें इंग्लैंड, अमेरिका, रूस इत्यादि भी सम्मिलित हैं, इसे मनो-रंजन की प्रधान सामग्री होने के कारण जीवन के लिए आवश्यक माना है। उनका कथन है कि राष्ट्र को सबल तथा शक्तिशाली बनाने के

लिए अच्छे, आदर्श तथा स्वस्थ चित्रों का निर्माण करना परमावश्यक है। आज इसी कथन को हमारे देश के मनोनीत नेताओं तथा हिंदी-साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों ने भी स्वीकार किया है। आधुनिक चित्र, जैसा कि हम देखते हैं हमारे यथार्थ जीवन के ही प्रतिरूप हुआ करते हैं, इसलिए उन्हें सँवारना-सुधारना हमारे जीवन को सँवारना-सुधारना है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक चित्र में जीवन के तत्त्व उमड़ते-घुमड़ते रहें और हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक अभिनव सन्देश मिलता रहे। इससे मानव-समुदाय की चाहे वह कोई भी क्यों न हो, समस्त कठिनाइयाँ बहुत कुछ हल होती रहेंगी और वे जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में समर्थ हो सकेंगे। विगत तीन-चार वर्षों से हमें चित्रों के निर्माण की गतिविधि में यथेष्ट परिवर्तन लक्षित होने लगा है। इसका कुछ श्रेय हमारी सरकार द्वारा संस्थापित 'बोर्ड ऑफ सेंसर' को है और कुछ अपने दायित्वों का ध्यान रखने वाले चलचित्र-निर्माताओं को। लेकिन इतना होने पर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। देश में चलचित्रों की बाढ़ आते देख खेद के साथ लिखना पड़ता है कि स्वस्थ और आदर्शचित्र तो पहले की तरह आज भी बहुत कम हैं।

साहित्य की दृष्टि से चलचित्र की तुलना हम नाटक से कर सकते हैं, और कोई अंग हमें इसके समीप ठहरता हुआ दृष्टिगत नहीं होता। हिन्दी-नाट्य-साहित्य के विकास पर विचार कर लेने के अनन्तर यह तो हमें ज्ञात हो ही गया है कि किस प्रकार जनता की रुचि नाटकों पर से धीरे धीरे हटती गई। इस युग में आकर नाटकों का स्थान चलचित्रों ने ले लिया। इसका प्रधान कारण तो हमें यही दिखाई देता है कि आरम्भ से लेकर इस युग तक किसी ने नाटकों का प्रणयन रंगमंच की दृष्टि से किया ही नहीं। हाँ, भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने नाटकों का सूत्रपात इस दृष्टि से अवश्य किया था, और उनके बाद राधाकृष्णदास तथा एक-दो अन्य सज्जनों ने इस ओर ध्यान निःसंदेह

दिया पर वे अपने कार्य में सफल नहीं हो सके। सच तो यह है कि उनके बाद भारतेंदु की सी लगन किसी में रही ही नहीं। रंगमंच के अभाव से भारतीय लेखक दिन-दिन उदासीन होते गये। इधर दर्शकगण भी अपनी परिष्कृत रुचि और स्वस्थ मनोवृत्ति को लेकर आगे नहीं आये। रंगमंच के विषय में हमारी सबसे बड़ी भ्रांति तो यह रही कि हमने इसे केवल एक मात्र मनोविनोद का ही साधन समझ लिया और कभी इसे कला की अभिव्यक्ति के एक अत्यन्त प्रभावोत्पादक साधन के रूप में ग्रहण नहीं किया। सभ्य समाज ने भी मंच की उपेक्षा की—उसने इसे सदैव विडम्बना की दृष्टि से ही देखा, उस ने अभिनय करने वाले पात्रों के चरित्र पर सन्देह ही प्रकट किया। उनके देखा-देखी असभ्य लोगों ने भी इन पात्रों का हास-परिहास करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली। भद्र महिलाओं ने इसी लिए इच्छा होते हुए भी मंच पर आना अस्वीकार कर दिया। ऐसी अवस्था में पुरुष ही स्त्रियों के वेश में हमारे सामने आने लगे। फल यह हुआ कि हमारा मंच विकृत हो गया। उस पर से लोगों का विश्वास भी उठ गया। आज भी रंगमंच के प्रति वह उपेक्षा-भाव पूर्ववत् ज्यों का त्यों बना हुआ है। सन् १९२१ ई० में स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इन सब बातों को देखकर रंगमंच के पुनरुद्धार के लिए एक देशव्यापी आन्दोलन किया था। बंगाल, महाराष्ट्र और मद्रास में इस आन्दोलन का स्वागत भी हुआ, पर उसके द्वारा भी किसी राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण नहीं हो सका। लेकिन हाँ, इन प्रान्तों में इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य हुए। इतना होने पर भी हिन्दी-भाषा-भाषी हाथ पर हाथ दिये कविता-कामिनी से ही खिलवाड़ करते रहे। यह हमारे लिए एक लज्जाजनक बात है।

रंगमंच के विकास के लिए जिन जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है, वे हमारे यहाँ विद्यमान हैं। यहाँ हमें यह नहीं भूल जाना

चाहिए कि हमारा नाट्य-साहित्य विश्व भर में अद्वितीय रहा है। प्राचीन काल की बात जाने दीजिए, आज भी इस क्षेत्र में अपूर्व वृद्धि हो रही है। भारतवर्ष में प्रतिभा का अभाव न तो कभी रहा, न है और न रहेगा। अभिनय के क्षेत्र में भी यदि सच पूछा जाय तो हम किसी देश से पीछे नहीं। अनेक देशों ने समय समय पर हमारे अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। जो लोग हमारे इस कथन से सहमत नहीं हैं, उन्हें एक बार उदयशंकर, रामगोपाल, देविकारानी, एनाक्षी, रामराव, दुर्गा खोटे, पृथ्वीराज कपूर आदि के अभिनय अवश्य देखने चाहिएँ, उनका भ्रम आप ही आप दूर हो जायगा। आवश्यकता केवल निरीक्षण और अन्वेषण-दृष्टि की ही है। यदि इनकी पूर्ति हो जाय तो फिर कहना ही क्या ? सोने में सुगन्ध। जब हमारे यहाँ इन उपकरणों के होते हुए भी राष्ट्रीय रंगमंच का स्वप्न पूरा नहीं हो सका, तो विज्ञान द्वारा दिये गये अभिशाप को ही जनता ने भ्रमवश वरदान समझ लिया। उसका घातक परिणाम आज हमारे सामने है। इन चलचित्रों ने मतवाली जनता का दिल चुरा लिया है। वह इस पर इतनी लट्टू हो गई है कि नाटक देखने के लिए उसके पास आज कोई अवकाश नहीं रह गया, पर चलचित्र-गृह में पहुँच कर टिकिट खरीदने के लिए घंटा भर पहले धरना देना उसे स्वीकार है। स्पष्ट है जनता की रुचि इतनी अपरिष्कृत हो गई है कि वह अपनी इस रुचि के आगे कला के यथार्थ सौंदर्य का कोई मूल्यांकन ही नहीं कर सकती। उसे एक मात्र अपने मनोरंजन से ही प्रयोजन है। ऐसी अवस्था में पढ़े-लिखे लोगों ने समझ लिया—किसी से कुछ कहना ही व्यर्थ है।

जब एक बार जनता को रंगमंच का अमर रूप चलचित्रों में देखने को मिल गया तो फिर इसके रूप-रंग के मोह का वह परित्याग नहीं कर सकी। चलचित्र रंगमंच के बहुत से दोषों का परिहार करने में समर्थ हुआ है। इसने संकलन-त्रय (Unities) का बड़ी खूबी के

साथ निवारण कर दिया है। प्रत्येक दिवस में तीन-तीन चार-चार खेल देखते जाइये, पात्र आपको समान रूप से मोहित कर सकते हैं। यह चलचित्र की ही विशेषता है कि मनुष्य प्राणों का त्याग कर देने पर भी जीवित रहता है। पैसे की दृष्टि से भी इसी का पलड़ा भारी दिखाई देता है। इन सब कारणों से ही आधुनिक युग में नाटकों का स्थान चलचित्रों ने ले लिया है।

लेकिन रंगमंच के अभाव का चलचित्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा हो, सो बात नहीं। सोवियत रूस के एक फ़िल्म-निर्देशक जब भारतवर्ष में आये थे तो उन्होंने हमारी फिल्मों के निम्न स्तर के आधारभूत कारणों का विश्लेषण करते हुए कहा था—'भारत का नाट्य-शास्त्र प्रसिद्ध है, किन्तु फिर भी भारतीयों ने कला के इस क्षेत्र में कोई उन्नति नहीं की है। प्राचीन काल में भारत में निःसंदेह ही अच्छे रंगमंच होते थे; किन्तु बाद में इस परम्परा को भारतीयों ने कायम नहीं रक्खा। इसका प्रभाव भारत की आधुनिक फ़िल्मों पर स्पष्ट दिखाई देता है। जिस संस्कृति के लिए भारत सारे यूरोप और एशिया में प्रसिद्ध रहा है, उसकी क्षीण झाँकी भी भारत की फ़िल्मों में नहीं मिलती। हालीवुड के फ़िल्म-मिशन ने भी रंगमंच के प्रति हमारी उपेक्षा पर आश्चर्य प्रकट किया है। वास्तव में यह आज भी हमारे लिए एक अपमानजनक बात है। रंगमंच से बढ़कर जन-जागरण का अन्यत्र कोई साधन नहीं है। साथ ही यह कला के विकास की दृष्टि से भी अपना निजी महत्त्व रखता है। जीवन स्वयं एक रंगमंच है और हम अपने प्रतिदिन के जीवन में अपने आसपास अगणित एवं अनन्त नाटकों का अभिनय देखते हैं। अभिनय जीवन की प्रेरणा ही नहीं, उसकी मौलिक आवश्यकता भी है। संस्कृति, भाषा और साहित्य के विकास के लिए रंगमंच एक अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता है। चीन में तो रंगमंच को राष्ट्र का दर्पन कहा गया है। आशा है हमारे देश में भी इस ओर ध्यान दिया जायगा।

आज चलचित्र विकास के जिस स्तर पर पहुँच चुका है, उसे बहिष्कृत करना असम्भव है और यह हमें अभीष्ट भी नहीं, क्योंकि ऐसा कर हम अपनी निर्बल बुद्धि का ही परिचय देंगे। हम तो विज्ञान द्वारा मिले हुए इस अभिशाप को भी वरदान बनाना चाहते हैं। एक ऐसे सीधे-सादे मार्ग का अवलंबन करना चाहते हैं जिस पर चलने से चलचित्र भी रह जाय और हमारे प्रयोजन भी सिद्ध हो जायँ! इसलिए आज के चलचित्रों के रूप को बदलने के लिए हमें कटिबद्ध हो जाना चाहिए। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यदि हमारे यहाँ राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण हो गया होता तो इस विषय में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि हमारे चलचित्र-प्रेमी चित्र-गृहों में बरसाती पतंगों की तरह जमा न होते। चित्रों से विशेष अनुराग रखने वाले व्यक्तियों को स्मरण रखना चाहिए कि चलचित्र की अपेक्षा नाटक के अभिनय में एक अनिवर्चनीय तृप्ति और सरसता है। आज अन्धी जनता में इसी भावना को उत्पन्न करने की आवश्यकता है। सांस्कृतिक क्षेत्रों में इस प्रकार के निम्न चित्रों का महत्त्व अपेक्षाकृत उपेक्षणीय ही रहा है। चलचित्र-उच्छेदन-नीति भी जैसा कि कह आये हैं, ठीक नहीं। एक साहित्यिक व्यक्ति इन दोनों को अपनी बुद्धि-तुला पर तौलते हुए अवश्य कहेगा कि चलचित्रों में नाटकों की सी सजीवता और प्रत्यक्षानुभूति आ ही नहीं सकती। जहाँ तक जीवन का प्रश्न है, नाटक चलचित्र की अपेक्षा जीवन के अधिक सन्निकट है। जीवन के साथ जितनी गहराई और चैतन्य रूप में नाटक सम्बद्ध है, उतना चलचित्र नहीं। कहा भी गया है कि अपनी आँखों के सामने ही अभिनेता-अभिनेत्रियों को जब हम जीवन के अन्तराल की भावनाएँ व्यक्त करते हुए देखते हैं, तो हमें ज्ञात हो जाता है कि आनन्द की अनुभूति का जितना प्रेरक, मार्मिक और हृदयस्पर्शी साधन नाटक है, उतना चलचित्र नहीं और नाटकों के वातावरण में जो संवेदनात्मक स्फूर्ति और सजीवता रहती है, वह चल-चित्र की फ़िल्म में नहीं, क्योंकि नाटक में अभिनेता के कौशल की जो

गहराई और सूक्ष्मता मिलती है, वह शतांश में भी चलचित्र के चित्र में नहीं मिल सकती। जिन्होंने भारतीय अभिनेता पृथ्वीराज और उनके दल को एक बार अभिनय करते हुए देखा है, उन्हें यह बात प्रत्यक्ष रूप से विदित हो गई होगी। जनता के हृदय में जो चलचित्रों की जड़ें इतनी मजबूत हो गई हैं, उन्हें हिलाने के लिए उच्च कोटि के नाटकों का अभिनय आवश्यक है। इस प्रकार के अभिनय से, जैसा कि हमारा अनुमान है जनता सस्ती और भद्दी फ़िल्मों पर से अपनी रुचि हटा देगी और इस कार्य में अधिक समय भी नहीं लगेगा।

नाटक की ही भाँति चलचित्र भी एक प्रकार की कला है। अधिक समीचीन तो यह होगा कि हम इसे विभिन्न कलाओं का समूह कहें। जो लोग ऐसा नहीं कहते, वे भी ठीक ही करते हैं, क्योंकि विद्वानों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ एक बड़ी समस्या के पृथक्-पृथक् पहलू होते हैं। लेकिन सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के काँटे-तराजू पर अनुपात के बाँट से यदि समन्वय किया जाय तो हम इसे कला के नाम से ही अभिहित कर सकते हैं, क्योंकि चलचित्र में संगीत, साहित्य, चित्रकारी, अभिनय आदि अन्यान्य कलाओं का सम्मेलन होता है। वैसे कहने के लिए हम इसे फ़ोटोग्राफ़ी और ध्वनि-आलेखन के यन्त्रों की करामात कह सकते हैं। अब तक कला जैसा कि हम देख चुके हैं एक छोटे से समूह की चारदीवारी में सीमित थी। विशेष व्यक्तियों के असाधारण अनुभव थोड़े से लोगों के ही दायरे में घूमते-फिरते रहते थे। अब सभ्यता, संस्कृति और कला सामान्य जनता का साधारण अनुभव और नित्य नैमित्तिक जीवन का अंग बनने लगी। आज ललित कलाएँ अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक हित (The greatest good of the greatest number) करने में लगी हुई है। इसका श्रेय यदि चलचित्रों को दे दिया जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। हाँ, ऐसा करते समय चलचित्रों ने हमारी कलाओं का स्वरूप कुछ विकृत अवश्य कर दिया है, जिससे कला के प्राण संकट में पड़ गये

हैं। यदि हम बुद्धिमानी से काम लें तो हमारे दोनों मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं, उदाहरणार्थ हम ललित-कलाओं के ढाँचे (Structure) को सामान्य जनता की रुचि के अनुसार बदल भी सकते हैं और साथ ही उसके प्राणों की भी रक्षा कर सकते हैं। इतना तो इन दोनों अवस्थाओं में हम कहेंगे कि चलचित्र, अपने में कुछ दोष लिये हुए भी, हमारे जीवन के लिए एक उपयोगी वस्तु हो सकती है। इसके द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की जा सकती है। फिर साहित्य का तो कहना ही क्या—उसका प्रचार, उसकी उन्नति तो बड़ी ही सुगमता से हो सकती है। जो काम साहित्य नहीं कर सकता, वह काम चलचित्र द्वारा पूरा किया जा सकता है। नाटकों को लेकर ऊपर हम यही बात देख चुके हैं। अतः एक सफल चलचित्र का मूल्य, चाहे किसी दृष्टि से विचार किया जाय, जन-हित की दृष्टि से एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना से कई गुना अधिक होता है। लेकिन यह तभी हो सकता है जब चल-चित्र-निर्माता अपने कर्त्तव्यों का सदैव नियमित रूप से पालन करते रहें। यों तो शिकायती बाज़ार सदैव गर्म रहता है, दोष ढूँढने वालों को कहीं न कहीं अभाव मिल ही जाते हैं, लेकिन यहाँ हम मोटे-मोटे दोषों की ओर ही संकेत करेंगे। चलचित्र-निर्माता का उत्तरदायित्व अत्यन्त ही कठिन है। हर्ष का विषय है कि अब इन लोगों का दृष्टिकोण परिवर्तित होता जा रहा है, किन्तु स्थिति अभी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। अधिकांश चित्रों में अब भी पूर्ववत् दोष ही अधिक देखने को मिलते हैं। चलचित्र-निर्माता साधारण जनता की भद्दी और सस्ती रुचि को ही दृष्टि-पथ पर रखकर चित्र का निर्माण करते हैं। ऐसा करने से उनकी जेब तो भर जाती है, लेकिन लोगों पर उसका प्रभाव बुरा ही पड़ता है। देश में वासनामयी प्रवृत्ति को गुदगदाने वाले कलुषित चित्रों की कमी नहीं है, और इससे हमारी सभ्यता तथा संस्कृति को जो धक्का लगा है, वह किसी से छिपा नहीं। जनता की रुचि परिष्कृत नहीं हुई है, इस दुर्बलता की ओट में कुबेर लूटकर राष्ट्र का पतन

करना ही जिन निर्माताओं ने अपने जीवन का ध्येय बना लिया है, उन्हें अविलम्ब इस क्षेत्र से हट जाना चाहिए। आज वह समय भी आ गया है जब हम ऐसे निर्माताओं को या तो हटाकर रहेंगे या उन्हें अपनी कुरुचिपूर्ण नीति बदलनी होगी। बहुत से निर्माता-गण उन्हीं अभिनेत्रियों को मुख्य अभिनय करने देते हैं, जो देखने में सुन्दर और चंचल होती हैं। हालीवुड, फ्रांस, इंग्लैंड आदि देशों में सुन्दरता तथा चंचलता के साथ-साथ कला की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके लिए तो अभिनय-परीक्षा (Screen Test) का होना अनिवार्य है। आज इसीलिए सुन्दर कहानी के होते हुए भी उसमें अस्वाभाविकता के चिन्ह स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं। संक्षेप में, निर्माताओं को, मनोरंजन जो एक मात्र उनका लक्ष्य है, छोड़ देना चाहिए। चित्रों में साहित्यिकता प्रधान वस्तु होनी चाहिए; मनोरंजन गौण। वस्तुतः मनोरंजन के साथ-साथ साहित्यिकता प्रदान करने वाले चलचित्रों से ही देश, समाज और राष्ट्र का हित हो सकता है।

चलचित्र की सफलता की कुञ्जी उसकी कहानी है, इसलिए निर्माताओं का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे ऐसे लेखकों को कहानी लिखने के लिए निवेदन करें जो मनोविज्ञान के ज्ञाता, उच्च कोटि के उपन्यासकार अथवा कहानी-लेखक हों। यहीं हम चलचित्र और साहित्य का समझौता कर सकते हैं। हमारे यहाँ के निर्माता अभिनय करने वालों और लेखकों को प्रायः एक दृष्टि से नहीं देखते। यह उनकी भयंकर भूल है। कहानी-लेखक उतने ही आदर के पात्र हैं। आज-कल चलचित्र-कहानी-लेखकों की नीति कुछ कुछ अवश्य बदल गई है, लेकिन वह अभी तक आटे में नमक का ही काम दे रही है। आशिक-माशूक की परम्परा को तोड़ कर पौराणिक, ऐतिहासिक तथा प्रगतिशील सामाजिक चित्र अवश्य प्रकाश में आ रहे हैं, लेकिन उनकी कहानियाँ कला की दृष्टि से उच्चकोटि की नहीं हैं। इधर दो-चार राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत चित्र भी आगे आये हैं, लेकिन कहानी-कला की दृष्टि से

उनमें अनेक त्रुटियाँ हैं। ये त्रुटियाँ तभी दूर हो सकती हैं जब हिन्दी-साहित्य के मान्य लेखकों को इस क्षेत्र में आमंत्रित किया जाय और आमंत्रित करने के अनन्तर बात-बात में निर्देशक अथवा निर्माता द्वारा उसकी लिखी हुई कहानी में काँट-छाँट न की जाय। विगत अनुभव इस बात का साक्षी है कि निर्माताओं ने एक-दो बार ऐसे लेखकों को बुलाकर ऐसा ही किया है, इस लिए उनके चित्र भी बिगड़ गये हैं। यदि निर्माता इन बातों की ओर ध्यान दें तो सचमुच चित्र एक दर्शनीय वस्तु बन जाय। हमारे देश में प्रसिद्ध साहित्यिक उपन्यासों और सर्वोत्कृष्ट कहानी-लेखकों के जो चित्र बने हैं, वे अपेक्षाकृत साधारण चित्रों से अधिक सफल, प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुए हैं। सर्व-प्रथम इस दिशा में कलकत्ता की कम्पनी ने शरच्चन्द्र चट्टोपध्याय के लोकप्रिय उपन्यास 'देवदास' का चित्र बनाया, फिर तो उनके कई उपन्यास परदे पर आये। इनके बाद प्रेमचन्द के उपन्यासों को भी चित्र का रूप दिया गया। 'रंगभूमि' का जो चित्र तैयार किया गया, उसमें निर्देशक महोदय ही चित्र के देवता बन गये, उन्होंने इसमें काफ़ी काँट-छाँट की, इस लिए चित्र अधिक सफल नहीं हो सका। भगवती-चरण वर्मा का 'चित्र-लेखा' इस दृष्टि से बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्ध कहानी 'नौका डूबी' का 'मिलन' चित्र हम देख सकते हैं। चलचित्र-निर्माताओं को इन उदा-हरणों से शिक्षा लेनी चाहिए कि साहित्यिकता प्रदान करने वाले चित्रों का महत्त्व कितना अधिक बढ़ जाता है। प्रचार की दृष्टि से तथा अपनी जेब की दृष्टि से इस प्रकार की नीति अपनाना श्रेयस्कर है। इस लिए उन्हें अच्छी साहित्यिक पुस्तकों से अथवा कहानी-लेखकों के द्वारा रचित उत्कृष्ट कहानी से ही चित्र का निर्माण करना चाहिए।

अभिनेताओं का उत्तरदायित्व भी कोई कम नहीं है। उनमें स्वाभाविकता का होना अनिवार्य है। चित्र में एक ग़रीब ख़ानदान की लड़की को टूटे दरवाजे और टूटी चारपाई पर बैठे हुए दिखाना तो ठीक

कहा जा सकता है, लेकिन उसके मुख पर पाउडर, काजल, लिपस्टिक दिखा कर सोलह श्रृङ्गार करा दर्शकों के सामने लाना सारे जीवन की स्वाभाविकता को नष्ट करना है। श्रृङ्गार (Make-up) की अधिकता से सदैव कृत्रिमता आ ही जाती है। इसी प्रकार महीन वस्त्र पहन कर अभिनेत्रियाँ नृत्य करती हुई गाने लगती हैं, तो दर्शकों का उत्तेजित होना स्वाभाविक है। उनके नाज़नख़रों ने आज के लौंडों के दिमाग़ खराब कर दिये हैं। मैंने ऐसे अनेक आधुनिक नवयुवकों को देखा है जो अपने यथार्थ जीवन में, चाहे उनके सन्मुख कितनी ही विषम परिस्थितियाँ क्यों न हों, ऐसी ही अभिनेत्रियों को पाने के स्वप्न देखते हैं। आख़िर जब हम चित्रों को देखने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं तो उन का हमारे जीवन तथा नैतिक आचरण पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है। चित्र-निर्माता को चाहिए कि वह देश की जनता को इस गन्दगी से ऊपर उठाने का प्रयत्न करे और स्वस्थ तथा आदर्श चित्रों का निर्माण कर लोगों को आदर्श मार्ग पर ले जाने की भरसक चेष्टा करे। अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों को भी प्राचीन गौरव की रक्षा करते हुए अश्लील संवाद, गीत तथा उत्तेजनात्मक नृत्यों में भाग नहीं लेना चाहिए। 'बोर्ड ऑफ सेंसर' का भी इन सब पर प्रतिबन्ध होना आवश्यक है। चित्र में काम करने वाले लोगों को यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि देश के नागरिकों का बनना-बिगड़ना उन्हीं के हाथों में है।

एक सफल चलचित्र का श्रेय किसी एक व्यक्ति-विशेष को नहीं दिया जा सकता। क्योंकि इसका उत्तरदायित्व भिन्न-भिन्न कार्य-कर्त्ताओं में बँटा हुआ होता है। इसलिए उसमें काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने दायित्व का ध्यान रखना चाहिए। उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए कोई बने-बनाये नियम नहीं मिलेंगे। स्वतन्त्र रूप से समय और परिस्थितियों को देखकर अपनी विवेक-बुद्धि से काम लेना ही लाभदायक होगा। विदेशी चलचित्रों

की सफलता कई कारणों पर निर्भर करती है। उनमें लाक्षणिक कुशलता, अटूट द्रव्य, साहित्यिकों का सहयोग तथा सरकार का प्रिय हाथ तो होती ही है, परन्तु इन सबके होते हुए भी वे सदैव नये नये साधनों की टोह में लगे रहते हैं, जिस से उनके चित्र सर्वांगसुन्दर बन जाते हैं। हमें भी इन सब बातों की ओर ध्यान देना चाहिए।

चलचित्रों के विषय में इतनी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद अब हमें यह देख लेना चाहिए कि हिन्दी-गद्य पर इनका क्या प्रभाव पड़ा है ? इसके पूर्व चलचित्रों के विकास पर संक्षिप्त विचार कर लेना इस स्थल पर असंगत न होगा। भारतवर्ष में चलचित्रों का व्यवसाय केवल पैंतीस वर्ष पुराना है। उस समय से लेकर आज दिन तक इसने जो उन्नति की है, उस पर हमें गर्व है। इस व्यवसाय का प्रारम्भिक विकास बम्बई में हुआ और आज भी वह इसका प्रमुख केन्द्र है। सन् १९४६ ई० तक ६६ प्रतिशत चलचित्र बम्बई में बनते थे, लेकिन इधर लाहौर तथा कलकत्ते में भी इसका काम जोरों से चल रहा है। १५ अगस्त सन् '४७ के बाद लाहौर में तो चित्र-निर्माण का कार्य हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बनने से बन्द हो गया। आजकल भारत में फ़िल्म-स्टूडियो लगभग ६० हैं और दो सौ पचास से भी अधिक कम्पनियाँ हैं, जो चित्र बनाने में व्यस्त हैं। बम्बई के अतिरिक्त पूना, कोल्हापुर, कलकत्ता मद्रास, सलेम और कोयंबटूर आदि स्थानों में भी चित्र बनाने के स्टुडियो हैं। लाहौर में तीन स्टूडियो थे, जिनमें से एक दंगों में भस्म हो गया और दो पर सरकारी मुहर लग गई। इस व्यवसाय में लगभग दस करोड़ की पूँजी लगी है; जिससे पन्द्रह हज़ार व्यक्तियों की रोज़ी चलती है। इनमें लगभग, चार हज़ार कलाकार और केमरामैन तथा टेकनीशियन हैं, साढ़े चार हज़ार के लगभग वितरक आदि हैं और शेष पन्द्रह सौ प्रदर्शक हैं। कुल मिला कर हमारे यहाँ डेढ़ सौ वितरक हैं, जिनमें नौ विदेशी चित्रों के वितरक हैं। अन्य देशों की अपेक्षा अभी हम इस दौड़ में बहुत पीछे हैं। चालीस करोड़ की आबादी

के पीछे भारत और पाकिस्तान में कुल मिला कर १६०१ सिनेमा-गृह हैं। पाकिस्तान के पास केवल ११७ हैं, शेष हमारे यहाँ ही हैं। यदि भाषाओं की दृष्टि से विचार किया जाय तो राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही सब से अधिक चित्र बनते हैं और वे सारे देश में प्रदर्शित होते हैं। जनता इनका खूब आदर करती है। आज जो हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा बनी है, उसमें चलचित्रों का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

भारतीय चलचित्र-कम्पनियों ने जिन-जिन प्रमुख हिन्दी-चित्रों का निर्माण किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) मेडन थियेटर्स—

आलम-आरा, मुहब्बत का तूफान, इन्द्रसभा, अलाउद्दीन का चिराग़, लैला-मजनूँ, शीरीं-फ़रहाद, तुर्की शेर, ग़रीब की दुनिया।

(२) कृष्णाटोन कृत—

ख़ाक का पुतला, पाक दामन, लैला मजनूँ, हातमताई, लंकादहन, घर की लक्ष्मी, हीर राँझा, चिन्तामणी, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, भक्त-प्रह्लाद, कृष्णावतार, नवचेतन।

(३) बी० के० एम० देवाज—जान आलम, रंगीला नवाब।

(४) जयदेवी सीनेटोन—काला बाघ, मेरा ईमान,।

(५) कोल्हापुर सीनेटोन—त्रिकरण, गंगावतरण, होनहार, आकाश बाड़ी।

(६) शारदा सीनेटोन—रम्भारानी।

(७) गंधर्व सीनेटोन—'माइ डारलिंग', बाला जीवन, महारानी, सती महानन्दा।

(८) मनहर मोवीटोन—नूरमहल।

(९) कमल मोवीटोन—कारवाने हुस्न, स्त्री-धर्म।

(१०) मयूर मोवीटोन—बनारसी ठग।

(११) रानी मोवीटोन—तिलस्मी हीरा।

(१२) अमर मोवीटोन—इन्तकाम।

(१३) कमला मोवीटोन—मजनूँ, 'पेन्टेडसीन', राधेश्याम।

(१४) सरस्वती मोवीटोन—आवारा शहज़ादा, ठग-सेना, भेदी राजकुमार, 'इट् इज़् टू', भक्त प्रह्लाद, श्यामसुन्दर।

(१५) प्रिन्स मोवीटोन—बाँके बालम, मध्य-रात का कलकत्ता।

(१६) ईस्ट इंडिया पिक्चर्स—

नूरे वहदत, ख़ैबर पास, विद्रोही, बाग़ी सिपाही, सुलताना, पाथर शशी, सलीमा, औरत का प्यार, सीता, चन्द्रगुप्त, सुनहरा संसार, कोकिला, बाग़बान।

(१७) पेरेमाउन्ट पिक्चर्स—

तख़्ते तूफ़ान, शाह-सिकन्दर, पहिली रात, शेरेपंजाब, बंगाल का जादूगर, जींगोमार, गुलनार, नेपोलियन ऑफ इंडिया, मदर इंडिया, मेजिक बाँड, 'हैन्ड्स अप', 'लोयेल्टी', हूरे बग़दाद, 'डेविल्स डेगर', 'इनविज़िबल', बग़दाद का चोर, बुर्कावाली, 'पेसन', बेवफ़ा लेडी उर्फ़ ज़ालिम तूलिया, लालपंजा।

(१८) ईस्टर्न आर्ट्स—शेर का पंजा, धर्म की देवी।

(१९) विष्णू—दिलेर दिलबर, सूर्यकुमारी।

(२०) जगन्नाथ—वहमी दुनियाँ।

(२१) इम्पीरियल फ़िल्म कम्पनी—

खिलाड़ी बम्बई को, गुलाम डाकू, डाकू की लड़की, अनारकली, फ़्लाइंग रानी, बसन्त बंगाली, टेम्पल बेल, उसने क्या सोचा, मदर इंडिया, सौभाग्य-सुन्दरी, सती मदालसा, माधुरी, इंदिरा एम० ए०, किसान-कन्या (प्रथम रंगीन फ़िल्म)

(२२) हॉलीवुड स्टूडियो—

डेविल्स डाइस, शीला, अफ़लातून, चार सौ बीस, जीवन-संग्राम, मरचेंट आफ़ वेनिस, परिवर्तन।

(२३) रणजीत मोवीटोन—

शराफ़ी लूट, ख़ूने नाहक, भूतिया महल, चार चकरम, दो बदमाश,

भूलभुलैया, विश्वमोहिनी, परदेसी प्रियतम, मिस, कश्मीरा, तारा-सुन्दरी, वीर बभ्रुवाहन, गुण-सुन्दरी, तूफ़ानी तरुणी, बिजली, छीन ले आज़ादी, मिल्ली, शैलबाला, भेदी राजकुमार, दिल का डाकू, काला डाकू, सिपाही की सजनी, तूफानमेल, नूरेवतन, सितमगर, भोला-शिकार, कीमती आँसू, लहरी लाल, नादिरा, रात की रानी, देवदासी, राजरमणी, देवदायिनी, राधा-रानी, सती सावित्री, कालेज गर्ल, बैरिस्टर-वाइफ़, प्रभु का प्यारा, शादी, राजपूतनी, पति पत्नी, विष-कन्या, पिया—घर आ जा, बेला, छोटी सी भूल, फूलवाली, कृष्ण-सुदामा, परदेसी, मुसाफ़िर, ढंढोरा, पागल, सूरदास, तानसेन। (कुल १२५ फ़िल्म)

(२४) सरोज मोवीटोन—

दिल का डाकू, अजामिल, जौहरे-शमशीर, सहफे सुलेमानी, पद्मिनी, ग़ाफ़िल मुसाफ़िर, मालती-माधव, ईद का चाँद, नक्शे सुलेमानी, रूप-बसन्त, गुलबकावली, शाह बहराम, शकुन्तला, सिपहसलार, ऐलानेजंग, किमियाँगर, ईमान-फ़रोश, अल्टीमेटम, ग़ैबी सितारा, चन्द्रा, बहारे सुलेमानी।

(२५) ईस्टर्न पिक्चर्स लिमिटेड—महासमर।

(२६) अरेबिक सीनेटोन—नूरेईमान।

(२७) जयन्त पिक्चर्स्—ज़हरे इश्क।

(२८) मुख्तार प्रोडक्शन—प्रेम की आग।

(२९) संसार—खूबसूरत बला।

(३०) रोयल—अलिफ़ लैला।

(३१) श्री पिक्चर्स्—मिस्टर और मिसेज़ बोम्बे।

(३२) अजन्ता प्रोडक्शन—अफ़ज़ल।

(३३) प्रभात—

जलती निशानी, माया मछन्दर, सैरन्ध्री, चन्द्रसेना, अमृत-मन्थन, हम एक हैं, धर्मात्मा, वहाँ (Beyond the horizon), सन्त तुकाराम, सन्त सखु, सन्त ज्ञानेश्वर, रामशास्त्री, नाइन ओ क्लोक,

निर्मला, पड़ोसी, दुनिया न माने, अमर ज्योति।

(३४) बोम्बे टाकीज़—

अछूत कन्या, वतन, भाभी, कंगन, बन्धन, इज़्ज़त, मजबूर, ज़िद्दी, सावित्री, ममता।

(३५) वाडिया मोवीटोन—

जोशेवतन, देश-दीपक, फ्रन्टियर मेल, पंजाब का बेटा, हन्टरवाली, हिन्दकेसरी, पहाड़ी कन्या, हरीकेन हंसा।

(३६) महबूब प्रोडक्शन—औरत, रोटी, नज़मा, अनोखी अदा, पुजारिन, अन्दाज़।

(३७) कारदार प्रोडक्शन—शारदा, नमस्ते, शाहजहाँ, दर्द।

(३८) बरुवा प्रोडक्शन—जवाब, सुबहशाम।

(३९) राजकमल—शकुन्तला, पर्वत पे अपना डेरा, डा० कोटनीस की अमर कहानी, अपना देश, पड़ोसी।

(४०) मिनर्वा—हेमलेट, खून का खून, बसन्ती, ख़ानबहादुर, जेलर, पुकार, सिकन्दर, भरोसा, पृथ्वीवल्लभ, दौलत।

(४१) न्यू थियेटर्स—

सुबह का सितारा, डाकू मन्सूर, ब्लड फ्युएल, राजरानी मीराँ, रूपलेखा, कारवानेहयात, दुलारी-बीबी, माया, अनाथ-आश्रम, विद्यापति, कपालकुण्डला, भक्त पूर्णमल, यहूदी की बेटी, भाग्यचक्र, धरती माता रेज़ीडेण्ट, स्ट्रीट सिंगर, वर्ग दीदी, देवदास, काशीनाथ, पथेरदावी, डाक्टर, आँधी, सँपेरा, मुन्की, लगन, मीनाची, नर्तकी, वापस, अंजनगढ़, हमराही, माइ सिस्टर, अधिकार, छोटा भाई।

(४२) सागर मोवीटोन—

अनोखी मोहब्बत, सिलवर किंग, माया बज़ार, शहर का जादूगर, वैर का बदला, महागति, जरीना, नाचवाली, डाटर-इन-ला, लेडिज़-ऑनली, मिर्ज़ा साहिब, सती अंजना, सती मधुलिका, मीराबाई, तीन सौ दिन के बाद, महाभारत, जागीरदार।

(४३) प्रकाश पिक्चर्स—

बम्बई की मोहिनी, स्नेहलता, पासिंग शो, तलवार का धनी, बदला, चूड़ियाँ, ख़्वाब की दुनियाँ, ऊषाहरण, रामराज्य, राम बाण, भरत मिलाप।

(४४) पन्चोली आर्ट्स—ख़ज़ानची, ख़ानदान, दासी, ज़मींदार।

(४५) राजकपूर—आग, बरसात।

(४६) जैमिनी प्रोडक्शन—चन्द्रलेखा।

(४७) जैमिनी दीवान प्रोडक्शन—लाहौर।

(४८) उमर ख़ैय्याम पिक्चर्स—टूटे तारे, दादा आदि आदि।

(पुस्तक के छोटे से कलेवर में तो यह संभव नहीं कि प्रत्येक चित्र-निर्माण-शाला के सभी चित्रों की नामावली दी जाय, अतः केवल प्रतिनिधि-चित्रों के नाम ले लिये गये हैं।)

ऊपर हिन्दी-चलचित्रों की जो नामावली दी गई है, उनमें से बहुत ही कम चलचित्र कला की दृष्टि से उत्तम कहे जा सकते हैं। प्रायः प्रत्येक चलचित्र में किसी न किसी बात का अभाव खटकता ही रहता है। चलचित्र का सर्वप्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण आधार उसकी अच्छी कहानी है। कहानी की सफलता उसकी युक्तिसंगत गठन पर निर्भर करती है। जिस चलचित्र में युक्तिसंगत गठन पर अधिक ध्यान दिया जाता है, निःसंदेह उसकी कहानी बड़ी ही रोचक होती है और चलचित्र में भी एक विशेष प्रकार का आकर्षण आ जाता है। कहानी लिखते समय हमें कला की दृष्टि से जिन-जिन सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक है, ठीक उन्हीं सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर चलचित्र की कहानी लिखनी चाहिए। चलचित्र की कहानी में जो चरित्र आवें, उनका निर्माण सदैव मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों द्वारा ही होना चाहिए। संवाद सरल, संक्षिप्त, सरस, बोधगम्य और चमत्कारपूर्ण हों। गायन और नृत्य का कहानी में आवश्यक भाग हो। चलचित्र में रोते-हँसते सब को गाना गाते हुए

अथवा नाच करते हुए दिखाना ठीक नहीं, क्योंकि इनके द्वारा हमारे मन में ग्लानि का ही संचार होता है। साधारण मनुष्यों के मनोरंजन को दृष्टि में रखकर रद्दी और सस्ते चलचित्रों के द्वारा एक ओर तो असंख्य द्रव्य नष्ट होता है और दूसरी ओर लोगों में दूषित भावनाएँ फैलने लगती हैं। कलाकार यदि मनोरंजन के साथ-साथ साहित्यिकता देने का प्राण-पण बना ले, तो वास्तव में कला-शिल्प में कला के प्राणों की भी रक्षा हो सकती है और आर्थिक संकट भी दूर हो सकते हैं। इन सब सिद्धान्तों का अनुसरण कर लेने पर जो चित्र तैयार होगा, उसे देखने के लिए आज से कई गुना अधिक लोग लालायित रहेंगे।

प्रारम्भिक निर्माताओं में यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय तो पूना की प्रभात कम्पनी और कलकत्ते की न्यूथियेटर्स कम्पनी बहुत लोकप्रिय हुईं और उन्होंने बहुत कलात्मक चित्र भी प्रस्तुत किये। प्रभात में शान्ताराम का निर्देशन प्रशंसनीय रहा। इसमें उनकी अन्वेषण-दृष्टि का परिचय मिलता है। देवकीकुमार बसु भी शांताराम की टक्कर के हैं। दोनों के निर्देशन में हमें यथार्थवादिता, अदम्य जीवन, प्रेरणा और कुशल-नियोजना के दर्शन होते हैं। इन दोनों चलचित्र-निर्देशकों ने इस क्षेत्र में जितनी नवीन नायक-नायिकाएँ विकसित की हैं, उतनी और किसी ने नहीं। इनके हाथों में पड़कर अभिनेता-अभिनेत्री जनता के गले के हार बन गये हैं। शान्ताराम केवल एक सफल निर्देशक ही नहीं, प्रत्युत एक कलाकार भी है। आंध्र-नाट्य-कला परिषद् के मंच पर खड़े होकर कला की साधना के इस पथिक ने कहा था—'पिछले २७ वर्षों से मैं आत्म-सन्तोष के लिए कला के मंदिर में आराधना कर रहा हूँ, किन्तु सफलता अभी तक मुझ से कोसों दूर है। मैं सदैव अपने सम्मुख कला के महान् मंदिर में स्वर्णोज्ज्वल शृङ्ग को देखता हूँ और आराधना के मार्ग से मैं उसके निकट पहुँचता हूँ। मैं क्या देखता हूँ कि उससे भी अधिक स्वर्णोज्ज्वल शृङ्ग क्षितिज के उस पार से मेरा आवाहन कर रहा है—और बरबस खिंचा हुआ

मैं उस ओर बढ़ जाता हूँ। पिछले तीन दशक से मैं इसी प्रकार अबाध यात्रा कर रहा हूँ और गंतव्य का अभी भी पता नहीं है।'... इन दो निर्देशकों के अतिरिक्त हिमांशुराय और बरुआ के नाम लिये जा सकते हैं। कलकत्ता से जो चित्र निकले, उनमें सुकुमारता, भाव-प्रवणता और कोमलता का आधिक्य है। संगीत भी न्यूथियेटर्स का अधिक हृदयग्राही था। सहगल, जमुना, कानन, नवाब, पहाड़ी सान्याल, चन्द्रमोहन जैसे कलाकारों के सहयोग से आदमी, पड़ोसी, मंज़िल, देवदास, विद्यापति आदि उच्चकोटि के चलचित्र तैयार हो सके, जिन्हें हम अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में भी रखने का साहस कर सकते हैं। लेकिन उनके बाद जो चित्र निकले उनसे हमारी आशा कुचल दी गई। कलात्मकता का स्थान सस्ती और भद्दी लोकप्रियता ने ले लिया। फिर तो कंगन, बन्धन, बसंत, किस्मत, रतन, दिल्लगी जैसे बेहूदे चित्रों की संख्या बढ़ती ही गई। यदि इन समस्त चित्रों का वर्गीकरण किया जाय तो हमें बेहूदे चित्रों की ही भरमार मिलेगी जिन्हें हम प्रेमलीलापूर्ण रोमांचकारी कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पौराणिक और ऐतिहासिक चलचित्र भी हैं, पर स्वाभाविकता के नष्ट हो जाने से उनकी गणना सफल चित्रों में नहीं की जा सकती। सामयिक उपादानों को लेकर तो बहुत ही कम चित्र तैयार किये गये हैं। उदयशंकर की 'कल्पना', शान्ताराम का 'डा० कोटनीस की अमर कहानी' और विजय भट्ट का 'भरत-मिलाप' 'पूर्णिमा' 'विक्रमा-दित्य' निःसंदेह उच्च स्तर के हैं। हमें तो चलचित्रों में 'आग' के जैसा अभिनय, 'शहीद' के जैसी कहानी, 'पुकार' के जैसे कथोपकथन और 'हमराही' के जैसे संगीत की आवश्यकता है, पर खेद है कि ऐसे चित्रों का हमारे यहाँ आज भी अभाव है।

इन चलचित्रों को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हिन्दी-गद्य पर प्रभाव अवश्य पड़ा है। चलचित्रों ने भाव-प्रकाशन के लिए नये नये शब्द दिये और मनुष्य की मानसिक क्षुधा को शांत किया। समय

और परिस्थितियों के परिवर्तन से मानव भावाभिव्यक्ति के साधन में विस्तार पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ, तब नवीन शब्दों के निर्माण करने की इतनी आवश्यकता न रही, जितनी पूर्वनिर्मित शब्दों के मिश्रण से नवीन शब्दों की उत्पत्ति की। प्रकृति और वैज्ञानिक आविष्कारों ने नवीन-नवीन शब्दों का निर्माण किया, पर वे उसे अपना हृदय न दे सके। इस कार्य को पूर्ण करने के लिए साहित्य ही आगे बढ़ा। उसने कहानी, नाटक, कविता आदि साधनों के द्वारा मनुष्य की भावाभिव्यक्ति को आगे अग्रसर होने का पथ प्रशस्त किया, उसने भावाभिव्यंजन करने की प्रणालियाँ दीं तथा उसने भाषा को शैलियाँ प्रदान कीं।

चलचित्रों ने उपरोक्त दोनों प्रकार से हिन्दी-गद्य को प्रभावित किया। उसने नवीन शब्द दिये और बात कहने का ढंग (Style) भी दिया। 'चलचित्र' तो हिन्दी के लिए स्वयं एक नवीन शब्द है। फ़िल्म, स्टूडियो, चित्रपट, चित्रपट-तारिका आदि शब्द सर्वथा नवीन ही हैं। कुछ शब्द ऐसे हैं जो विगत युगों में भी प्रयुक्त होते थे, पर अब उनका चलचित्रों से इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध हो गया है कि वे अनायास ही केवल चलचित्रों के लिए ही प्रयुक्त होने लगे हैं। उदाहरणार्थ— 'अभिनेता' 'इन्टरवल' 'शो' इत्यादि। 'इन्टरवल' नाटकों में भी हो सकता है, प्रत्येक कार्य-व्यापार में हो सकता है, पर 'इन्टरवल' शब्द को देखते ही सिनेमा का ही 'इन्टरवल' याद आता है—हमारे सामने पान, बीडी, सिगरेट वालों की तस्वीर खिंच जाती है। इसी प्रकार किसी कहानी अथवा नाटक के पात्र के मुँह से 'फ़स्ट शो' का नाम हम में सिनेमा के 'फ़स्ट शो' की ही अनुभूति जागृत करता है। चलचित्रों से हमें कुछ ऐसे शब्द भी मिले हैं, जो यथार्थ में हैं तो अँग्रेज़ी भाषा के, लेकिन जिनका प्रयोग शुद्ध साहित्यिक ग्रंथों में भी किया जाता है। पर इतना होते हुए भी हमारी अनुभूति को किसी प्रकार की ठेस नहीं लगती। एक्टर (Actor), सिनेमा (Cinema) आदि ऐसे ही शब्द

हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा के एक एकांकी नाटक का शीर्षक ही 'एक्ट्रेस' है।

उद्देश्य की दृष्टि से हम हिन्दी-गद्य को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम, वह गद्य जो दूसरों को सुनाने के लिए लिखा गया है। द्वितीय, वह जो स्वयं के सुनने, मनन करने और आत्मोन्नति के लिए लिखा गया है। प्रथम प्रकार का गद्य वह जल-राशि है जो हास्य और आवेश की चंचल-ऊर्मियों से उद्वेलित हो उठता है, और द्वितीय, उस जल-निधि के समान है जो शान्त है, आवेगहीन है। चलचित्रों का प्रभाव अधिकांश में प्रथम प्रकार के गद्य पर ही पड़ा है। जिस अनुकरण करने की प्रवृत्ति ने भाषा को जन्म दिया, उसी ने भाव-प्रकाशन की शैलियाँ और प्रणालियाँ भी दीं। हम देखते हैं कि ग्राम-वासियों की भावाभिव्यक्ति करने की प्रणाली सीधी-सादी होती है। ग्रामवासियों की अपेक्षा नागरिकों की यह वाचालता तथा भाव-प्रकाशन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ चलचित्रों के अनुकरण की ही देन हैं। वार्तालाप के बीच-बीच में उद्धरण, मुहावरेदार तथा वेगमयी हिन्दुस्तानी का प्रयोग इस गद्य की विशेषता है। जो हास्य के सिद्धान्त चलचित्र-निर्माताओं द्वारा प्रयुक्त होते हैं, वे ही सिद्धान्त इस गद्य के मूल में हैं। कॉलेज के लड़कों के वार्तालाप तथा नागरिकता के रँग में डूबे हुए मनुष्यों के वार्तालाप में उपरोक्त विशेषताएँ मिलेंगी। शहर के पान-वाले की दुकान पर इसी गद्य के दर्शन होंगे और आजकल के शिक्षित युवकों की बातों में भी चलचित्रों के अनुकरण की प्रवृत्ति मिलेगी। ये ही शिक्षित युवक जब अपनी रचनाओं में हास्य-रस लाने का प्रयत्न करते हैं, तब उनमें चलचित्रों का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होने लगता है। कुछ चलते हुए शब्दों के प्रयोग, कुछ चुलबुले मुहावरों का प्रयोग और अँग्रेज़ी, उर्दू आदि भाषाओं के मिश्रण से बनी हुई आजकल की यह भाषा चाहे हिन्दुस्तानी चाहने वाले वर्ग के लिए सर्वथा उपयुक्त हो; पर हिन्दी-प्रेमियों की साहित्यिक

भाषा के शायद यह उपयुक्त नहीं। चलचित्रों से पूर्ण प्रभावित इस प्रकार का यह चलता हुआ गद्य-साहित्य साधारणतम पाठक वर्ग के लिए साधारण लेखकों की उपज है। हर्ष तो यह है कि इस प्रकार की अनुकरण-प्रवृत्ति से हमारा वास्तविक हिन्दी-साहित्य कोसों दूर है। हमारे गद्य-साहित्य की सुन्दर रचनाओं में न 'नूरिये' 'जमालिये' 'यार' आदि शब्द हैं और न 'मिस्टर' 'हलो' आदि अँग्रेज़ी शब्द ही। सच्चा साहित्यकार भी चलचित्र देखने जाता ही है, पर अधिकांशतः उनसे प्रभावित नहीं होता। कभी-कभी तो कथानक और चरित्र की कुत्सितता देखकर प्रभावित होना तो दूर रहा, वह चलचित्रों की छाया से भी दूर भागने लगता है। हिन्दी के मनन करने योग्य साहित्यिक गद्य पर चाहे वह कहानी है, नाटक अथवा उपन्यास, चलचित्रों का प्रभाव नहीं सा पड़ा है।

चलचित्रों का प्रभाव हिन्दी के चलते गद्य-साहित्य पर अवश्य पड़ा, पर हिन्दी का साहित्यिक गद्य उनसे सर्वथा अछूता ही रहा। इसके विपरीत हिंदी के साहित्यिक गद्य का प्रभाव उत्तम चलचित्रों पर तो पड़ा, पर साधारण चलचित्र इस प्रभाव से बच ही गये, अन्यथा उनका स्तर भी कुछ उठ जाता। हिन्दी के उत्तम गद्य-साहित्य का प्रभाव प्रसिद्ध चित्र 'कल्पना', 'सिन्दूर', 'चन्द्रगुप्त' आदि पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन चित्रों में जन-साधारण के मनोरंजन के लिए निम्न श्रेणी के हास्य का प्रयोग नहीं किया गया और न हृदय को गुदगदाने के लिए पात्रों के चरित्र को ही गिराया गया है। पर अधिकांश में जैसा कि दी हुई नामावली के नामों से ही स्पष्ट है, चित्र पारसी थियेटरों के अनुवाद मात्र जान पड़ते हैं और उनमें वे ही असम्भव बातें दिखलाई गई हैं जो थियेटरों की प्रिय घटनाएँ हैं। इस प्रकार के चलचित्रों ने थियेटरों के पर्दों का अनुसरण कर हमारी जनता की रुचि और भी निकृष्ट कर दी और उन्हें अधिक विलासी बना दिया है। अच्छा ही है यदि हिन्दी का साहित्यिक गद्य इनसे प्रभावित न हो। प्राचीन भारतीयता का चित्रण करने वाले कुछ ही चलचित्र ऐसे हैं, जिनकी भाषा हिन्दी कही

जा सकती है और जिनका कथोपकथन तथा अभिनय कुछ संयत कहा जा सकता है। प्रकाश चित्र कृत 'भरत-मिलाप' और 'राम-राज्य', राजकमल कृत 'शकुन्तला' तथा अन्य ऐतिहासिक चित्र उदाहरण स्वरूप दिये जा सकते हैं। 'सिकन्दर' में सिकन्दर और राजा पुरु के मध्य वार्तालाप सुन्दर और वीरोचित हुआ है। आजकल के नवीन चित्र कलुषित प्रेम से कुछ ऊपर उठे हुए अवश्य दिखाई देते हैं। भाषा का भी कुछ-कुछ सुधार होने लगा है, यह देखकर हमें प्रसन्नता है। 'शहीद' में देश-प्रेम और प्यार का सुन्दर सम्मिश्रण कितनी स्वाभाविक भाषा में बन पड़ा है। देखिए:—

'कल जब देश आज़ाद होगा......जब लोग खुशी में आकर तुम्हें कन्धों पर उठायेंगे, तुम्हारे गले में फूलों का हार डालेंगे तो मैं भी फूलों का हार लिये एक कोने में खड़ी तुम्हारी बहार देख रही होऊँगी, तुम्हारा शानदार जुलूस मेरे पास से निकलेगा, तो मैं आगे बढ़कर तुम्हारे गले में फूलों का हार डाल दूँगी और कहूँगी मेरे देवता! तुम आ गये और तुम्हें इतनी फुरसत भी न होगी कि आँख उठाकर देख सको।'

इसी प्रकार भाषा की दृष्टि से 'चित्रलेखा' में चित्रलेखा के वाक्य देखिए—

'गत-जीवन को फिर नहीं अपना सकती—कैसी मूर्खता की बात कर रहे हो? मैं आगे बढ़ आई हूँ—पीछे जाने के लिए नहीं। पीछे जाना कायरता है, प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल है। संसार में कौन पीछे जा सकता है और कौन पीछे जा सका है? एक-एक पल आगे बढ़कर मनुष्य मृत्यु के मुख में पहुँचता है, यदि वह पीछे नहीं जा सकता, तो वह अमर न हो जाता? आगे! आगे! यही तो नियम है; पाप में अथवा पुण्य में। समझे!'

चलचित्रों की भाषा में जीवन तभी आ सकता है, जब हिन्दी के योग्य लेखकों को इस कार्य में लगाया जाय। चलचित्रों में हिन्दी-लेखकों का हाथ उसके इतिहास को देखते हुए बहुत ही कम रहा है।

सर्वप्रथम नारायणप्रसाद 'बेताब' ने हिन्दी को लेकर इस क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने रणजीत के लिए चित्र लिखे। सन् १९३६ ई० में प्रेमचन्द चित्र-संसार की सैर करने गये, पर वे वहाँ अधिक नहीं टिक पाये, क्योंकि वहाँ उनके विचारों की हत्या होने लग गई थी। उनके बाद सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, नरेन्द्र, नीलकण्ठ तिवारी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, दीपक, नेपाली आदि ने भी उस ओर अपना कदम बढ़ाया। उनके बाद जमनास्वरूप काश्यप ने बाम्बे टाकीज़ की 'अछूत-कन्या' में भाषा का रूप स्थिर किया। इस भाषा-संस्कार से अहिंदी प्रान्तों में हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ने लगी। सुदर्शन ने न्यू-थियेटर्स के 'धूप-छाँह,' प्रदीप ने 'बन्धन', 'नया-संसार' और किस्मत' आदि चित्रों में हिन्दी के शुद्ध शब्दों के प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। 'चित्र-लेखा' भाषा की दृष्टि से अपूर्व है। इतना होते हुए भी अभी चलचित्रों की भाषा शुद्ध नहीं कही जा सकती। उनमें सुधार की काफ़ी गुंजायश है। निर्माताओं को हिन्दी-साहित्यिकों की सहायता लेनी चाहिए और अपने स्वार्थ के लोभ में उनसे बात-बात में अड़ना नहीं चाहिए, क्योंकि जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, वे अभी इसके आरम्भिक विद्यार्थी ही हैं।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने के बाद, हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि चलचित्र-निर्माता भाषा की ओर विशेष ध्यान देंगे। स्वतन्त्र भारत में ऐसे चित्रों की ही आवश्यकता है जिनमें सुन्दर अभिनय तो हो ही, लेकिन साथ ही कला और सुरुचि का भी सुन्दर समन्वय हो, जिनकी भाषा शुद्ध खड़ी बोली हो। वह सरल, सरस तथा स्वाभाविक हो। तभी प्रत्येक भारतीय चित्र के लिए कहा जा सकता है कि—'......It is a prodigious picture in dimensions that Hollywood would not hesitate a moment to brand as Super-colossal, and in substance about as full as

the total output of Hollywood in any given year.' (Criticism on 'Kalpana' By J. Martin in 'New York Times.')

अर्थात् यह चित्र आकार-प्रकार एवं कोटि का इतना महान् है कि 'हालीवुड' (अमेरिकन चित्र-जगत्) इसे महान् से भी महान् घोषित करने में नहीं हिचकिचायेगा। साथ ही यह इतना सारगर्भित और अर्थयुक्त है कि हालीवुड की किसी भी वर्ष की समूची कलाकृतियों के साथ इसकी तुलना नहीं हो सकती। आज हमें अपने प्रत्येक चलचित्र को उदयशंकर भट्ट के 'कल्पना' जैसा बनाना है और तभी हमारा चलचित्र-जगत् स्वतन्त्र भारत का कल्याण कर सकता है।

अब थोड़ा सा विचार चलचित्र के भविष्य पर भी हो जाना चाहिए। इस समय जब कि हम एक ऐसी सीमा में पैर रख रहे हैं, जहाँ का प्रत्येक कण परिवर्तन के लिए उत्सुक है, हम अपने हिन्दी-चलचित्रों की कदापि उपेक्षा नहीं कर सकते। हमारे चलचित्र-निर्माताओं को युग की पुकार के साथ अपना कदम मिलाना पड़ेगा। आज हम स्वतन्त्रता की हरी बनस्थली में खड़े हुए हैं, जहाँ प्रकृति के कण-कण में हमें नूतन चेतना, नवीन संस्कृति और जीवित कला के बन्दनवार लगे हुए दिखाई दे रहे हैं। ऐसे रम्य स्थान पर पहुँच कर भी यदि हमने दासता का गीत अलापना बन्द नहीं किया, तो यह हमारा ही दोष होगा, जो किसी भी दशा में क्षम्य नहीं हो सकता। नवीन चेतना और संस्कृति के द्वार पर पहुँचने के पूर्व हमें अपनी इन दूषित मनोवृत्तियों को और विषाक्त वातावरण को दूर कर देना होगा। जो निर्माता अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर कला का जनाज़ा निकालने पर तुले हैं, वे उस मानवता का अपहरण कर रहे हैं जो हमें मनुष्य बनाये हुए है। आज से चलचित्र-निर्माता को कान खोलकर सुन लेना चाहिए कि उसे युग का निर्माण करना है, उसमें सहयोग प्रदान करना है, जीवन का एक मंत्र फूँकना है, उसमें

एक सतरंगी इन्द्र-धनुष की तरह ऐसा सपना भरना है जो युग-युगान्तर तक हमारी भावी सन्तान को मन्त्र-मुग्ध कर सके।

आज की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्था में जो मंद मंद प्रगति हो रही है, उसका प्रधान कारण यही है कि हमने अभी तक प्रचार की शक्ति के महत्त्व को हृदयंगम नहीं किया है। यदि इसका किंचित् ज्ञान भी हमें हो गया होता तो आज चलचित्र का वह रूप न होता जो विद्यमान है। आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रचार और विज्ञापन का महत्त्व बढ़ गया है। चलचित्र इसका सर्वोत्तम साधन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। स्वतन्त्र भारत की समस्याओं का जितना सुन्दर हल चलचित्रों द्वारा हो सकता है उतना और किसी साधन द्वारा नहीं। 'अधिक अन्न उत्पन्न करो', 'जातीयता और साम्प्रदायिकता को त्याग दो', 'सत्य और अहिंसा से काम लो'...आदि हमारे मनोनीत नेताओं के सारगर्भित वाक्य जो हम नित्य प्रति दैनिक समाचारों में मोटे मोटे अक्षरों में पढ़ते हैं, जनता पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सकते। एक तो इस देश में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या कम है, द्वितीय समाचार पत्र सभी के पास नहीं पहुँचते हैं, लेकिन चलचित्र ग़रीब और अमीर प्रायः सभी लोग देखते हैं। सरकारी योजनाओं तथा जीवन को सुन्दर बनाने वाले महत्त्वपूर्ण वाक्यों का विज्ञापन यदि चलचित्र अपने हाथ में ले लें, तो कितना उत्तम हो! इसी प्रकार शनैः २ चलचित्रों के द्वारा निरक्षरता भी दूर की जा सकती है।

पाश्चात्य देशों की सरकारों और सामाजिक संस्थाओं ने चलचित्र के महत्त्व को अच्छी तरह परख लिया है। वहाँ व्यवसाय के लिए ही नहीं, बल्कि जन-कल्याण-प्रसारक के साधन के रूप में भी चलचित्र की अगणित सम्भावनाओं का प्रयोग आरम्भ हो चुका है। सड़कों के यातायात के नियमों, स्वास्थ्य-सम्बन्धी सूचनाओं, रोगों की रोक-थाम और निवारण की प्रतिक्रियाओं तथा सामाजिक या औद्योगिक निर्माण

से प्रासंगिक विषयों की जानकारी चलचित्रों के ही द्वारा दी जाने लगी है। लेकिन हमारे चलचित्र-व्यवसाय ने अनुकरण के इस सूत्र को ग्रहण नहीं किया है। आज तो हमें इसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। इन सब बातों के प्रचार के लिए जितने अधिक चित्र-गृहों का निर्माण होगा, उतना ही अधिक हित हो सकेगा। हमारे यहाँ जब प्रेस की शक्ति परिमित है, प्रचार के अन्य साधनों की कमी है, तो इसके अतिरिक्त और कोई उत्तम साधन हो ही नहीं सकता। माना कि चलचित्र केवल नगरों में ही सीमित हैं; लेकिन घूमने वाले चलचित्रों के द्वारा भी काम लिया जा सकता है। अन्य योजनाओं पर पैसा बहाना व्यर्थ है। कम से कम पैसों में अच्छे से अच्छा लोक-शिक्षण का कार्य इनके द्वारा हो सकता है। डोकुमेण्टरी फ़िल्म्स (Documentary Films) के द्वारा इस अभाव की पूर्ति बहुत ही अच्छी तरह हो सकती है।

हिन्दी आज राष्ट्रभाषा बन गई है, लेकिन अभी इसके लिए हमें आगे की सम्भाव्य कठिनाइयों को दूर करना है। वैसे सरकार भी इस ओर प्रयत्नशील है, लेकिन यदि हमने सरकार के साथ-साथ हाथ-पैर नहीं हिलाया तो हमारा काम नहीं बनने का। पन्द्रह वर्ष तक की अवधि में तो हम चलचित्रों के द्वारा हिन्दी भाषा का अभूतपूर्व प्रचार कर सकते हैं। लोगों के हृदय में हिन्दुस्तानी की जो जड़ें मज़बूत हो गई हैं, उन्हें हिला सकते हैं। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि बिल्कुल तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया जाय और भाषा की स्वाभाविकता को नष्ट कर डालें, हम तो कम से कम यह चाहते हैं कि आज चलचित्रों में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, उसका शुद्ध रूप दर्शकों के सामने उपस्थित किया जाय। योजना हमारे सामने है, साधन भी हमारे पास है, फिर विलम्ब क्यों?

इसी प्रकार हम अपनी सोई हुई ललित कलाओं को भी इन चलचित्रों के द्वारा जगा सकते हैं। यहाँ यह संकेत करने की आवश्य-

कता नहीं कि ललित कलाओं का हमारे जीवन के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि संगीत, नृत्य आदि कलाएँ जो आज विकृत हो गई हैं, उन्हें सुधारने की चेष्टा की जाय। चलचित्रों में ऐसे संगीत और ऐसे नृत्यों का प्रदर्शन हो, जिससे दर्शकों की सुरुचि जागृत हो और उनमें जीवन के प्रति स्वस्थ भावनाएँ उत्पन्न हों। हम अपनी पुरानी आदर्श ललित कलाओं के द्वारा जनता का ध्यान इस ओर फिर आकर्षित कर सकते हैं।

अन्त में, हमें इस सम्बन्ध में एक बात और कहनी है। चलचित्रों के द्वारा जो कुछ हम करेंगे वह हमारे जीवन, समाज और राष्ट्र के हित में ही होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन जो कुछ किया जाय वह शुद्ध हृदय से किया जाय, उसमें मन की पवित्रता तथा स्वच्छता हो। सरलता, शुद्धता और सच्चाई के साथ किया गया कार्य कभी भी असफल नहीं रह सकता, यह हमें नहीं भूल जाना चाहिए। ऐसा करते समय यदि हम राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रवेश कर लें, तो कोई बात नहीं। सरकार का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह बोर्ड ऑफ सेंसर द्वारा इस प्रकार के चलचित्रों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगावे। उसे तो चाहिए कि वह अपनी कमज़ोरियों का हृदय से स्वागत करे और उन्हें दूर करने के उपाय सोचे। प्रजातन्त्र-वाद का सबसे बड़ा सुख, सबसे बड़ी स्वतन्त्रता यही है। केवल सरकार की व्यर्थ प्रशंसा करना और जनता का ध्येय कुचल देना अपने स्वार्थ की पूर्ति करना है।

यदि इन उपरोक्त लिखी हुई प्रमुख बातों का भविष्य में ध्यान रखा गया तो चलचित्र प्रचार और लोक-शिक्षण के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर सकता है, और हम चाहते भी यही हैं।

(६) रेडियो और हिन्दी—

आज का युग विज्ञान का युग है और रेडियो आधुनिक युग की सभ्यता का एक आवश्यक अंग बन गया है। बड़े-बड़े शहरों में जहाँ

बिजली से सैकड़ों काम लिये जाते हैं, घर-घर रेडियो का होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं, लेकिन देहातों में जहाँ बिजली का नाम-निशान तक नहीं है, रेडियो का प्रचार दिन-दिन बढ़ता देख आश्चर्य ही होता है। अभिप्राय यह कि रेडियो का रखना हमने अपनी आवश्यकता बना लिया है। आज हम में से बहुतों ने समाचार-पत्र पढ़ना बन्द कर दिया है अथवा यों कहिए कि इस यांत्रिक युग में इन्हें देखने के लिए हमारे पास अवकाश नहीं, इसलिए कि हम अपने घर बैठे रेडियो के द्वारा देश-विदेश के समाचार सुन सकते हैं। हम में से ऐसे लोग बहुत कम होंगे जो बाहर से आई हुई नाटक-मण्डली को देखने के लिए आतुर रहते होंगे, इसलिए कि हम अपने घर में ही रेडियो-रूपक सुनने के अभ्यस्त हो गये हैं। इसी प्रकार संगीत जैसी उच्च ललित कलाओं के दर्शन की वह उत्कण्ठा भी हममें कहाँ ? शायद इसका कारण भी यही हो कि हम जब चाहें तब अपने रेडियो के फ़िल्मी रेकाड़ों के द्वारा अपनी प्यास बुझा लेते हैं। आज विज्ञान ने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है, लेकिन हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इसके द्वारा हम विलासी, निरुद्यमी और अकर्मण्य भी बन बैठे हैं। चाहिए तो यह कि विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ हमारा जीवन भी आगे बढ़ता रहे, लेकिन स्थिति ठीक इसके विपरीत है। हमने अपने संस्कारजन्य जीवन की स्वाभाविकता को थोड़े से आराम के लिए तिलाञ्जलि दे डाली है। विज्ञान की उन्नति से हम दिन-दिन प्रकृति से दूर हटते जा रहे हैं। पर जब तक इन दोनों का सामञ्जस्य न होगा, तब तक मानवता का कल्याण होना असम्भव है। यही बात रेडियो के लिए भी कही जा सकती है।

रेडियो की महत्ता का कारण स्पष्ट है, उसने जनता को मनोरंजन दिया है। इधर जब से सरकार ने आंतरिक और अन्तर्राष्ट्रीय सूचना का उत्तरदायित्त्व अपने हाथों में ले लिया है, तब से तो प्रत्येक राष्ट्र के लिए रेडियो, सूचना का एक अविभाज्य अंग बन गया है। संगीत,

समाचार आदि के साथ-साथ जब से रेडियो ने साहित्य में प्रवेश किया है, तब से तो इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। विगत बीस-पच्चीस वर्षों से रेडियो की प्रधानता के ये ही प्रमुख कारण हैं। पहले की अपेक्षा तो, यह मानना पड़ेगा, कि रेडियो ने उन्नति की है और वह करता जा रहा है; लेकिन ब्रिटेन, अमेरिका, रूस आदि अन्य देशों को देखते हुए हमारे यहाँ की रेडियो-स्थिति उतनी सन्तोष-जनक नहीं कही जा सकती। अँग्रेजी साम्राज्यकाल में रेडियो की नीति अँग्रेज़ों की नीति ही थी, लेकिन अब देश में चारों ओर उसकी कड़ी आलोचना हो रही है। हमें उस नीति का बहिष्कार करना होगा, रेडियो को आज की व्यवस्था के अनुकूल बनाना होगा। भारतीय रेडियो का स्तर दिन-दिन ऊँचा होते देख प्रसन्नता होती है। वह दिन दूर नहीं, जब रेडियो के द्वारा मनोरंजन, समाचार आदि के साथ ही साथ साहित्यिक सेवाएँ भी होंगी। यहाँ हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि अन्य देशों ने तो रेडियो के द्वारा शिक्षा का कार्य भी आरम्भ कर दिया है। रेडियो से राष्ट्र की यथार्थ सेवा भी तभी हो सकती है, जब उसके द्वारा हमें मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा भी मिलती रहे। प्रस्तुत निबन्ध में रेडियो द्वारा हिन्दी-गद्य की उन्नति-अवनति का ही उल्लेख किया जायगा, क्योंकि प्रधानतः हमारा प्रयोजन भी यही है, लेकिन साथ ही रेडियो सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातों के ऊपर भी विचार करना इस स्थल पर असंगत न होगा।

सर्वप्रथम हम रेडियो-ब्राडकास्ट के इतिहास पर संक्षेप से विचार करेंगे। भारतवर्ष में रेडियो का इतिहास विगत बीस-पचीस वर्षों का इतिहास है। हमारे यहाँ सर्वप्रथम ब्राडकास्ट १६ मई, सन् १९२४ ई० की सन्ध्या को मद्रास से हुआ था। सरकार का इसमें किसी प्रकार का हाथ न था। मद्रास के कतिपय उत्साही सज्जनों ने एक शानदार होटल

में एकत्रित होकर 'मद्रास-प्रांतीय रेडियो-क्लब' की स्थापना की थी। यह प्रथम ब्राडकास्ट इन्हीं महानुभावों के प्रयास का शुभ परिणाम था। इस क्लब के उत्साही कार्यकर्ताओं ने ब्राडकास्ट का कार्यक्रम दो वर्षों तक तो चला लिया, लेकिन बाद में जब उनके सामने भयंकर आर्थिक संकट आये, तो इच्छा होते हुए भी उन्हें विवश होकर अपना क्लब भंग करना पड़ा। फिर ब्राडकास्ट का कार्यक्रम रुक गया।

लेकिन भारत-सरकार ब्राडकास्ट के महत्त्व से पूर्णतया परिचित हो चुकी थी, उसे वह कब बन्द होने दे सकती थी? जब मद्रास का क्लब भंग हो गया, तो उसने मद्रास, बम्बई और कलकत्ता से ब्राडकास्ट करने का दृढ़ निश्चय किया और इसका एकाधिकार 'इंडियन ब्राडकास्टिंग कम्पनी लिमिटेड' (Indian Broadcasting Company Ltd.) को सौंप दिया। इन तीनों स्टेशनों में 'ट्रान्समिशन' (वार्ता-प्रसारण) के जो यन्त्र लगाये गये, वे केवल थोड़ी सी दूर पर ही ब्राडकास्ट कर पाते थे क्योंकि उनकी शक्ति ही अत्यन्त परिमित थी। ये वार्ता-प्रसारण-यंत्र, कहा गया है कि केवल डेढ़ किलोवाट शक्ति के ही थे। इससे उनकी अशक्तता का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि यह कम्पनी भी ब्राडकास्ट करने में सफल नहीं हो सकी। परिणाम यह हुआ कि १ मार्च, सन् १९३० ई० को यह तोड़ दी गई।

इतना होने पर भी सरकार कब चुप बैठने वाली थी? भारत-सरकार ने ब्राडकास्ट के महत्त्व को अच्छी तरह परख लिया था। वह हर दशा में उसे यहाँ रखना चाहती थी। यही कारण है कि अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए भी उसने यह स्वर्णावसर अपने हाथ से नहीं जाने दिया। 'इंडियन ब्राडकास्टिंग कम्पनी लिमिटेड' (Indian Broadcasting Company Ltd.) से निराश होकर भारत-सरकार ने यह काम अपने हाथ में ले लिया और 'इंडियन-स्टेट-ब्राडकास्टिंग-सर्विस' (Indian State Broadcasting Service) की स्थापना

कर दी। सरकार ने इस पर पूरी देख-रेख रक्खी और थोड़े समय के पश्चात् इसी विभाग को अखिल-भारतीय-रेडियो (All India Radio) के नाम से अभिहित कर दिया। तब से अखिल-भारतीय-रेडियो (All India Radio) की नींव पड़ी। फिर तो अन्य रेडियो-स्टेशनों की भी स्थापना हुई।

आज समस्त देश में सोलह रेडियो-स्टेशन हैं, जिनके नाम ये हैं—दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, लखनऊ, त्रिचनापल्ली, पटना, कटक, शिलांग, गोहाटी, नागपुर, विजयवाड़ा, बड़ौदा, अहमदाबाद, इलाहाबाद और जालन्धर। इनमें से प्रथम आठ स्टेशन तो पुराने हैं, लेकिन बाद के आठ अभी हाल ही में खोले गये हैं। अखिल-भारतीय-रेडियो के विभिन्न स्टेशनों की स्थापना में, यदि क्रमबद्धता से विचार किया जाय तो यह कहना पड़ेगा कि, दिल्ली स्टेशन १ जनवरी, १९३६ ई० में स्थापित किया गया था। उस समय दिल्ली के पास केवल एक ही वार्ता-प्रसारण-यंत्र था, जो मीडियम वेव दस किलोवाट का ही था। १६ दिसम्बर, सन् १९३७ ई० में शार्टवेव का दस किलोवाट की शक्ति का एक यंत्र और लगाया गया। यह प्रादेशिक उपयोग के लिए लगाया गया था। समाचारों के लिए क्रमशः पाँच और दस किलोवाट के शार्टवेव वाले शक्तिशाली यंत्र १ जून, सन् १९३८ ई० और १७ फ़रवरी, सन् १९४० ई० में लगाये गये। इसके पश्चात् १ मई, सन् १९४४ ई० तथा १ जून, सन् १९४४ ई० में सौ-सौ किलोवाट-शक्ति के शार्ट-वेव के दो शक्तिशाली यंत्रों की स्थापना की गई। इनका उपयोग विदेशी ब्राडकास्टों के लिए किया जाने लगा। दिल्ली-रेडियो-स्टेशन आजकल सबसे अधिक शक्तिशाली स्टेशन है। वहाँ विदेशों के लिए ४९ भाषाओं के कार्य-क्रम, जो आध-आध घंटे के होते हैं, प्रसारित किये जाते हैं।

कलकत्ता में इस समय दो वार्ता-प्रसारण-यन्त्र हैं। एक, दस किलोवाट का शार्टवेव यन्त्र है, जो प्रादेशिक उपयोग के लिए है और

दूसरा डेढ़ किलोवाट का मीडियम-वेव-यन्त्र है, जिससे कलकत्ता-रेडियो ने २६ अगस्त, सन् १९२७ ई० को कार्य करना आरम्भ किया था। दूसरा यन्त्र १६ अगस्त, सन् १९३८ ई० में लगाया गया। बम्बई-रेडियो-स्टेशन के पास भी दो यन्त्र हैं। बम्बई में सर्वप्रथम ब्राडकास्ट २८ जुलाई, सन् १९२७ ई० को हुआ था। इन दोनों स्टेशनों की ही भाँति मद्रास-रेडियो-स्टेशन के पास भी दो यन्त्र हैं, किन्तु वे दोनों ही बम्बई और कलकत्ता के स्टेशनों की अपेक्षा कम शक्तिशाली हैं।

अन्य स्टेशनों की स्थापना उपरोक्त स्टेशनों के अनन्तर हुई। लखनऊ-स्टेशन सन् १९३८ ई० में खोला गया। उसके बाद पटना, कटक, जालन्धर, शिलांग, गोहाटी, नागपुर, विजयवाड़ा, बड़ोदा आदि स्टेशनों की स्थापना सन् १९४६—४९ ई० के बीच हुई। इन सबके पास मीडियम वेव के ही यन्त्र हैं, शार्ट-वेव के किसी के पास नहीं। पटना, त्रिचूरी, लखनऊ और बड़ोदा स्टेशन ऐसे हैं जिनके पास पाँच किलोवाट मीडियम वेव के यन्त्र हैं। इलाहाबाद, विजयवाड़ा, नागपुर, गोहाटी और कटक के वार्ता-प्रसारण-यन्त्र केवल एक किलोवाट शक्ति के ही हैं। शेष स्टेशनों की शक्ति तो इनसे भी कम है। १ फ़रवरी, सन् १९४९ ई० को इलाहाबाद में भी एक रेडियो-स्टेशन खोल दिया गया। इस स्टेशन में लगे यन्त्र की शक्ति सब से कम है।

ब्राडकास्ट के संक्षिप्त इतिहास को जान लेने के अनन्तर अब हमें रेडियो-नीति से परिचित होना समीचीन होगा। सारंग या नभवाणी का अवलोकन करने पर किसी भी व्यक्ति को यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो सकती है कि रेडियो के कार्यक्रम किस रूप में रक्खे जाते हैं और उनमें सुधार की कितनी आवश्यकता है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि जिस उद्देश्य को लेकर हमारे यहाँ विभिन्न रेडियो-स्टेशनों की स्थापना हुई है, उसका रेडियो-अधिकारियों को रत्ती भर भी ज्ञान नहीं है। रेडियो राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति का परिचायक है, इसके द्वारा अन्य देशों को भारत की संस्कृति की झलक मिलनी चाहिए,

लेकिन प्रायः देखा जाता है कि ऐसा नहीं होता। रेडियो हिन्दी-प्रचार का भी एक उत्तम साधन है, इस के द्वारा साहित्य की भी भरपूर सेवा हो सकती है, लेकिन अधिकारी गण चुप बैठे हैं, जैसे-तैसे अपना काम चलाने में लगे हुए हैं। जब हम ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन थे तब तो रेडियो की नीति ही अद्भुत थी? हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी का संघर्ष इन स्टेशनों पर भी चलता रहा। अँग्रेजों की कूटनीति ने कभी भी हिन्दी को आगे नहीं बढ़ने दिया, रेडियो पर उर्दू का ही बोलबाला रहा। अनेक बार सरकार से प्रार्थना की गई कि हिन्दी के प्रधान केन्द्रों में भी रेडियो-स्टेशनों की स्थापना होनी चाहिए, किन्तु उर्दू भक्तों, तात्कालिक अधिकारियों तथा उनके अनुयायियों के दूषित वातावरण से हिन्दी-प्रेमियों का स्वप्न साकार न हो सका। उस विदेशी शासन के समय तो हिन्दी के कार्यक्रम रेडियो-स्टेशनों पर नहीं के बराबर थे। सच तो यह है कि हिन्दी को समझने वाला, उससे प्रेम रखने वाला कोई साहित्यिक इन स्टेशनों पर था ही नहीं। ऐसी अवस्था में हिंदी की दुर्गति ही हुई। अधिकांश में रेडियो पर अँग्रेजी और उर्दू की ही रचनाएँ प्रसारित की जाती थीं, हिन्दी-रचनाओं का तो केवल नाम-मात्र था और इस नाम की ओट में भाषा के साथ अत्याचार किया जाता था। हिन्दी-रचनाओं में ७५ प्रतिशत शब्द उर्दू के होते थे, जिन्हें हिन्दी-भाषा-भाषियों को समझने में कठिनाई होती थी। भाषा का यह रूप उनके शासन-काल तक बराबर चलता रहा।

आज रेडियो की नीति वैसी तो नहीं कही जा सकती जैसी अँग्रेज़ी शासन-काल में थी, लेकिन फिर भी कोई विशेष उन्नति दृष्टिगत नहीं हो रही है। इस सम्बन्ध में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि अब रेडियो-अधिकारियों ने नवीन वातावरण के अनुकूल अपने आपको बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है। यह प्रयत्न केवल बाह्य है, आन्तरिक नहीं, इसलिए जब तक इन दोनों पक्षों में सुधार नहीं कर लिया जाता, तब तक हिन्दी की उन्नति रेडियो द्वारा नहीं हो

सकती। आज आप भारत के किसी भी रेडियो-स्टेशन से प्रसारित कार्यक्रम को सुन लीजिए आपको सारा रहस्य स्वयंमेव विदित हो जायगा। प्रायः सभी स्टेशनों पर ७५ प्रतिशत कार्यक्रम संगीत का ही मिलेगा। इसमें कच्चे गाने, पक्के गाने, रेकार्ड-संगीत और वाद्य-संगीत प्रायः सभी आ जाते हैं। संक्षेप में, फ़िल्मी गानों पर रेडियोवालों का ज़ोर रहता है। जहाँ कार्यक्रम में समय की गुंजायश हुई, तुरन्त ही फ़िल्मी गानों के द्वारा उस समय की पूर्ति कर दी जाती है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि रेडियो संगीत की दृष्टि से आधा सिनेमा बन जाता है। इसके अतिरिक्त शेष २५ प्रतिशत कार्यक्रम में समाचार, निबन्ध, कविता-पाठ, रूपक अथवा अन्य प्रकार के आवश्यक अंगों को स्थान मिलता है। इस तुलनात्मक जाँच से स्पष्ट है कि रेडियो-अधिकारी संगीत को ही अधिक महत्त्व देते जा रहे हैं। यह उनकी भयंकर भूल है। जो कुरुचिपूर्ण और लज्जाजनक गाने हम सिनेमा-गृह में सुनकर आते हैं, अधिकांश में वे ही रेडियो द्वारा प्रसारित किये जाते हैं। समझ में नहीं आता कि इस प्रकार के भद्दे और सस्ते गानों द्वारा हमारी सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक शिक्षा में क्या वृद्धि होती है?

पद्य के अतिरिक्त जब हम रेडियो द्वारा प्रसारित गद्य पर आते हैं, तो हमें और भी अधिक उदासीन होना पड़ता है। गद्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम हम समाचारों को लेते हैं। आज के समाचारों की भाषा शुद्ध हिन्दी नहीं कही जा सकती, यद्यपि पहले की अपेक्षा हमें कुछ उन्नति अवश्य दिखाई देती है। इसे हम हिन्दुस्तानी ही कहेंगे, जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के शब्दों का बराबर प्रयोग किया जाता है। रेडियो-अधिकारी जब समाचार प्रसारित करने लगते हैं, तो प्रायः ऐसी ही भाषा का प्रयोग करते हैं। कुछ विशेष शब्दों के स्थान पर यद्यपि उन्होंने खड़ी बोली के शब्दों को अपनाना आरम्भ कर दिया है लेकिन

स्थिति अभी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। 'ख़बर' के स्थान पर 'समाचार' 'आदाब अर्ज़' के स्थान पर 'नमस्कार' 'बाद' के स्थान पर 'पश्चात्', 'हाज़िर' के स्थान पर 'उपस्थित' तथा 'इजाज़त' के स्थान पर 'आज्ञा' कह देने से ही काम नहीं चलेगा। जब तक इन रेडियो-स्टेशनों पर हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् नहीं रखे जायेंगे, तब तक हमारी समझ में भाषा सम्बन्धी त्रुटियों का परिहार होना दुष्कर कार्य है। छोटे छोटे स्टेशनों पर तो रेडियो-अधिकारियों को हिन्दी-शब्दों का ठीक उच्चारण करना भी नहीं आता। उनके मुँह से हिन्दी-शब्दों को सुनकर हमें हँसी आने लगती है। अभी थोड़े दिन हुए, जब एक रेडियो-स्टेशन से 'आज की ख़ास २ खबरें ये हैं' के स्थान पर 'आज की ख़ास-ख़ास समाचार ये हैं, सुनने को मिला तो हमें विशेष दुःख हुआ। रेडियो-अधिकारी पूछने पर हिन्दी के ही पक्ष में सुनाई देते हैं, पर क्या उनकी हिन्दी ऐसी ही होनी चाहिए, जिसे वे प्रसारित करते रहते हैं? तब क्यों नहीं इन त्रुटियों को दूर करने के लिए वे आवश्यक कदम उठाते?

समाचारों के अतिरिक्त जब हम निबन्ध, कविता-पाठ, रूपक अथवा किसी अन्य प्रकार की साहित्यिक रचना पर आते हैं, तो हमें और भी अधिक दुःख होता है। आज प्रत्येक रेडियो-स्टेशन पर वहाँ के कर्मचारियों के मुँह-लगे कुछ विशेष व्यक्तियों को ही प्रोत्साहन दिया जाता है, जिनका न तो साहित्य में कोई स्थान है और न हिन्दी-संसार उनसे परिचित ही है। क्या हुआ, यदि पाँच प्रतिशत व्यक्ति उनमें हमें हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक मिल जायँ? यदि हिन्दी-साहित्य के माने हुए लेखक ही इन फुटकरिये लेखकों के स्थान पर अपनी महत्त्वपूर्ण गद्य-रचनाओं को प्रसारित करते रहें, तो निःसन्देह हमारे गद्य-साहित्य को विशेष लाभ पहुँच सकता है। हमारे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि नवीन

लेखकों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाय, दिया तो जाय; लेकिन आखिर वे इसके योग्य भी तो हों। ऐसे नवीन लेखकों को प्रोत्साहन देने से क्या लाभ जिन्हें साहित्य का 'क ख' भी नहीं आता। निबन्धों में वे विषय के साथ न्याय नहीं कर सकते, रूपकों को लिखते समय कला का गला घोंट देते हैं और यही दशा उनकी अन्य गद्य-रचना की होती है। रेडियो-अधिकारियों को चाहिए कि वे खूब छान-बीन कर किसी भी गद्य-रचना को प्रसारित होने दें। इसके लिए उन्हें यह भी चाहिए कि महत्त्वपूर्ण गद्य-रचनाओं को समाचार-पत्रों में देकर हिन्दी-संसार की आलोचना का स्वागत करें, जिससे आगे के लिए स्वस्थ साहित्य का निर्माण हो सके।

अखिल-भारतीय-रेडियो ने, खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आरम्भ से लेकर आज दिन तक हिन्दी-विरोधी-नीति को ही अपनाया है। रेडियो के केन्द्रीय कार्यालय में प्रांतीयतावादी पंजाबी और मद्रासी तथा उर्दू भक्तों का अब तक बोलबाला है और वे अपने आगे किसी की कुछ सुनते ही नहीं। ऐसी अवस्था में लोग न तो भारतीय सभ्यता और संस्कृति का यथार्थ पहलू ही समझ सकते हैं और न वे लोग हिन्दी को ही किसी प्रकार का आश्रय प्रदान करने के लिए प्रस्तुत हैं। ब्रिटिश-कलाधिकारी और उनके अनुयायी जब तक रेडियो के कर्त्ता-धर्त्ता रहे, तब तक उन्होंने हिन्दी वालों को अपने पास नहीं आने दिया। अब अवकाश ग्रहण कर लेने पर भी अपने पीछे वे ऐसा तत्त्व छोड़ गये हैं जो, हिन्दी के विद्वान् इस विरोधी नीति के विरुद्ध भरसक आंदोलन कर लेने पर भी उसे दूर करने में समर्थ नहीं हो रहे हैं। हमें तो किसी प्रकार के सुधार का कोई प्रयत्न इस दिशा में नहीं दिखलाई पड़ता। लेकिन अब जैसा कि हमारा अनुमान है अधिक दिनों तक यह अवस्था नहीं रह सकती। हिन्दी आज राष्ट्र-भाषा बन चुकी है और इसलिए रेडियो को अपनी नीति आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, बदलनी ही होगी। भाषा के सम्बन्ध में

केन्द्रीय रेडियो की नीति में सुधार होने पर ही अन्य रेडियो-स्टेशनों में सुधार हो सकता है क्योंकि ये सब उसी के अनुगामी हैं। रेडियो-अधिकारियों को भाषा की नीति में कोई भी सुधार करना यदि अपेक्षित है, तो उन्हें अविलम्ब रेडियो का वातावरण बदल देना चाहिए। आज हमें तो रेडियो-विभाग प्रांतीयता और संकीर्णता के विषाक्त वातावरण में ही फलता-फूलता दिखाई दे रहा है। सरकार को इस वातावरण की सफ़ाई के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए और वहाँ ऐसे आदमियों को भेजना चाहिए, जिन्हें हिन्दी और भारतीय संस्कृति का समुचित ज्ञान हो। रेडियो-अधिकारी इस ओर ध्यान दें तो बड़ा पुण्य हो!

रेडियो-अधिकारियों का यह प्रधान कर्तव्य है कि वे अपने विषय के लिए योग्य मनुष्यों का चुनाव करें। सम्पूर्ण अव्यवस्था के मूल में एक यही कारण है। रेडियो के अधिकारी विषयों का विभाजन किसी नियम को ध्यान में रखकर नहीं करते। यदि एक कविता प्रसारित करने वाले को 'देश की आर्थिक समस्या' पर वार्ता देने को कहा जाय तो वह इस कार्य में सफल कदापि नहीं हो सकता और न उसकी वार्ता को सुनकर हमारे ज्ञान की ही वृद्धि हो सकती है, क्योंकि ऐसा करते समय वह उन्हीं मोटी-मोटी बातों का उल्लेख करेगा, जिनसे आप और हम सभी परिचित हैं। हाँ, यही वार्ता यदि किसी ऐसे व्यक्ति को देने के लिए कहा जाय जिसका यह प्रिय विषय रहा हो तो कोई बात भी है? कवि का देश की आर्थिक समस्या से क्या सम्बन्ध है यह समझ में नहीं आता। इसी प्रकार साहित्यिक वार्ताओं में भी योग्य व्यक्तियों का चुनाव करना आवश्यक है। अधिक से अधिक ऐसे योग्य व्यक्तियों को कुछ पैसा अधिक देना पड़ेगा, लेकिन ज़रा ध्यान दीजिए, उससे लोगों को कितना लाभ होगा? फिर पारिश्रमिक देने में भी तो हमें कोई विशेष नियम नहीं दिखाई देता। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वानों और लेखकों को तो पन्द्रह-बीस रुपयों पर बुलाया जाता है और नाच-गाने वालों को सौ-सौ रुपयों पर। स्पष्ट है कि हमारे

यहाँ मनोरंजन प्रदान करने वाली सामग्री पर ही अधिक पैसा खर्च किया जाता है, साहित्यिकता प्रदान करने वाली वस्तु पर नहीं। हिंदी के कलाकार तो पहले की तरह आज भी पैसे-पैसे के मोहताज हैं। यदि इसके विरुद्ध कोई आवाज़ उठाता है तो रेडियो के अधिकारी चुप हो जाते हैं। अस्तु, इस विषय में हमें अधिक कुछ नहीं कहना, लेकिन इस भेद-भाव-पूर्ण नीति के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही पड़ेगा। यदि रेडियो-अधिकारियों को मनोरंजन के साथ-साथ साहित्यिकता देनी है, तो इस नीति का अन्त करना होगा। साहित्यिकों और विद्वानों के लिए इस प्रकार का तुच्छ पारिश्रमिक वास्तव में अपमान-जनक और अत्यन्त ही लज्जास्पद है।

प्रायः प्रत्येक रेडियो-स्टेशन से ग्राम-पंचायत का कार्यक्रम भी नियमित रूप से प्रसारित किया जाता है। यह काम बहुत ही अच्छा है, क्योंकि इसके द्वारा हमारे देहातों का कल्याण हो रहा है, लेकिन दुःख और दारिद्रय-भरे इस देश में हमारे ग्रामवासियों के पास रेडियो कहाँ हैं, जो इस कार्यक्रम को सुनें। जब तक गाँवों में शहरों की तरह रेडियो नहीं पहुँच जाते, तब तक यथार्थ में इस कार्यक्रम के द्वारा कोई लाभ नहीं हो सकता। यह कार्यक्रम वास्तव में है तो ग्राम-भाइयों के लिए, लेकिन उसका स्वाद शहर के निवासियों को ही चखने को मिलता है। फिर बहुत से रेडियो-स्टेशन तो इतने अशक्त हैं कि उनकी ध्वनि केवल सीमित क्षेत्र तक ही पहुँच पाती है। इस कार्यक्रम पर तो व्यर्थ धन और समय व्यय किया जाता है क्योंकि इसके पीछे जो शुभ भावना है, उसका अर्थ है—ग्राम सुधार। पर होता जो है, वह किसी से छिपा नहीं। इधर केन्द्रीय सरकार अपना ध्यान इस ओर आकर्षित कर रही है, यह जानकर हमें विशेष प्रसन्नता हुई।

समाचार-पत्रों में पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि सरकार ने रेडियो-स्टेशनों के विकास की दृष्टि से एक अष्टवर्षीय योजना स्वीकार की है। यदि यह योजना कार्यान्वित कर दी गई, तो हमारी बहुत सी

कठिनाइयाँ दूर हो जावेंगी। इधर हिन्दी के विद्वान् और प्रसिद्ध लेखक रेडियो की भाषा सम्बन्धी नीति पर असन्तुष्ट होकर नये-नये प्रस्ताव भारत सरकार के पास भेज रहे हैं। उनका यह प्रश्न अधिक दिनों तक नहीं टाला जा सकता, अब समझौते की घड़ी आ गई है। कितना अच्छा हो यदि हिन्दी के विद्वानों और लेखकों की माँगे पूरी हो जायँ और रेडियो-अधिकारी तथा ये लोग आपस में मिलकर नये सिरे से कार्य आरम्भ करें, जिसमें किसी को कुछ कहने की गुंजायश ही न हो। अब तो हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई है, फिर इस शुभ काम में देरी क्यों ?

(१०) राष्ट्र-भाषा की समस्या—

राष्ट्रभाषा का प्रश्न केवल वैज्ञानिक ही नहीं वरन् सामाजिक भी है। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करते समय राजनीतिक और ऐतिहासिक प्रसंगों का विचार भी स्वाभाविक है, लेकिन मुख्यतया राष्ट्रभाषा का प्रश्न सामाजिक और राष्ट्रसंगठन का प्रश्न है। एक राष्ट्र की नींव को दृढ़ करने की दृष्टि से राष्ट्रभाषा का प्रश्न सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रभाषा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए चन्द्रबली पांडे ने एक स्थान पर लिखा है—'राष्ट्रभाषा का एक मात्र उद्देश्य राष्ट्र-संगठन है, प्रांतों को एक दूसरे से जोड़ना है, सभी वर्गों के लोगों को मिलाना है, राष्ट्रीय जीवन से साम्प्रदायिकता को हटाना है, राष्ट्रीय संस्कृति और साहित्य का निर्माण करना है। राष्ट्रीय जीवन में हिन्दू आयेंगे, मुसलमान भी आयेंगे, पारसी आयेंगे और ईसाई भी। वह किसी एक खास धर्मावलंबी व संप्रदायवादी की ही बपौति नहीं रह सकता है। इसलिए राष्ट्रभाषा के विकास में भी सभी धर्मों और सभी संप्रदायों का हाथ रहेगा। वह उस हद तक हमेशा अपूर्ण रहेगा जिस हद तक किसी संप्रदाय ने उसका बहिष्कार किया हो अथवा किसी संप्रदाय ने उसे क़ैद कर रखा हो। इसलिए कोशिश यह होनी चाहिए कि राष्ट्रभाषा सभी की हो, सभी उसके हों।' अतः

स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र का उद्धार और एकता का मूल-स्रोत उसकी राष्ट्रभाषा है।

राष्ट्र के केंद्रीय तथा अंतःप्रांतीय व्यवहार की दृष्टि से भारतवर्ष में विभिन्न भाषाओं और बोलियों के रहते हुए भी एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता का अनुभव भारतवासियों को उस समय हुआ, जब धीरे-धीरे राष्ट्रभाषा का गौरव भारती से हट कर बहुत कुछ अंशों में अँग्रेज़ी को प्राप्त होने लगा। ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से जब देश में एकता और राष्ट्रीयता की लहर दौड़ी, तो भारतवासियों की नींद खुली और उन्होंने राष्ट्र के साहित्यिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से अँग्रेज़ी भाषा के समान ही संपन्न, समृद्ध और परम्परा-युक्त राष्ट्रभाषा पर विचार करना आरम्भ किया, क्योंकि राष्ट्र के करोड़ों निवासियों को एकता के सूत्र में पिरोने का कार्य अँग्रेज़ी के द्वारा दुस्तर ही नहीं असम्भव भी था। सब प्रकार से सोच-विचार कर लेने के अनन्तर हमें आधुनिक हिन्दी ही अपने दृष्टि-पथ पर दिखलाई दी। लेकिन आधुनिक हिन्दी के विरोधी, उर्दू के हिमायती यह देखकर अपने-अपने तर्क-शस्त्र लेकर राष्ट्रभाषा के इस समर में कूद पड़े। फिर तो हिन्दुस्तानी की एक तीसरी सेना भी तैयार हो गई। वाद-विवाद बढ़ता गया, तीनों ओर से मुँहतोड़ उत्तर मिलते गये। प्रश्न साधारण था, लेकिन विद्वानों की सम्मतियों ने उसे जटिल बना दिया। हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी का यह संघर्ष अनेक वर्षों तक हमारे यहाँ चलता रहा। सुझाव मिलते रहे, बहसें होती रहीं; लेकिन समस्या का समाधान किसी प्रकार नहीं हो सका। इस समस्या-समर में भाग लेने वाले हिन्दी के साहित्यिक ही नहीं प्रत्युत गाँधी जी और अन्य कर्मठ प्रमुख राज-नीतिक नेता भी थे। इन्होंने शांति से कार्य लेने के स्थान पर प्रश्न को और उलझा दिया। ऐसा करते समय वे अपनी राजनीति को पृथक् नहीं कर सके। हिन्दू-मुस्लिम राजनीति से प्रभावित होने के

कारण उनकी चिन्तन-धारा सांप्रदायिकता में परिवर्तित हो गई। आरम्भ में तो इनके सम्मुख आधुनिक हिन्दी का ही शुद्ध स्वरूप था, लेकिन विपक्षी दलों के अधिक कहने-सुनने पर उन्हें अपना मौलिक विचार छोड़ देने पर बाध्य होना पड़ा। आज राष्ट्र-भाषा के इस विकट प्रश्न को हम कहाँ तक हल कर सके हैं, इसका इतिहास प्रत्येक हिन्दी-विद्यार्थी के लिए अध्ययन करने की वस्तु है। सन् १७४४-४५ ई० से लेकर, जब उर्दू की उत्पत्ति हुई थी, १५ सितम्बर सन् १९४९ तक, जब राष्ट्रभाषा की समस्या का बहुत कुछ हल निकल आया, इस समस्या का इतिहास अत्यन्त ही रोचक है। इतना तो हम अवश्य कहेंगे कि इस वर्तमान युग में, जिसे हमने प्रचार-युग कहा है, इस समस्या को लेकर जितने वाद-विवाद उपस्थित हुए, उतने और कभी नहीं। गाँधी जी द्वारा आमंत्रित हिन्दुस्तानी-प्रचार-कान्फ्रेंस, वर्धा में फ़रवरी, सन् १९४५ ई० के बाद तो इसने एक साहित्यिक क्रांति उत्पन्न कर दी, जिसमें अन्य समस्त तत्त्व सम्मिलित हो गये। इसलिए इस युग के अन्तर्गत, इस समस्या पर पृथक् रूप से विचार किया गया है। आशा है, पाठकों के लिए प्रस्तुत निबन्ध विशेष लाभदायक सिद्ध होगा। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी की सम्यक् समीक्षा के लिए उनकी उत्पत्ति तथा संक्षिप्त इतिहास को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। जहाँ तक हिन्दी से सम्बन्ध है, हम उसकी उत्पत्ति तथा इतिहास से अवगत होते चले आ रहे हैं और सप्रसंग खड़ी बोली के सम्बन्ध में हम कतिपय भ्रांतियों का निवारण भी पीछे कर चुके हैं। यहाँ केवल एक बार पुनः इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि हिन्दी एक अत्यन्त प्राचीन भाषा है जिसका कोई न कोई साहित्यिक रूप प्राचीन काल से व्यवहृत होता चला आ रहा है। आधुनिक हिन्दी उसी श्रृङ्खला की कड़ी है। ज़माना पलट गया, तख़्त बदल गये, लेकिन हिन्दुओं ने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रकाशन मारवाड़ी,

ब्रज, अवधी, मैथिली और खड़ी बोली की अन्य उपभाषाओं से समृद्ध हिन्दी में ही किया, जो संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं की एक उन्नत उत्तराधिकारिणी भाषा है। आधुनिक हिन्दी में इन विविध उपभाषाओं के शब्द देखे जा सकते हैं, लेकिन संस्कृत आदि-भाषा होने के कारण इसका झुकाव उस ओर स्वाभाविक ही है। आज अरबी, फ़ारसी और अँग्रेज़ी के शब्द जो मुसलमानों तथा अँग्रेज़ों के सम्पर्क से हमारी भाषा में घुल-मिल गये हैं, उनसे हिन्दी की उदारता एवं विशालहृदयता का ही परिचय मिलता है। सब प्रकार से विचार कर लेने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी की एक अपनी मर्यादा है, वह परम्परा की भाषा है और आज भारत में वह स्वाभाविक साहित्यिक भाषा बन गई है।

वस्तुतः उर्दू हिन्दी की ही एक उपभाषा है। इसकी उत्पत्ति हुए कुछ ही वर्ष हुए हैं। उर्दू सन् १७४४—४५ ई० में दिल्ली के लालक़िले में बनी और मुग़ल शाहज़ादों तथा दरबारी लोगों के साथ लखनऊ, अजीमाबाद (पटना) और मुर्शिदाबाद आदि शहरों में धीरे धीरे फैलने लगी। फ़ारसी के साथ साथ कम्पनी-सरकार के दरबार में दाख़िल हुई और सन् १८०० ई० में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में आ धमकी। वहाँ गिलक्राइस्ट महोदय की अध्यक्षता में फलती-फूलती रही। इसके इतिहास को देखने से हम इसे एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में ग्रहण करने को कदापि प्रस्तुत नहीं हैं। यह किसी प्रदेश की भाषा नहीं है। हम इसे देहातों की बोली भी नहीं कह सकते और इसी प्रकार हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता की उपज बतलाना अपनी अल्प बुद्धि और सीमित ज्ञान का परिचय देना है। उर्दू की उत्पत्ति हम राजनीतिक कारणों से मान सकते हैं। यथार्थ में बात भी यही है। हिन्दी भाषा की एक बोली—खड़ीबोली में फ़ारसी-अरबी के शब्दों के सम्मिश्रण से यह शैली जैसा कि विद्वानों का कथन है, मुग़ल बादशाह शाहजहाँ के राज्य-काल में आरम्भ हुई और मुसल-

मान नवाबों, दरबारी नवमुसलमानों तथा हिन्दुओं ने इसे मुग़ल-साम्राज्य के अधःपतन हो जाने के अनन्तर अपनाया तथा साहित्यिक रूप देना आरम्भ किया। उस समय उर्दू उत्तरी भारत के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ही लोगों के द्वारा व्यवहार में लाई जाती थी और आज भी उसकी यही अवस्था है। फिर यह एक साम्प्रदायिक भाषा बन गई। अँग्रेजों की कूटनीति ने अपनी स्वार्थ-रक्षा के लिए राज-दरबारों में पली हुई इस उर्दू को आश्रय देना उचित समझा। उनकी ही अनुकम्पा के परिणाम-स्वरूप कालान्तर में यह स्वतन्त्र भाषा बन बैठी और उनके ही प्रोत्साहन से साहित्य-सृजन भी हुआ। इस प्रकार व्यवहार की हिन्दी में थोड़े से अरबी-फ़ारसी शब्दों के पाये जाने के कारण ही उसे हम उर्दू का प्रमाण-पत्र दे दें, तो यह भाषा-शास्त्र के नियमों के सर्वथा विरुद्ध होगा।

इधर अभी उर्दू पूर्ण विकसित भी नहीं हो पाई थी कि हिन्दुस्तानी का एक नया भेद हमारे सामने आया। इस भाषा के सम्बन्ध में तो हम स्वयं अपना निजी निर्णय देने में असमर्थ हैं, क्योंकि लोगों ने राजनीतिक क्षेत्र की ही भाँति, साहित्य के क्षेत्र में भी शोर-गुल कर अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए बिना सोचे-समझे वाद-विवाद उपस्थित कर दिया। लेकिन हिन्दुस्तानी के हिमायतियों ने इस भाषा का जो परिचय दिया है, उसके आधार पर तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इसकी उत्पत्ति और विकास को कुछ ही दिन हुए हैं। हिन्दुस्तानी हिन्दी-उर्दू के बीच की एक सरल भाषा बतलाई गई है। यदि यह सच है तो यह भी सच है कि इसका जन्म उर्दू के बाद हुआ है और विकास हुए कुछ ही वर्ष हुए हैं। जिस प्रकार उर्दू एक स्वतन्त्र भाषा नहीं है, उसी प्रकार हिन्दुस्तानी को भी स्वतंत्र भाषा कहना हमारी निपट अज्ञानता है। कुछ शब्द हिन्दी के और कुछ शब्द उर्दू के मिला देने से ही यदि एक तीसरी भाषा का जन्म हो जाता है, तो ऐसी

भाषाएँ हमारा विश्वास है एक नहीं, अनेक पैदा की जा सकती हैं। हिन्दुस्तानी हमारे साहित्य में उन बलबुद्धिहीन व्यक्तियों के मस्तिष्क की उपज है, जिन्होंने समय और परिस्थितियों से उत्पन्न एक साहित्यिक समस्या को 'यह भी सही, वह भी सही, यह भी नहीं, वह भी नहीं, थोड़ा यह भी, थोड़ा वह भी' कहकर हल करने का प्रयत्न किया है। ये लोग हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, अरबी, संस्कृत, अँग्रेज़ी आदि सभी भाषाओं की बोलचाल की खिचड़ी पचा सकते हैं। अतः हमें विवश होकर लिखना पड़ता है कि हिन्दुस्तानी की उत्पत्ति उन लोगों के द्वारा हुई, जिन्हें न तो हिन्दी बोलना ही आता था और न उर्दू ही। इसीलिए यह बीच का मार्ग ग्रहण करना पड़ा। आरम्भ में इन लोगों के सामने हिन्दुस्तानी की कोई तस्वीर नहीं थी, हिन्दी का ही शुद्ध स्वरूप था और वे उसकी दुहाई देते थे, लेकिन जब हिन्दी-उर्दू की आग लग गई और लोगों से बुझाये न बुझ पाई तो उन्होंने हिन्दुस्तानी का पानी लेकर उसे शान्त करना चाहा, लेकिन आग की लपटें दूर दूर तक फैल चुकी थीं। हिन्दी-उर्दू की आग जैसा कि कह चुके हैं एक राजनीतिक आग थी, उसको बुझाना उतना ही कठिन था जितना हिन्दू-मुस्लिम समस्या को। राजनीतिक क्षेत्र में इस साम्प्रदायिक आग के बुझ जाने से ही भाषाओं की यह आग शांत हो सकती थी।

इस प्रकार जब साहित्य में हिन्दी, उर्दू हिन्दुस्तानी के ये तीन वाद उपस्थित हो गये तो साहित्यिकों के साथ-साथ धीरे धीरे राजनीतिक नेतागण भी इस विवाद में सम्मिलित हुए। अतः हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के समर्थकों ने अपने अपने पक्ष में जो तर्क उपस्थित किये, अब उन पर भी संक्षेप से विचार कर लेना आवश्यक है।

हिन्दी के साहित्यिकों ने कहा—

(१) हिन्दी उत्तर और मध्य भारत की स्वाभाविक साहित्यिक भाषा है, और इसका जनता की कथित बोलियों तथा भाषाओं से

वही सम्बन्ध है, जो अपने-अपने क्षेत्र में बँगला, गुजराती और मराठी का है।

(२) संस्कृत हिन्दी का स्वाभाविक शब्द-स्रोत है और वह स्वदेशी है।

(३) हिन्दी अपने शब्दों में जनता की कथित भाषा के अत्यधिक निकट है। उसमें जन-भाषा की ही आत्मा वर्तमान है।

(४) उत्तरी भारत में ही नहीं सारे देश में साहित्यिक भाषा के रूप में हिन्दी के भाषा-भाषी संख्या में सबसे अधिक हैं।

(५) अन्य भारतीय साहित्यिक भाषाओं के अत्यन्त निकट हिन्दी ही है।

(६) जहाँ तक लिपि का प्रश्न है, देवनागरी भारत की प्राचीन, देशज, स्वदेशी लिपि है। सारे देश में देवनागरी लिपि के जानने वालों और प्रयोग करने वालों की संख्या सब से अधिक है। अन्य साहित्यिक भाषाओं की लिपियाँ देवनागरी का ही रूपान्तर हैं। देवनागरी को लिखना, पढ़ना और सीखना अन्य लिपियों की अपेक्षा सरल है। संसार में वैज्ञानिक लिपि की दृष्टि से देवनागरी ही सर्वप्रथम है। देवनागरी में जितनी शीघ्रता और सुन्दरता से छापा अथवा टाइप किया जा सकता है, उतना अन्य लिपि में नहीं।

यह देखकर उर्दू वालों ने कहा—

(१) उर्दू, संस्कृत और हिन्दी की तरह मध्य देसी भाषा है।

(२) उर्दू का साहित्य हिन्दी के साहित्य से बहुत पुराना है, ब्रज और अवधी के साहित्य से भी पुराना है।

(३) उर्दू हिन्दू-मुसलमानों के मेल-जोल से बनी है। उसके साहित्य के निर्माण में हिन्दुओं का बड़ा हिस्सा (भाग) है।

(४) पन्द्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी के अख़ीर (अन्त) तक उर्दू ही हिन्दू-मुसलमान शिष्टों की भाषा थी।

(५) आज भी उर्दू का हक है कि वह राष्ट्रभाषा यानी हिन्दुस्तान के सभी निवासियों की बिला सम्प्रदायी तफ्रीक के (बिना साम्प्रदायिक मतभेद के) आम भाषा मानी जाय।

और, फिर तो हिन्दुस्तानी वाले भी बोल उठे—

(१) हिंदी, उर्दू और हिन्दुस्तानी एक ही भाषा है।

(२) हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा का मक़सद (उद्देश्य) यह है कि ज्यादा से ज्यादा लोग हिन्दी और उर्दू-शैलियाँ और नागरी और उर्दू-लिपियाँ सीखें।

(३) हिन्दुस्तानी देहाती ज़बान है, जो एक समय में सबके द्वारा बोली जाती थी। आज हिन्दी और उर्दू एक दूसरे से दूर होती जा रही हैं। हिन्दी और उर्दू देहाती नहीं समझ सकते।

(४) हिन्दी और उर्दू फ़्यूज़ (उड़कर) होकर एक हो जायँ।

(५) हिन्दुस्तानी सबकी समझ में आने वाली भाषा है, जनता की भाषा है, उत्तरी भारत के नगरों में बोली जाने वाली भाषा है, यह ५० प्रतिशत हिन्दी और ५० प्रतिशत उर्दू है, हिन्दी-उर्दू की त्रिवेणी या हुगली हिन्दुस्तानी ही है। हिन्दुस्तानी हिन्दी-उर्दू का स्वीट या ऐक्सेप्टेबिल फ़्यूज़न, हिन्दी उर्दू के बीच की भाषा और सरल हिन्दी या सरल उर्दू है।

हिन्दी के पक्ष में हिन्दी-साहित्यकार, उर्दू के पक्ष में उर्दू वाले और हिन्दुस्तानी के पक्ष में बीच-बचाव करने वाले गाँधीजी, रामनरेश त्रिपाठी, पंडित सुन्दरलाल, सियारामशरण गुप्त तथा देश के अन्य नेतागण आगे आये। इन्हें देखकर हिन्दी राष्ट्रभाषा के नेता श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टंडन भी जो आरम्भ में हिन्दी के ही पक्ष में थे, अपने आसन से हिल गये। टंडन राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में समन्वयवाद की भावना लेकर आये। उन्होंने अपने पक्ष में दो तर्क रक्खे—

(१) संस्कृत और फ़ारसी आर्य-परिवार की भाषाएँ हैं, इसलिए समन्वय होना आवश्यक है।

(२) मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए ऐसा कर देना चाहिए।

उनके देखादेखी हिन्दी के कुछ अन्य विद्वान् भी कहने लगे कि राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी में संस्कृत और फ़ारसी का एक सुन्दर समन्वय हो सकता है और इस प्रकार हमारे देश में एक आदर्श राष्ट्रभाषा का निर्माण होगा। यदि विदेशी भाषाओं का आश्रय लेना ही है तो फ़ारसी का ले लेना चाहिए, क्योंकि फ़ारसी आर्य भाषा है।

इतना ही नहीं देश के विद्वान्, एक के बाद एक, राष्ट्रभाषा को लेकर अपने अपने प्रस्ताव पेश करते गये। कुछ लोगों ने कहा कि राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी की लिपि रोमन हो तो बहुत अच्छा और अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने जो तर्क दिये, वे इस प्रकार हैं:—

(१) रोमन-लिपि सरल और सुबोध है। इसके अक्षरों की आकृतियाँ सीधी-सादी हैं और यह बहुत जल्दी सीखी जा सकती है।

(२) रोमन-लिपि में शीघ्रता से लिखा जा सकता है।

(३) रोमन-लिपि से टाइप करने और छापने में बहुत सुविधा हो जायगी।

(४) रोमन-लिपि आधी दुनिया की लिपि है।

(५) रोमन-लिपि सब स्वीकार करेंगे और इसके द्वारा राष्ट्रभाषा-लिपि की समस्या आसानी के साथ सुलझ जायगी।

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में उपर्युक्त विविध तर्कों का विस्तार इस स्थल पर हमें अभिप्रेत नहीं। हमारा तो प्रयोजन यही है कि किन-किन तर्कों के आधार पर राष्ट्रभाषा की समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया और उन तर्कों को दृष्टि में रख कर हम राष्ट्र-भाषा का प्रश्न किस प्रकार हल कर सकते हैं।

जो लोग यह कहते हैं कि उर्दू, संस्कृत और हिन्दी की तरह एक मध्यदेसी भाषा है, वे सर्वथा भूल कर रहे हैं। उर्दू, संस्कृत और हिन्दी की तरह मध्यदेसी भाषा कदापि नहीं हो सकती, यह

उसके इतिहास से ही विदित है। उर्दू बोली का स्रोत है—दिल्ली का 'लालकिला'। मीर अम्मन देहलवी, मुंशी मीरअली अफ़सोस, सैयद इंशाअल्लाखाँ आदि मुसलमान कवियों की रचनाओं से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। बहुत से मुसलमान 'उर्दू' यानी 'उर्दू-ए-मुअल्ला' यानी 'लालकिला' की ज़बान को शाहजहाँ की चीज़ मानते हैं। कारण स्पष्ट है, उसी ने लालकिला बनवाया और नवाब सदरयार जंगबहादुर के विचार में 'ताशकंद और खूकन्द में अब उर्दू किला के माने (अर्थ) मुस्तामल है, इसीलिए दिल्ली का लालकिला उर्दू–ए–मुअल्ला कहलाया होगा।' इस आधार पर उसका इतिहास हिन्दी साहित्य से पुराना कहना सर्वथा निर्मूल है। आज यह बात सिद्ध हो चुकी है कि प्राचीन समय में भारत में ब्रजभाषा का ही प्रचार था जिसका कोष संस्कृत पर ही अवलंबित था। बाद में मुसलमानी राज्य के प्रभाव से उसमें अरबी और फ़ारसी के शब्दों की भर्त्ती होती गई, जिससे एक दिन उस भाषा का नाम 'रेख़ता' पड़ गया। धीरे-धीरे लोगों ने उसे अपनाना शुरू किया और उसे विशिष्ट साँचे में ढाला, जिस से उसका नाम उर्दू हो गया। अतः उर्दू को हिन्दू-मुसलमानों की उपज बतलाना भी सर्वथा अनुचित है और यह कहना कि उसके साहित्य के निर्माण में हिन्दुओं का बड़ा हिस्सा है—सचमुच एक हास्यास्पद बात है। इसी प्रकार पन्द्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक उर्दू हिन्दू-मुसलमानों की शिष्ट-भाषा कभी नहीं रही। उस समय साहित्य में एकमात्र ब्रजभाषा का ही बोलबाला था। उर्दू वालों की ओर से जो तर्क रक्खे गये थे, वे बिल्कुल हिन्दी-साहित्यकारों के तर्कों का बिना सोचे-समझे खंडन करने वाले थे। उनमें कोई वज़न नहीं। मुसलमानों की यह अनुकरण-प्रवृत्ति साहित्य में ही नहीं राजनीति में भी देखी जा सकती है। उन्हें केवल व्यर्थ का दंगा-फ़िसाद पसन्द है और किसी शुभ काम में अड़चन डालना ही मानो जीवन का ध्येय। अँग्रेज़ी शासन-काल में दौड़-धूप करने के अनन्तर

उन्होंने उर्दू को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए कोई कसर उठा नहीं रखी, पर अन्तत: विजय सदैव सत्य की ही होती है, झूठ की नहीं और इसलिए उनका स्वप्न कभी भी पूरा नहीं हो सका। उनके इन प्रयत्नों का परिणाम केवल यही हुआ कि हिन्दी की प्रगति उतनी नहीं होने पाई जितनी होनी चाहिए थी। रेडियो, चल-चित्रों तथा सामाजिक संस्थाओं में उनके जो अड्डे थे, उनके द्वारा हिन्दी की मट्टीपलीद करने का जितना यत्न किया गया, वह हमसे छिपा हुआ नहीं। इतना होने पर भी हिंन्दी-साहित्यकार अपने दृढ़ संकल्प से किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए और 'साँच को आँच नहीं' वाली कहावत को सामने रख कर अपने साहित्यिक अधिकारों के लिए लड़ते गये।

उर्दू की तरह, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हिन्दुस्तानी के तर्क भी सर्वथा सारहीन हैं, उनमें कोई तथ्य नहीं। रामनरेश त्रिपाठी का यह कहना कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी एक ही भाषा है, सर्वथा भ्रमपूर्ण है। यदि वस्तुतः बात ऐसी ही है तो उन्हें अपने हिन्दुस्तानी के कोष बनाने की आवश्यकता ही क्योंकर हुई? उनका कथन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कुछ महत्त्व भले ही रखता हो, पर उसका क्रियात्मक मूल्य कुछ भी नहीं है। हिन्दुस्तानी भाषा हिन्दी में अन्य भाषाओं के शब्दों को बढ़ाती रहती है। आज ऐसे कितने ही शब्द हैं; जिनका प्रयोग इसी रूप में हो रहा है। हिन्दी के परिष्कार और परिमार्जन के लिए विदेशी अनावश्यक शब्दों को, जिनके बिना भी काम चलाया जा सकता है, सर्वथा अनुचित है। साउदे के शब्दों में हम इसे हिन्दी पर उर्दू का 'भीषण द्रोह' कह सकते हैं। वे लिखते हैं—Ours is a noble language, a beautiful language. I can tolerate a Germanism for family sake; but he who uses a Latin or a French phrase where a pure old English word does as well, ought to be hung, drawn and quartered for high

treason against his mother-tongue'—(Southey in Essay on Style) अर्थात् साउदे ने शैली-विषयक निबन्ध के अन्तर्गत लिखा है कि 'हमारी भाषा एक सुन्दर और श्रेष्ठ भाषा है। मैं परिवार के नाते जर्मन शब्द या मुहावरे को तरजीह दे सकता हूँ, परन्तु जो व्यक्ति एक ऐसे स्थान पर, जहाँ एक पुराने विशुद्ध अँग्रेज़ी शब्द से भलीभाँति काम चल सकता है, लैटिन या फ्रेंच शब्द का प्रयोग करता है, उसे मातृभाषा के प्रति भीषण द्रोह के अभियोग में फाँसी पर लटका देना चाहिए और उसकी खाल खिंचवानी चाहिए।' इसे लिख देने पर तो मानो हिन्दुस्तानी के पक्ष वालों का सारा खेल ही अन्त हो जाता है।

हिन्दुस्तानी-आन्दोलन के पीछे राजनीतिक कारण (उदाहरणार्थ हिंदू-मुस्लिम एकता) होने से गाँधीजी को भी भ्रम में पड़ना पड़ा। वर्धा में हिन्दुस्तानी-प्रचार-सम्मेलन के समय जो तर्क उन्होंने उपस्थित किये, वे बड़े ही मज़ेदार थे। उनका यह कहना कि 'लोग अधिक से अधिक संख्या में हिन्दी और उर्दू-शैलियाँ; नागरी और उर्दू-लिपियाँ सीखें' साम्प्रदायिक भेद-भाव को मिटाने के स्थान पर उसे और उत्तेजित करता है। राष्ट्रभाषा तथा लिपि एक ही होती है, फिर दो को प्रोत्साहन देकर क्या वे अपने ध्येय की पूर्ति कर सकते हैं ? हमने माना कि प्राचीन समय में केवल एक ही भाषा थी, लेकिन जैसी वह भाषा पहले थी, वैसी अब भी है, अन्यत्र कहीं दौड़कर तो नहीं चली गई ! देहाती लोग जैसा कि उनका कथन रहा है हिन्दी और उर्दू को नहीं समझ सकते। हमारा तो केवल यही निवेदन है कि साधारण बोलचाल में वे सब समझते हैं, गम्भीर शब्दों को समझने के लिए तो अध्ययन की आवश्यकता होती है। उनकी शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध होने पर वे आप ही आप समझने लग जायँगे। इस तरह तो क्या यह नहीं कहा जा सकता कि वे हिन्दुस्तानी को भी नहीं समझ सकते हैं। हमारी धारणा तो यह है कि देहाती

शब्दों का झुकाव सदैव हिन्दी की ओर ही रहा है, इसलिए हिन्दी-शब्दों को समझने में जितनी सुविधा उनको हो सकती है, उतनी किसी अन्य भाषा में नहीं। गाँधीजी की भोली बातों को पढ़कर हम संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि चाहे किसी दृष्टि से जाँच की जाय हिन्दी ही हमारे यहाँ की साहित्यिक भाषा है, यथार्थ में साहित्यिक हिन्दुस्तानी स्वयं हिन्दी की ही उपज है। इसलिए हिन्दी की इस उपज को सींचने के स्थान पर यदि हिन्दी का ही सिंचन किया जाय तो वह विशेष लाभदायक होगा। क्योंकि एक बनी-बनाई है, दूसरी को अभी बनाना है और इस बनाने में हम व्यर्थ के झंझटों को क्यों मोल लें?

गाँधीजी के बाद मौलाना आज़ाद, डा. राजेंद्रप्रसाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू, श्री आसफ़अली, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि नेताओं ने भी हिन्दुस्तानी के स्वर में स्वर मिलाया। नायडू ने कहा 'While maintaining the integrity of Hindi and Urdu, Hindustani should be evolved as common language' और इसी प्रकार राजेंद्रबाबू ने कहा—'हिन्दुस्तानी से तात्पर्य ऐसी भाषा से है, जिसे सब भारतीय आसानी से लिख और समझ सकें, उससे हिन्दी या उर्दू को क्या हानि पहुँच सकती है?' उनके अनुसार जैसा कि गांधीजी का भी कथन रहा है हिन्दुस्तानी बन जाने पर भी हिन्दी और उर्दू का अस्तित्व रहेगा। लेकिन ज़रा सोचने की बात है कि इस हिन्दुस्तानी का साहित्य किस प्रकार बन सकेगा? बिना इसका आदर्श स्थिर किये हिन्दुस्तानी का बेसुरा गीत अलापना हमारे बने-बनाये साहित्य को मटियामेट करना है। साथ ही दूसरी आपत्ति यह भी होगी—जब हिन्दुस्तानी को ही आगे लाना है, तो फिर हिन्दी और उर्दू की इसके पीछे दुम लगाना ठीक नहीं। इनका फ़्यूज़न क्या उसके साथ रहने से हो जायगा? जिस हिन्दुस्तानी को लेकर कॉंग्रेस के नेतागण राष्ट्रभाषा

का प्रश्न हल करने लगे, यदि हिन्दुस्तानी से उनका तात्पर्य वही है जिसका प्रयोग हम सार्वजनिक सभाओं और काँग्रेस के अधिवेशनों में सुनते आये हैं, तो हमें निडर होकर कहना पड़ेगा कि ऐसी हिन्दुस्तानी के नाम-मात्र से हमें घृणा है। यह हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू का ढिंढोरा पीटना है, चाहे अपनी बात को कायम रखने के लिए उसकी एक से एक बढ़िया परिभाषा दी जाय। हमारी समझ में तो काँग्रेस के मंच से हिन्दुस्तानी की कोई निश्चित सीमा है ही नहीं और जब तक इसका शुद्ध स्वरूप हमारे सामने नहीं रक्खा जाता, तब तक इस पर विचार करना ही निरर्थक प्रतीत होता है।

सियारामशरण गुप्त ने गाँधी जी के उद्देश्यों का ही समर्थन किया और उन्होंने भी इसी बात पर बिना गहन विचार किये बल दिया कि हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने पर हिन्दी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँच सकती। और आगे यह कहकर कि 'देश के दुर्भाग्य से इधर स्थिति ऐसी हो गई है कि मुसलमान बंधुओं को हिंदी में सांप्रदायिकता की गन्ध आती है। इसीसे काँग्रेस ने पहले से ही हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया है'...उन्होंने काँग्रेस के इस रहस्य का उद्घाटन कर दिया, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। वास्तव में बात भी यही है। गाँधी जी दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा में हिन्दी के ही समर्थक थे, लेकिन वे किसी भी तरह इस समस्या को शांतिपूर्वक हल करना चाहते थे, चाहे इसमें उनका और अन्य हिन्दुओं का भले ही नुकसान हो जाय। गुप्त जी गाँधी जी के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर धीरे-धीरे हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी को एक भाषा मानने लग गये। उन्होंने इधर-उधर फटे कपड़ों में पैबन्द लगाना ही सीखा, स्वतन्त्र रूप से एक नया वस्त्र तैयार करना नहीं। इसलिए उन्होंने कहा—'अभी तक गाँधीजी जैसी हिन्दी लिखते या बोलते रहे हैं, उसे यदि हमने भाषा-सम्बन्धी कुछ त्रुटियों के रहते हुए भी, हिन्दी माना है, तो हमें इस भाषा

को भी हिन्दी मानने में आपत्ति न करनी चाहिए, भले ही वह इसे हिन्दुस्तानी कहें। हिन्दी के ब्रज, अवधी आदि रूपों को हमने सदैव हिन्दी ही माना है और मेरा यह विश्वास रहा है कि इस सूची में आधुनिक बँगला, मराठी और गुजराती आदि भी किसी अंश तक ली जा सकती हैं।' स्पष्ट है कि गुप्तजी की दृष्टि में सब कुछ हिन्दी ही है, चाहे भाषा उसकी कैसी ही क्यों न हो।

इधर श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टंडन, जो वर्षों से हिन्दी भाषा-भाषियों का नेतृत्व कर रहे थे हिन्दुस्तानी के बहकावे में आ गये और उन्हें अपना पहले का विचार छोड़ देना पड़ा। समय और परिस्थितियों को देखकर उन्होंने हिन्दी और उर्दू को मिलाने की चेष्टा की और समन्वयवाद का सिद्धान्त हमारे सम्मुख उपस्थित किया। उन्होंने कहा कि संस्कृत और फ़ारसी आर्य-परिवार की भाषाएँ हैं, इसलिए समन्वय हो जाना चाहिए। हम कहते हैं कि यदि ऐसा ही है तो फिर अन्य आर्य-भाषाओं को क्यों पीछे छोड़ना चाहिए। क्यों नहीं अँग्रेजी, जर्मन, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं से भी शब्द लेकर एक बढ़िया अजायबघर बना लिया जाता ? यह तो स्पष्टतया एक साम्प्रदायिक झगड़े का जैसे-तैसे कुम्हार के घड़े की तरह ठोंक-पीट कर ठीक-ठाक करना है। फिर मुसलमानों को ही क्यों प्रसन्न किया जाय ? क्या यह सम्भव नहीं कि उनको प्रसन्न कर देने पर अन्य भाषा-भाषी अप्रसन्न हो जाएँगे और वे अपनी-अपनी भाषाओं के शब्दों को अपनवाने के लिए लड़ाई-झगड़ा करेंगे। टंडनजी का यह समन्वयवाद हमें तो द्रौपदी के चीर की भाँति नज़र आता है जो समस्या को सुलझाने के बजाय उलझाता रहा है।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न एक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य है। इस सम्बन्ध में उन्हें ध्यान में रखना चाहिए कि एक फ़ारसी ही आर्यभाषा नहीं—अँग्रेज़ी, ग्रीक, लेटिन, जर्मन आदि भी इसी श्रेणी में हैं। यह सच है कि फ़ारसी का संस्कृत से विशेष सामीप्य है, लेकिन आज

की फ़ारसी का रूप ही परिवर्तित हो गया है। पुराने समय में बात और थी। आज तो फ़ारसी का स्थान अँग्रेज़ी ने ले लिया है। अँग्रेज़ों के यहाँ रहते न मालूम कितने अँग्रेज़ी शब्द हमारी भाषा में घुल-मिल गये हैं। विज्ञान, साहित्य और कला की दृष्टि से भी आज अँग्रेज़ी हमारे यहाँ अपना घर कर चुकी है, लोग फ़ारसी को सर्वथा भूल बैठे हैं। फ़ारसी का सामीप्य संस्कृत से भले ही हो, हिन्दी से नहीं है, हिन्दी का निकटतम सम्बन्ध तो पंजाबी, गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं से है। क्या समन्वय-भावना को दृष्टि में रख कर इन भाषाओं को स्थान देना उचित होगा? फिर यह समन्वय किन किन सिद्धान्तों के आधार पर होगा? जब तक उन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण नहीं हो जाता, तब तक हम विषय की तह में जाने के असमर्थ हैं। केवल शब्दों के समन्वय से ही समझौता नहीं हो सकता। जब तक हिंदी के विकास की ओर दृष्टि नहीं जायगी तब तक समस्या का हल होना कठिन है।

लिपि का प्रश्न अद्भुत-सा है। जब मुसलमानों ने उर्दू-लिपि के सम्बन्ध में अपना पक्ष निर्बल होते देखा तो उन्होंने 'भागते हुए भूत की लँगोटी ही भली' वाली कहावत का परिचय दिया। उन्होंने रोमन-लिपि का नारा लगाया और तर्क उपस्थित करते हुए कहा कि इसके द्वारा समस्त आपत्तियाँ दूर हो जायँगी। इधर जब पंडित सुन्दरलाल जी जैसे उन्हें समर्थक मिल गये फिर तो मुसलमानों का साहस और बढ़ गया। अन्य विद्वानों ने दोनों लिपियों के प्रयोग की चर्चा की। यहाँ हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि राष्ट्रभाषा की लिपि केवल एक ही हो सकती है, दो नहीं।

सीखने, लिखने, टाइप करने तथा छापने की दृष्टि से यद्यपि रोमन-लिपि का पलड़ा देवनागरी-लिपि से कुछ भारी ही दिखाई देता है, लेकिन शेष सभी बातों में नागरी-लिपि ही आगे बढ़ती हुई दृष्टिगत होती है। समस्त भारतीय ध्वनियों को यदि हम रोमन-लिपि में लिखने

का प्रयास करें तो असफल रहेंगे । इस दृष्टि से हमारे यहाँ देवनागरी ही सफल लिपि है । देवनागरी में जैसा लिखा जाता है, वैसा पढ़ा भी जाता है । रोमन-लिपि में यह विशेषता नहीं है ? इसीलिए संसार के प्रायः सभी विद्वानों ने हमारी लिपि की भूरि भूरि प्रशंसा की है । देवनागरी रोमन-लिपि से अधिक वैज्ञानिक (Scientific) भी है । देवनागरी में लिपि का एक बार अभ्यास हो जाने पर विद्यार्थी को लिखने-पढ़ने में कोई असुविधा हो ही नहीं सकती और न अशुद्धियाँ ही आ सकती हैं । एक ध्वनि के लिए जहाँ रोमन-लिपि दस अक्षर लिखती है, वहाँ देवनागरी केवल तीन अक्षरों से ही काम चला लेती है । संक्षेप में देवनागरी और रोमन-लिपि की तुलनात्मक जाँच करते समय हमें रोमन-लिपि के पक्ष में एक बात ही अधिक सुन्दर दिखाई देती है। हमारी धारणा है—यदि उसके लिए टाइप-राइटर, छापाखाना, टाइप और छापने के काम में थोड़ी सी बुद्धिमानी से काम लिया जाय तो देवनागरी उस बात में भी रोमन-लिपि को पीछे छोड़ सकती है । इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ भी आजकल संकेत-लिपि (Short-hand) बन चुकी है ।

देवनागरी के स्थान पर रोमन-लिपि को लाकर बिठा देना कोई गुड़िया का खेल नहीं । रोमन-लिपि विदेशी है, देवनागरी स्वदेशी । देवनागरी हजारों वर्षों से भारत की लिपि रही है, इससे हमारा इतना अटूट सम्बन्ध हो गया है कि इसके मुकाबले में कोई अन्य लिपि हमें जचती ही नहीं । जहाँ देश-विशेष की वर्तमान लिपि में कुछ संशोधन लोगों को खटकने लगता है वहाँ भला एक लिपि के स्थान पर दूसरी लिपि लाद देने का क्या परिणाम होगा, इसका हम सहज ही में अनुमान लगा सकते हैं । यदि लिपि में संशोधन हो सकता है और उसे बदला जा सकता है तो पश्चिम में क्या विश्व-विख्यात विद्वान् बर्नर्डशा ने कम प्रयत्न किये थे ? हर्ष का विषय है कि लिपि के सम्बन्ध में हमारे राजनीतिक नेताओं ने अपना एक निश्चित मत ही

रखा, वे इससे विचलित नहीं हुए और न हमारे साहित्यकार ही। इसलिए केवल दो-तीन व्यक्तियों का विरोध नक्कारखाने में तूती की आवाज़ के बराबर रहा।

इस प्रकार राष्ट्रभाषा की समस्या उत्तरोत्तर अपना जटिल रूप धारण करती गई, पर उसका कोई हल नहीं निकल सका। हल तो स्पष्ट ही था, लेकिन कहना यों चाहिए कि अँग्रेज़ों तथा मुसलमानों ने हिंदी को दबाये रखा। अन्यथा इस सम्बन्ध में काफ़ी छानबीन कर विद्वानों ने हिन्दी और देवनागरी-लिपि के लिए अपना निर्णय दे दिया था। समस्या के प्रत्येक पहलू पर विचार करने के बाद भाषा-शास्त्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपनी 'लैंगुएज ऐंड दि लिंगुइस्टिक प्रॉबलेम' में यह निष्कर्ष सब के सामने रक्खा था—'The proposed polution for the main linguistic problem of India is, therefore, this : the national language of India should be a simplified Hindi or Hindustani written in a modified Roman alphabet arranged like the Nagri alphabet, retaining all naturalised persian and arabic words and admitting fresh vocables from those sources in specific Islamic contexts, but with a frank affiliation to Sanskrit for necessary words which cannot be created out of native Hindi elements or conveniently borrowed from English' (Languages and the Linguistic Problem by Dr. S. K. Chatterji, Page 31) अर्थात् भारत की भाषा सम्बन्धी प्रधान समस्या का प्रस्तावित हल इस प्रकार है—भारत की राष्ट्रभाषा सरल की हुई हिन्दी या हिन्दुस्तानी होनी चाहिए, जो नागरी-लिपि की तरह तरतीब दी हुई रोमन-लिपि में लिखी जाय, जिसमें अरबी-फ़ारसी के सब घुले-मिले शब्दों को स्थान दिया जाय, जिसका

दरवाज़ा इस्लाम से संबंधित विशिष्ट प्रकरणों में अरबी-फ़ारसी के नवीन शब्दों के लिए खुला रहे, लेकिन जो ऐसे सभी आवश्यक शब्दों के लिए, जो हिन्दी के देशज धातुओं से नहीं बनाये जा सकते या जो अँग्रेज़ी से आसानी के साथ उधार नहीं लिये जा सकते, स्पष्ट रूप से संस्कृत पर आश्रित हों।' यहाँ चटर्जी हिन्दी के सरल रूप की ओर अधिक ध्यान देते हैं। लिपि के सम्बन्ध में उन्होंने एक स्थान पर अपना स्पष्ट निर्णय दे दिया है—'But sentiment against a fresh, foreign alphabet may be too strong at least for some time. Failing, the Roman script, the next best solution for a pan Indian Hindustani would be the Nagri as the most widely used script of India' अर्थात संभव है, एक नवीन, विदेशी लिपि के विरुद्ध भावना इतनी तीव्र हो कि उसका अपनाना—कम से कम कुछ समय के लिए तो अवश्य ही कठिन हो जाय। रोमन-लिपि अस्वीकृत होने पर राष्ट्र-लिपि की समस्या का सबसे उत्तम हल भारत की सबसे अधिक प्रचलित लिपि देवनागरी होगा।' एक दो साधारण बातों के अतिरिक्त चटर्जी द्वारा प्रस्तावित हिन्दी और आधुनिक हिन्दी में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने भी थोड़े बहुत संशोधन रक्खे। यही नहीं, हिन्दी के विद्वानों ने भी, जिनमें चन्द्रबली पांडेय, रविशंकर शुक्ल आदि के नाम सगर्व लिये जा सकते हैं हिन्दुस्तानी में ही कुछ फेर-फार कर अपने प्रस्ताव रखे, लेकिन वे कभी स्वीकार नहीं किये गये। नित नई कठिनाइयाँ ही सामने आती गईं। ऐसी अवस्था में हिन्दी-भाषा-भाषियों को चुप ही रहना पड़ा। वे प्रयत्न करते गये, लेकिन सदैव निष्फल ही रहे। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि वे लगन के साथ हिन्दी राष्ट्रभाषा और देवनागरी-लिपि के लिए आन्दोलन करते ही गये। उनकी यह लगन चातक के स्वाति नक्षत्र की बूँद से किसी प्रकार कम नहीं कही जा सकती। वे एक,

केवल एक ही नारा, लगाते गये—'हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है और लिपि देवनागरी ।'

इस प्रकार हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का प्रश्न साहित्य से निकल कर राजनीति का प्रश्न बन गया। साम्प्रदायिक समस्या के सुलझ जाने से ही इसका हल सम्भव था अन्य किसी उपाय से नहीं। और तब तक के लिए हिन्दी भाषा-भाषियों को चुपचाप ही बैठना पड़ा। इसी बात को लेकर पंडित रविशंकर शुक्ल ने लिखा—'भारत की आदर्श राष्ट्रभाषा भी कृत्रिम उपायों से, हिन्दी-उर्दू को मिलाने से, या संस्कृत और फ़ारसी को मिलाने से नहीं, वरन् हिन्दी को स्वाभाविक विकास करने का अवसर देने से बनेगी। हम राष्ट्रवादियों को सचेत किये देते हैं कि यदि उन्होंने राष्ट्रभाषा को सांप्रदायिकता या झूठे समन्वयवाद का अखाड़ा बनाया, तो राष्ट्रभाषा बनना तो दूर, स्वतन्त्रता के रास्ते में एक और बाधा खड़ी हो जायगी। या तो वे सच्ची और सीधी बात कहने और करने का साहस करें, या राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को बिल्कुल छोड़ दें। समय अपने आप हिंदी को राष्ट्र-भाषा बना देगा। यह स्वप्न देखना बिलकुल बेकार है कि जो हिन्दी सदियों तक कुचली जाने पर और उर्दू के अखंड साम्राज्य होने पर भी जीवित रही, और जिसने अपनी आत्मा को आज तक कलुषित नहीं होने दिया, वह कल या अगले दस-बीस वर्षों में उर्दू से, जो पुष्ट हो चुकी है और जो हैदराबाद, पंजाब आदि विशाल क्षेत्रों में निष्कंटक राज्य कर रही है और करती रहेगी, मिलकर एक हो जायगी।

अब भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया है। १५ अगस्त, सन् १९४७ ई० के दिन, जो हमारे इतिहास में गौरव का दिन है और जिसके साथ-साथ उस साम्प्रदायिकता का भी जनाज़ा निकल गया, जो हमारी राष्ट्रभाषा के मार्ग में काँटे बिछाये हुए था, भारत तथा पाकिस्तान बन जाने के बाद अँग्रेजों ने भी बिदा ले ली और मुसलमानों को

भी अपना मुँह-माँगा पाकिस्तान मिल गया। अब भारत में ऐसा कोई विरोधी तत्त्व नहीं रह गया जो हमारे इस मार्ग में रोड़ा अटकाये। यद्यपि अब भी उनके कीटाणु देश में शेष हैं किन्तु उनकी हिम्मत नहीं कि वे इस विषय में हस्तक्षेप करें। आज वर्षों की तपस्या, लगन और परिश्रम के बाद हमारा स्वप्न साकार हुआ है। पंडित रविशंकर शुक्ल के पूर्व-कथित वाक्य तो आज अक्षरशः सत्य हुए जा रहे हैं। आज उर्दू के सब से बड़े केन्द्र और हिन्दी राष्ट्रभाषा के विरोधी हैदराबाद राज्य में जहाँ किसी समय हिन्दी का सन्देश पहुँचाना भी कठिन था, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन दिसम्बर सन् १९४९ में हुआ है और उसके अध्यक्ष भी वही हुए जिन्होंने एक दिन इसके लिए भविष्यवाणी भी की थी। वे ही पंडित रविशंकर शुक्ल।

हाँ, तो जब भारत स्वतन्त्र हो गया और हमारे यहाँ जनतंत्रवाद की स्थापना हो गई तो राष्ट्रभाषा का महत्त्वपूर्ण प्रश्न एक बार फिर नई सरकार के सामने मुँह खोलकर आया। इस नई सरकार में हमारे वे ही नेता हैं, जिन्होंने किसी समय हिन्दुस्तानी के पक्ष में आन्दोलन किया था और गाँधी जी के स्वर में स्वर मिलाया था। उन्हीं के रहते हुए आज राष्ट्रभाषा का प्रश्न बहुत कुछ सुलझ गया है। यह हमारे लिए क्या कम हर्ष की बात है? राष्ट्रभाषा का यह निर्णय भी हिन्दी-विद्यार्थी के लिए उतना ही रोचक है, जितना उसका प्रारम्भिक इतिहास। १४ सितम्बर, सन् १९४९ ई० के दिन भारतीय-विधान-सभा ने ३ दिन व २८ घंटे के वाद-विवाद के पश्चात् राष्ट्रभाषा सम्बन्धी सबसे अधिक पेचीदा प्रश्न हल कर दिया। राजभाषा, राज-लिपि और अँग्रेजी के भाग्य का अन्तिम निर्णय हो ही गया। निस्सन्देह इसके लिए भी हिन्दी विद्वानों को अथक परिश्रम करना पड़ा। सबको हिन्दी का इतिहास खोलकर बताना पड़ा और यह सिद्ध कर देना पड़ा कि हिन्दी ही यहाँ की भाषा है और देवनागरी ही राष्ट्रलिपि।

काँग्रेस के अधिकांश सदस्य युक्ति के आधार पर हिन्दी को राजभाषा मानने के लिए तैयार हो गये । लेकिन देवनागरी और फ़ारसी लिपि के अंकों के प्रश्न पर तीव्र मतभेद हो गया। युक्तप्रांतीय धारा-सभा के स्पीकर श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने जो एक शक्तिशाली दल का नेतृत्व कर रहे थे देवनागरी अंकों के पक्ष में प्रस्ताव पेश किया । अन्य सदस्य फ़ारसी लिपि के पक्ष में बोले। इनमें से अधिकांश मंत्रिमण्डल और अन्य सरकारी क्षेत्रों से सम्बद्ध थे। लीगी सदस्य—मुसलमानों के ध्वंसावशेष—नागरी व फ़ारसी लिपि में हिन्दुस्तानी की माँग करने लगे, और अपना मत अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के लिए देने लगे। अंकों के प्रश्न पर दक्षिण से आये कुछ अन्य सदस्यों ने भी आपत्ति उठाई और कहा कि दक्षिण पर हिन्दी को लाद कर भाषा का साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। हिन्दी वालों का केवल एक ब्रह्म बोल ही रहा और वह यह कि हिन्दी को राजभाषा स्वीकार कर लेने पर नागरी-लिपि के अंकों का अधिकार युक्तिसंगत हो जाता है। राजभाषा और राजलिपि की धाराओं पर तीन-सौ संशोधन विधान-सभा के सम्मुख आये। मैसूर के सदस्य श्री नागप्पा ने संशोधन पेश करते हुए कहा कि अँग्रेज़ी को अग्रिम ५० वर्षों के लिए राजभाषा रखा जाय और उसके बाद रोमन-लिपिमय हिन्दी राजभाषा का स्थान ग्रहण करे। इसके विरुद्ध पश्चिमी बंगाल के सदस्य श्री लक्ष्मीकांत ने कहा कि संस्कृत को राजभाषा बना दिया जाय, जिससे सारी कठिनाइयाँ ही दूर हो जायँ।

इसके बाद विधान-सभा में भाषा पर बहस प्रारम्भ हुई। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने जो विधान-सभा के अध्यक्ष थे एक भाषण दिया। वे भाषा के प्रश्न की जटिलता से बहुत पहले से परिचित थे। उन्होंने कहा—'विधान का कोई भी अंश देश के किसी भी भाग में यदि बहुमत द्वारा अंगीकार नहीं किया गया तो उसका वहाँ लागू किया जाना कठिन हो जायगा...भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाय वह एक दम

संयत और तर्कसंगत हो। उसमें भावावेश की गुंजायश नहीं होनी चाहिए'···उनके बाद मुंशी–आयंगर-प्रस्ताव को प्रस्तुत करते हुए श्री गोपालस्वामी आयंगर ने कहा कि—'यह समस्या देश के सामने बहुत समय से है और इसके बारे में लोगों के विचार एक से नहीं रहे हैं, किन्तु फिर भी यह लगभग सर्वसम्मत निर्णय रहा ही है कि हमें हिन्द-संघ के सरकारी काम को चलाने के लिए किसी भारतीय भाषा को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना पड़ेगा और इस संबंध में 'देवनागरी लिपि सहित हिन्दी यह पद प्राप्त करे'—अन्तिम ध्येय रहा है। अंकों के सम्बन्ध में उन्होंने भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप ही स्वीकार करने को कहा। अँग्रेजी के सम्बन्ध में उन्होंने यही कहा कि हिन्दी-संघ के समस्त सरकारी कार्यों के लिए १५ वर्ष तक अँग्रेजी का प्रयोग जारी रहे। इस अंतरिम काल (Interim period) में प्रधान को यह अधिकार होगा कि वह अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के अतिरिक्त संघ के किसी भी सरकारी काम के लिए देवनागरी अंकों के प्रयोग की आज्ञा दे सकता है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष सेठ गोविंददास ने देवनागरी अंकों का ही समर्थन किया और कहा कि देवनागरी लिपि को स्वीकार कर लेने का अर्थ देवनागरी अंकों का स्वीकार करना है, इसलिए अंकों का तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। साथ ही आपने यह प्रसन्नता भी प्रकट की कि भाषा की समस्या ६५ प्रतिशत हल हो चुकी है। इनके बाद श्री नाज़िरुद्दीन अहमद ने कहा कि सभा को जनता का शासनादेश प्राप्त किये बिना राजभाषा के प्रश्न पर विचार करने का अधिकार नहीं। उन्होंने बंगाली और संस्कृत को राजभाषा के रूप में स्वीकार करने के लिए आग्रह किया। इसी प्रकार श्री एस० पी० कृष्णमूर्ति ने भी सुझाव दिया कि भाषा के प्रश्न को भावी पार्लिमेण्ट के ऊपर छोड़ देना चाहिए। मौ० हफीज़ुर्रहमान इस गरमागरम बहस को सुनकर दंग रह गये। उन्होंने दुख प्रकट किया कि अधिकांश सदस्यों ने देवनागरी लिपि

में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है। और यह निर्णय गाँधीजी के विचारों तथा काँग्रेस के तीन साल पुराने विचार के सर्वथा विरुद्ध है।...

१५ दिसम्बर, सन् १६४६ ई० को मुंशी-आयंगर-प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। इसके अनुसार जिन प्रांतों या रियासती संघों ने बिलों, कानूनों और विशेषाज्ञाओं आदि के लिए यदि किसी अन्य भाषा को स्वीकार कर लिया है, तो वहाँ न्यायालयों के निर्णय और आज्ञाओं के अतिरिक्त शेष कार्यों के लिए राष्ट्र-पति की अनुमति से उस भाषा को सरकारी मान्यता, मिल सकेगी और पन्द्रह वर्ष के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के साथ-साथ प्रचलित देवनागरी अंकों को भी केंद्रीय-धारा-सभा द्वारा निर्दिष्ट कार्यों के लिए उपयोग में लाया जा सकेगा। आज यदि हमारे बीच बापू जी होते तो पन्द्रह वर्ष तक अँग्रेज़ी राज-भाषा के रूप में हिन्दी के साथ-साथ यहाँ कदापि नहीं रह सकती थी। आज हिन्दी के राष्ट्रभाषा स्वीकार हो जाने पर इसीलिए हमें कोई आन्तरिक प्रसन्नता नहीं हो सकती। स्पष्ट है कि हैज़ा साफ़ हो गया, पर उसके कुछ कीटाणु अभी तक शेष हैं। अँग्रेज़ी शासकों ने हमारे बौद्धिकवर्ग को अभी तक बौद्धिक दासता के पाश में आबद्ध कर रखा है। उन्होंने भारत के मानस का चेतना-स्रोत बदल दिया और आज तक हमारी साहित्यिक, सांस्कृतिक और प्रेरणात्मक सम्मान-भावना अँग्रेज़ विजेता की दास है। यह एक प्रकार से हिन्दी की विजय नहीं, प्रत्युत पराजय है। जीत तो उसकी है जो यहाँ से दूर रहकर भी हमारे में है। अँग्रेज़ चला गया, अभी तक अँग्रेज़ी नहीं गई। हाँ, हम अपनी इस विजय में पाकिस्तान को अवश्य पराजित कर चुके हैं, क्योंकि अब यहाँ उर्दू का अखाड़ा जमने का नहीं।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने के बाद हमें चुपचाप नहीं बैठ जाना होगा। इसके साथ-साथ हमारा उत्तरदायित्त्व भी बढ़ गया है। यह सच है कि अभी उन शब्दों को, जो मुसलमान अँग्रेज़ों आदि के सम्पर्क

से हमारे साहित्य में घुलमिल गये हैं, हटाया नहीं जा सकता और न वे हटाये हट सकते हैं, लेकिन थोड़े वर्षों के बाद हमारे परिश्रम से ऐसी स्थिति अवश्य आ सकती है जब कि हम उन शब्दों को अपने साहित्य और भाषा की अक्षय सम्पत्ति बना सकेंगे। हमें सब से पहला काम यही करना होगा। यह साहित्य का काम है, इसमें शीघ्रता करना ठीक नहीं। जरा शांति और धैर्य से काम लेना उचित होगा। कहीं ऐसा न हो कि हमारी भाषा का स्वरूप दुरूह हो जाय और वह किसी की समझ ही में न आये। हमें हर अवस्था में सोच-समझ कर आगे बढ़ना है, हिन्दी को उन्नत और समृद्ध बनाना है। अँग्रेज़ी भाषा-भाषी कहते हैं कि हमारी भाषा बड़ी समृद्ध और धनी है। हिन्दी को अब अवसर प्राप्त हुआ है। आओ राष्ट्रभाषा के सर्वांगीण विकास के लिए आगे बढ़ें।

१४

उपसंहार

हिन्दी-गद्य के विकास में हमने देखा कि साहित्य में वैदिक संस्कृत के बाद लौकिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत के बाद प्राकृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश और अपभ्रंश के बाद देशी भाषाओं में गद्य लिखा जाता रहा। देशी भाषाओं में सर्वप्रथम राजस्थानी का प्राधान्य रहा, फिर उसका स्थान व्रजभाषा ने ले लिया। राजस्थानी उसके साथ-साथ चलती रही। मुसलमान-साम्राज्य की स्थापना होने तक यही अवस्था बनी रही। फिर दिल्ली राजधानी बन जाने के अनंतर राजकीय व्यवस्था की सुविधा के लिए इसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया गया। मुसलमानों में अरब, फ़ारस तथा तुर्किस्तान के लोग भी थे, इसलिए पारस्परिक आदान-प्रदान के परिणाम-स्वरूप उर्दू की उत्पत्ति हुई। अनेक वर्षों तक हिन्दी-उर्दू में मल्ल-युद्ध चलता रहा। दोनों भाषाएँ साथ-साथ चलती रहीं। हिन्दी-उर्दू की सामञ्जस्य-पूर्ण रचनाओं का नाम कालान्तर में हिन्दुस्तानी पड़ गया। इस प्रकार साहित्य में हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का संघर्ष जटिल रूप धारण करता रहा। अँग्रेज़ी-राज्य की स्थापना हो जाने के पश्चात् हम प्रथम बार पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आये। हमने अपने गद्य-साहित्य की दुरावस्था और अन्य साहित्यों के गद्य की श्रेष्ठता का अनुभव किया। शनैः शनैः समय और परिस्थितियों से उत्पन्न नवीन भावों और विचारों ने हमारे गद्य में प्रवेश किया। हमारे लेखकों ने दुनिया की गतिविधियों को देखा और समझा। उनमें से कुछ लेखकों ने पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण किया, कुछ ने हमारी प्राचीन सभ्यता को अपनाने में ही अपने कर्त्तव्य की

इतिश्री समझी, पर वे इन दोनों का सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सके। भारतेंदु-युग का गद्य इसीलिए न तो पुराना है और न नया। वह इन दोनों के बीच की कोई और ही चीज़ है। फिर साहित्य में स्वच्छंदतावाद की लहर दौड़ आई। नये-पुराने प्रायः सभी कलाकार उसमें बह चले। नवीन आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य में आलोचना, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि का जन्म और विकास हुआ। प्रसाद-युग में हमारा गद्य उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। यही उसका 'स्वर्ण-युग' कहा जा सकता है। अँग्रेज़ी राज्य के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता ने धीरे-धीरे दासता के संकटों और आपत्तियों का अनुभव किया। उसने इस दृष्टि से अपने आपको संसार में सबसे पीछे पाया। महायुद्ध के बाद अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क से उसकी स्वातंत्र्य-भावना को उत्तेजना मिली और वह इसके लिए लड़-मरने को कटिबद्ध हो गई। फिर गाँधी, जवाहर, पटेल सरीखे रत्न मिल गये। काँग्रेस ने अहिंसा और सत्य के बल पर आन्दोलन करने आरम्भ किये। उन्हें असफलताएँ भी मिलीं, यातनाएँ भी सहनी पड़ीं—लेकिन स्वतन्त्रता की रट इनमें से किसी ने नहीं छोड़ी। धीरे-धीरे काँग्रेस सम्पूर्ण भारत की संस्था बन गई। अँग्रेज़ों के नीचे रहकर भारतीय जनता ने आर्थिक संकट भी खूब देखे। इन सब बातों का हमारे गद्य पर यथेष्ठ प्रभाव पड़ा। वर्तमान युग में लेखकों ने राजनीतिक समस्याओं को बड़ी तेज़ी से साहित्य में लाना आरम्भ किया। स्वतंत्रता की भावना से प्रेरित होकर ही साहित्यकारों और हिन्दी-प्रेमी-जनता ने हिन्दी के नारे लगाये—उसकी रक्षा करना अपने जीवन का ध्येय समझा। लेखक, कवि, मज़दूर, किसान, धनिक आदि सभी लोग गाँधी बाबा के जुलूस में सम्मिलित हो गये। उन्हें वहाँ शांति मिली, सुख मिला, वर्तमान युग का गद्य इन समस्त हलचलों का दर्पण है।

अँग्रेज़ों ने देखा—अब वे अधिक दिनों के मेहमान नहीं, उन्हें भारत

छोड़ना ही पड़ेगा। लेकिन धन-धान्य से पूर्ण भारतवर्ष को वे इतनी आसानी से कब छोड़ सकते थे ? उन्होंने अणुबम को सत्य और अहिंसा से तोला और अन्त में निश्चय कर लिया कि वे भारत को अधिक दिनों तक अपनी दासता में नहीं रख सकते। अन्त में, भारत में रहने का कोई उपाय न देखकर उन्होंने एक दिन भारत छोड़ दिया अथवा यों कहिए कि उन्हें भारत छोड़ना पड़ा। सौभाग्य से १५ अगस्त, सन् १९४७ ई० को भारत स्वतंत्र हुआ। यह दिन हमारी तपस्या, लगन और अथक परिश्रम का शुभ परिणाम था। लेकिन दुर्भाग्य से भारत के दो टुकड़े हो गये। खून की नदियाँ बहीं। किसी तरह हिन्दू-मुसलमान अपनी-अपनी जगह पर पहुँचे। इस अभूतपूर्व घटना ने भी हमारे साहित्य को कम प्रभावित नहीं किया है।

भारत में फिर अन्य समस्याओं के साथ ही साथ राष्ट्रभाषा का प्रश्न भी मुँह खोलकर सरकार के सामने आया। सब ने दौड़-दौड़ कर दिल्ली की शरण ली। अन्त में, १५ सितम्बर, सन् १९४९ ई० के दिन राष्ट्रभाषा का पेचीदा प्रश्न भी हल हो गया। सर्वश्री पुरुषोत्तम-दास टंडन, वियोगी हरि, सेठ गोविंददास, राहुल सांकृत्यायन, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी आदि विद्वानों के अथक परिश्रम से आज हिन्दी राष्ट्र-भाषा बन गई है, यद्यपि अभी प्रारम्भिक समय में इसके आगे दो-तीन रुकावटें अवश्य रख दी गई हैं।

हिंदी-गद्य के विकास का उपसंहार नवीन हिन्दी-गद्य की प्रस्तावना है। इसे पढ़कर हिंदी के विद्यार्थी को आश्चर्य अवश्य होगा, लेकिन यथार्थ में बात ऐसी ही है। साहित्य समाज का दर्पण है। तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव उस पर पड़ता रहता है। ऊपर जिन-जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है, उनका साहित्य से गहरा सम्बन्ध है। आज भारत स्वतंत्र हो गया है तो भला साहित्य पर इसका प्रभाव पड़े बिना कैसे रह सकता है ? इस स्वतन्त्रता से, जिन लेखकों ने उपयोगितावाद के

सिद्धान्त को लेकर, दूसरे शब्दों में विविध आन्दोलनों को दृष्टि-पथ पर रख कर रचनाएँ लिखी थीं, आज उन साहित्यकारों का बहुत सा गद्य अंधकार में विलीन हो गया है। उनकी उपयोगिता जाती रही है, क्योंकि उनका उद्देश्य भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम में सहायक होना मात्र था। जिन लेखकों में कला की चिरन्तनता थी, उनका गद्य तो सर्वकालीन है। प्रसाद, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल आदि ऐसे ही लेखक हैं। लेकिन जिन्होंने कला की उपेक्षा की, उनका साहित्य मिटता जा रहा है।

इतना तो हो गया, लेकिन अब भविष्य के लिए हमारा कार्यक्रम क्या हो ? आज गद्य की धारा शिथिल पड़ गई है। मौलिक गद्य की सृष्टि सच पूछिए तो नहीं के बराबर हो रही है। केवल कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में ही अन्वेषण-कार्य की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ रही है। शेष लेखक शान्त हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् क्या लिखना चाहिए, शायद इसकी रूप-रेखा तैयार की जा रही है ? इस सम्बन्ध में हमारा एक और दुर्भाग्य यह है कि हमारे बहुत से प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हिन्दी-क्षेत्र से निकल कर राजनीतिक क्षेत्र में भाग लेने लग गये हैं। उन्हें साहित्य में कुछ नहीं मिला—राजनीति में कुछ मिल जायगा, कम से कम हमें तो संदेह है। साहित्य का क्षेत्र दिन-दिन खाली होता जा रहा है—बहुत से पुराने लेखक काल के कलेवर बन चुके हैं। तरुण साहित्यकार पुराना राग ही अलापते रहते हैं, कोई अभिनव सन्देश लेकर नहीं आते। इधर राजनीतिक नेता हमारे देश की विभिन्न कलाओं को ठोस और पर्याप्त प्रोत्साहन भी नहीं दे रहे हैं। इनमें से कुछ तो हमारे गद्य के अग्रगण्य लेखक रहे हैं। लेकिन आज वे राष्ट्रीय समस्याओं में अत्यधिक व्यस्त हो रहे हैं। यह ठीक है, लेकिन साहित्य की इतनी उपेक्षा क्यों ? उन्हें राष्ट्रीय समस्याओं के साथ-साथ हमारे साहित्य की ओर भी ध्यान देना चाहिए। ख़ैर, राष्ट्रीय प्रश्नों के समाधान के बाद

हमें पूर्ण आशा है कि वे एकबार पुनः इस ओर मुड़ेंगे अवश्य; क्योंकि ये समस्याएँ तो अस्थायी हैं। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, अवश्य ही सुलझ जायँगी। जब स्थायी समस्याओं का क्रम एकबार फिर हमारे इन कर्णधारों के सम्मुख आवेगा तो वे स्वतः ही साहित्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करेंगे, क्योंकि साहित्य सांस्कृतिक विकास का मुख्य एवं तात्विक अंग है और अंततः इसी के द्वारा हमारे राष्ट्र को शांति और समृद्धि मिलेगी। राष्ट्र की महानता का परिचायक केवल उसकी सैन्य-शक्ति या सामरिक शस्त्रास्त्र या औद्योगिक समृद्धि ही नहीं। आत्म-रक्षा और भौतिक उत्कर्ष के लिए इनकी आवश्यकता है अवश्य, लेकिन इतनी नहीं कि जिससे संस्कृति, साहित्य और कला की त्रिवेणी ही सूख जाय।

आज विगत युगों की समस्त साहित्यिक धाराएँ इस स्वतंत्रता रूपी सागर में मिल गई हैं। आज के कवि, निबन्धकार, उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार तथा प्रत्येक कलाकार का यह कर्तव्य है कि वह अपने अपने कर्तव्य का पालन करे। आज हमें नये सिरे से अपने साहित्य का सृजन करना होगा। इसीलिए तो कहा गया है कि हिंदी-गद्य के विकास का उपसंहार नवीन हिंदी-गद्य की प्रस्तावना है। आइए, आज हम महिमामई भारत माता के भारती-मंदिर में राष्ट्र के पवित्र सांस्कृतिक सिंहासन पर राष्ट्र-भाषा हिन्दी को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित कर उसकी तन, मन, धन से रक्षा करें और उत्कृष्ट कोटि की मौलिक गद्य-रचनाओं का एक नया अध्याय लिखें, जिसकी भूमिका इस पुस्तक का यह अंश हो।
